स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

कर्म संन्यास

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

कर्म संन्यास



WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

कर्म संन्यास

गृहस्थों के लिये एक आदर्श मार्ग

स्वामी सत्यसंगानन्द

मार्ग निर्देशन

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती



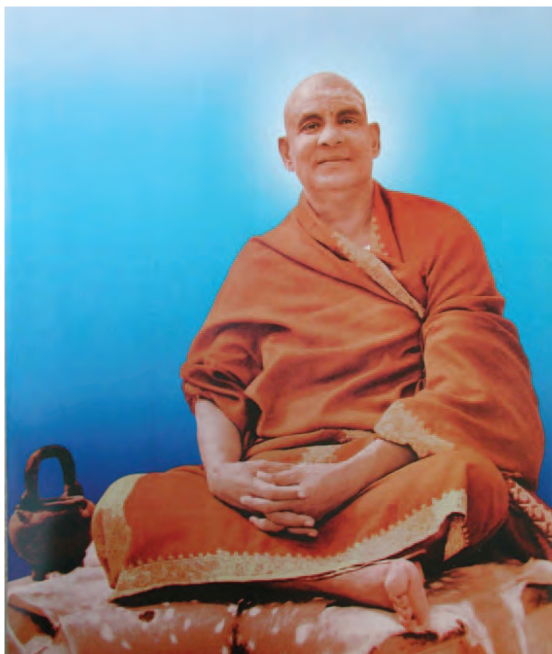
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

बिहार योग विद्यालय द्वारा प्रथम प्रकाशन 1993
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा द्वितीय संशोधित संस्करण 2012

ISBN: 978-81-85787-79-4

प्रकाशक एवं वितरक–योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक–थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,
नई दिल्ली

वेबसाइट : www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

न पति न बच्चे,
न जिम्मेदारियाँ होती हैं रुकावटें।
इसके विपरीत
वे होती हैं सहायक
यदि अपार
सच्चा प्रेम,
पर्वत-सा अटल निश्चय और
ज्ञान पिपासा हो भीतर में,
तो
दुनिया की कोई ताकत
नहीं बन सकती मार्ग का रोड़ा ।
पति, पत्नी और माँ,
पति, पत्नी और माँ रह सकते हैं
कसाई, कसाई रह सकता है
और मछुआरा, मछुआरा।
आवश्यकता नहीं है बदलने की
पद, व्यवसाय और कर्तव्य,
सर्वोपरि है अपने
कार्य को साधना का रूप देना
और जगाना
अपनी आंतरिक शक्ति को।

—स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

विषय-सूची

प्रस्तावना

नवागन्तुक ने कहा मैं आपसे कुछ बातें करने के लिये बड़ी दूर चलकर आया हूँ। वह एक रंगकर्मी कलाकार था। उसके बाल लम्बे तथा हाथ कोमल थे। यद्यपि वह धीमी आवाज में, नपे-तुले शब्दों में बोल रहा था, तथापि उसकी वाणी में एक प्रकार की बेचैनी झलकती थी। उस समय कमरे में अनेक लोग थे। वहाँ कुछ दिनों से जीवन के उद्देश्य तथा अर्थ पर वाद-विवाद चल रहा था। आज भी ये लोग उसी विषय पर चर्चा करने के उद्देश्य से एकत्र हुए थे। नवागन्तुक कलाकार ने कुछ झिझकपूर्वक बोलना प्रारम्भ किया, "मेरे जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे हैं और उन परिस्थितियों का मैंने अच्छी तरह अनुभव किया है। मुझे इससे कोई शिकवा-शिकायत भी नहीं है। परन्तु मुझे फिर भी ऐसा लगता है कि मैं कुछ चूक गया हूँ। अब मैं अपने अस्तित्व तथा दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों पर ही प्रश्न चिह्न लगाता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे जीवन में पर्याप्त लक्ष्य का अभाव रहा है। मेरे मन में संन्यास लेने का विचार भी उठा, परन्तु मेरे पीछे परिवार है जिसके भरण-पोषण का दायित्व मेरे कंधों पर है। मैं अभी पारिवारिक जिम्मेदारियों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया हूँ। परन्तु इन सब के होते हुए भी मेरे मन में अपने जीवन को एक नया लक्ष्य तथा दिशाबोध देने की प्रबल इच्छा है।

मैं आध्यात्मिक खोज की डगर पर बढ़ना चाहता हूँ। परन्तु मैं पारिवारिक दायित्वों के बोझ से दबा शादीशुदा व्यक्ति हूँ, और मुझे ऐसा लगता है कि अध्यात्म के सभी दरवाजे मेरे लिये बन्द हैं। यदि मेरे भीतर यह इच्छा पहले जगी होती, तो निश्चय मानिये मैं स्वयं को विवाह, पारिवारिक तथा सामाजिक बन्धनों में बन्धने नहीं देता। परन्तु अब तो बड़ी देर हो चुकी है। समझ में नहीं आता कि अब कहाँ से जीवन का श्रीगणेश करूँ।"

वह थोड़ा रुका, मानो उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर अपने भीतर तलाश रहा हो। उसकी आयु अधिक नहीं लगती थी तथा वेशभूषा भी सामान्य थी। स्वामीजी ने उनकी ओर देखकर कहा – "हर समस्या का समाधान सम्भव है। देखो, बच्चा पैदा होकर बड़ा होता, विवाह करता, बूढ़ा होता तथा एक दिन इस संसार से विदा हो जाता है, सर्वत्र यही तो हो रहा है। परन्तु क्या इससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है?

ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं, जो मनुष्य के जीवन का निर्धारण करते हैं। मनुष्य अपने साथ कुछ निश्चित कर्म और संस्कार लेकर पैदा होता है। जीवन यात्रा प्रारम्भ करने के पहले उसे इन्हें भोगकर नि:शेष करना होता है। परन्तु इसमें क्या तुक है कि एक ओर तो हम अपने पिछले कर्मों और संस्कारों को नि:शेष करें तथा साथ-ही-साथ अगामी जीवन को प्रभावित करने के लिये नये कर्मों तथा संस्कारों की थाती सँजोयें।

यह अत्यन्त वांछनीय है कि समझदारी तथा सावधानीपूर्वक हम इस तरह जीवनयापन करें कि हमारे अस्तित्व की गुणवत्ता निखरे। मैं तुम्हारी आयु के तथा अनेक वृद्ध लोगों को जानता हूँ, जिनके जीवन में ऐसी ही समस्यायें आयीं थी। वे भी उच्च सार्थक जीवन जीना चाहते थे, उनमें से अनेक सोचते थे कि संन्यास ले लें। परन्तु ऐसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे पारिवारिक बन्धनों तथा दायित्वों से उबर नहीं पाए थे। पारिवारिक दायित्वों से पलायन और फिर शेष जीवन अपराध बोध की पीड़ा भोगने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।"

बाहर घने बादल छाए थे। वर्षा थम चुकी थी। हवा में गीली मिट्‌टी का सोंधापन भरा था। स्वामीजी ने कहा, "यदि तुम जीवन को सही परिप्रेक्ष्य में देखो और स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल सको तो तुम देखोगे कि तुम्हारी समस्या अपने आप सुलझ जायेगी। तुम्हारी समस्या इतनी सरल है कि मुझे तो उसे समस्या कहने में भी संकोच का अनुभव होता है।"

"भौतिक जीवन के अनुभवों की तुम्हारी प्यास बहुत कुछ बुझ गई-सी लगती है। अब तुम्हारी चेतना की नये आयाम खुल रहे हैं। इन अनुभवों का सीधा सम्बन्ध तुम्हारे विकास से है। तुम चाहो तो इसे मानसिक, आध्यात्मिक अथवा चेतना का विकास कह सकते हो। इसीलिए तुम्हें बेचैनी का अनुभव हो रहा है, क्योंकि इन नये अनुभवों को तुम अपने दैनंदिन जीवन में स्थापित तथा समायोजित नहीं कर पा रहे हो।"

मैंने इस समस्या पर बड़ा मनन-चिन्तन किया है कि किस प्रकार सामान्य गृहस्थ जीवन में रहते हुए, बाह्य जगत् और आंतरिक उत्थान के बीच स्वस्थ तालमेल स्थापित किया जा सकता है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वानप्रस्थ जीवन ही अर्वाचीन मानव की इस गुत्थी को सुलझा सकता है। प्राचीनकाल में जब कोई गृहस्थ जीवन के रहस्यों को समझने की आवश्यकता का अनुभव करता, तो वह अपनी पत्नी के साथ जंगल में चला जाता तथा वानप्रस्थ जीवन अपनाकर पूरा समय मनन-चिन्तन में और आत्मोत्थान की साधना में लगाता था।

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने वानप्रस्थ की व्यवस्था मात्र इसी उद्देश्य से की थी कि जब एक बार व्यक्ति की आशा, आकांक्षा तथा वासनाएँ पूरी हो जायेंगी तब वह निश्चय ही अपने अन्तर में झाँकेगा। यदि उस समय उसे उचित सुविधायें तथा मार्गदर्शन उपलब्ध न हुआ तो वह अनेक मानसिक तथा शारीरिक समस्याओं से त्रस्त हो जायेगा और तब वह स्वयं तथा समाज, दोनों के लिये विकट समस्या बन जायेगा।

"यह सच है कि आजकल प्राचीनकाल की भाँति न तो वैसे जंगल उपलब्ध हैं और न ही उनका वातावरण ऐसा है जहाँ शांतिपूर्वक वानप्रस्थ जीवन व्यतीत किया जा सके। इसलिए मैंने वानप्रस्थ आश्रम की परम्पराओं पर आधारित कर्म संन्यास की परिकल्पना का विकास किया है। अनेक लोगों ने इसे सहर्ष अपनाया है। उनकी भी समस्या बहुत कुछ तुम्हारी समस्या से मिलती-जुलती थी। उनमें प्राय: हर आयु समूह के विवाहित और अविवाहित स्त्री-पुरूष शामिल थे। मैंने देखा कि कर्म संन्यास उनके लिये बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। वस्तुस्थिति तो यह है कि मैं जहाँ कहीं जाता हूँ, अनेक स्त्री-पुरुष, कर्म-संन्यास दीक्षा की मांग करते हैं।"

कलाकार ने, जो स्वामीजी की बातों को पूर्ण मनोयोगपूर्वक सुन रहा था, जिज्ञासा प्रकट की कि कर्म संन्यास क्या है और किस प्रकार इसमें दीक्षित हुआ जा सकता है।

स्वामीजी ने कहा, "कर्म संन्यास कर्म में अकर्म है, जिसे गीता का केन्द्रीय दर्शन कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कर्म करने में कोई नुकसान नहीं है। परन्तु उसमें संलग्नता तथा फलाकांक्षा ठीक नहीं है। बुद्धिमान् लोग कर्म करते हुए भी उसके फल की आकांक्षा नहीं रखते। कर्त्तापन का अनुभव जिस सुख अथवा दु:ख की अनुभूति प्रदान करता है वह यथार्थ

है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप किसी भी कर्म के कर्त्ता हो ही नहीं सकते, फिर व्यर्थ ही अपने कर्त्ता होने का गुमान क्यों करते हैं? इस सत्य पर गीता पर्याप्त प्रकाश डालती है।"

"यदि आप गीता की इस शिक्षा को अच्छी तरह समझें, जीवन में उतारें तो निश्चय ही धीरे-धीरे आपके अनुभवों की गुणवत्ता निखरेगी। यही कर्म संन्यास का दर्शन है। वह कहता है जीवन को पूर्णरूपेण जीओ, उसके समस्त क्रियाकलापों में सक्रिय हिस्सा लो। परन्तु अपने अन्दर वैराग्य की भावना, अकर्त्तापन, कर्मफल का परित्याग जैसे गुणों का उत्तरोत्तर विकास करो। निठल्लेपन से कुछ हाथ नहीं आयेगा। जो काम करना है, उसे करना ही पड़ेगा। उससे भागना कैसे? जब आप अपने निर्धारित कार्यों को करते हुए स्वयं को कर्त्ता नहीं मानेंगे, तभी और केवल तभी आपमें सच्चा अकर्त्तापन भाव जाग्रत हो सकता है। इसके विपरीत आप सब काम छोड़कर निष्क्रिय बैठ जायें तथा स्वयं को अकर्त्ता मानने लगें तो वह भी एक प्रकार का कर्त्ता बोध ही होगा।"

"यह बड़ा ही क्लिष्ट दर्शन है। इसलिये इसके यथार्थ को अच्छी तरह समझना जरूरी है। मैंने थोड़ी देर पहले तुमसे जिस परिवर्तन की बात कही, वह आंतरिक परिवर्तन है, क्योंकि बाह्य जीवन तो यथावत् चलता ही रहता है। तुम पूर्वानुसार परिवार के साथ रहते, दैनिक कामकाज करते, छुट्टियाँ मनाते तथा सिनेमा आदि देखते हो। बाहर से आप वही सामान्य व्यक्ति लगते हो जैसे कर्म संन्यास के पूर्व थे। परन्तु अपने आपको भी पूरी तरह बदलना होगा। यह सच है कि इतना बड़ा परिवर्तन रातों-रात नहीं हो सकता। यह प्रक्रिया बड़ी धीमी होती है। परन्तु एक बार यदि इसकी आवश्यकता तथा महत्त्व को हृदयंगम कर लें, तो अपनी समस्या का समाधान अनायास पा जायेंगे।"

कलाकार शान्त रहा तथा स्वामीजी की बातों पर विचार करता रहा। उसी समय एक महिला आई। उसने अनेक सत्संगों में भाग लिया था तथा जीवन में एक नई राह खोज रही थी। उसने स्वामीजी से कर्म संन्यास दीक्षा की आवश्यकता तथा महत्त्व के बारे में जिज्ञासा व्यक्त की। उसने कहा कि जब हमारा गृहस्थ जीवन यथावत् चलता है, रिश्तेदारों से सम्बन्ध तथा व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो क्या यह सम्भव नहीं कि कर्म संन्यास ग्रहण किये बिना भी यह आंतरिक परिवर्तन हो सकता है।

स्वामीजी थोड़ी देर मौन खिड़की से बाहर देखते रहे। वर्षा प्रारम्भ हो चुकी थी। उन्होंने कहा, "मैं इसी बिन्दु पर बोलने जा रहा था। कोई भी व्यक्ति जिसका जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण होता है, कर्म संन्यासी होता है, भले ही उसने कर्म संन्यास दीक्षा ग्रहण की हो अथवा नहीं, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु ऐसे लोग हैं कितने जो दावे के साथ यह कह सकें कि मैं जो भी कर्म करता हूँ उससे निर्लिप्त रहता हूँ। उसके फल में उनकी जरा भी आसक्ति नहीं होती। मनुष्य अपने स्वभाव द्वारा सीमित होता है। वह अपनी सीमाओं को लांघने की कोशिश तो करता है, परन्तु बहुधा विफल रहता है। व्यवधान, अशान्ति तथा ढुलमुल इच्छाशक्ति उसे दिग्भ्रमित करती है। अत: ऐसे लोगों को मार्गदर्शन के लिये गुरु की आवश्यकता पड़ती है। गुरु दीक्षा द्वारा उसे जीवन में दिशा-निर्देश प्रदान करते हैं।"

"दीक्षा मात्र कर्मकाण्ड नहीं होती। उसके माध्यम से गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति का एक अंश शिष्य में सम्प्रेषित करते हैं, उसे प्रेरित करते हैं। शिष्य एकाग्रतापूर्वक समर्पित साधना के लिये गुरु से शक्ति प्राप्त करता है। गुरुदेव समय-समय पर शिष्य की प्रगति का आकलन करते, उसे कठिनाइयों से बाहर आने का मार्ग बताते तथा साधना के लिये प्रोत्साहित करते हैं।"

"पूर्ण संन्यास की अपेक्षा कर्म संन्यास का निर्वाह कहीं अधिक कठिन माना जाता है। कभी-कभी तो शिष्य के लिये सांसारिक तथा आंतरिक तालमेल स्थापित करना बहुत कठिन होता है। कभी तो ऐसा भी होता है कि वह अपने आंतरिक जीवन तथा आदर्शों को इतना महत्त्व देने लगता है कि अपने गृहस्थ जीवन तथा पारिवारिक उत्तरदायित्वों के प्रति उदासीनता बरतने लगता है। इसके विपरीत कभी-कभी वह माया में लिप्त होकर भोग की दुनिया में इस कदर आकंठ डूब जाता है कि साधना तथा उच्च आदर्शों के पालन से विमुख हो जाता है। इन दोनों परिस्थितियों के बीच स्वस्थ सन्तुलन खोजना पड़ता है।"

"एक ओर वह एक पिता, पति, कर्मचारी तथा समाज का घटक है, तो दूसरी ओर एक साधक,सत्यान्वेषक तथा आत्मसाक्षात्कार की मंजिल का पथिक है। उसकी उपर्युक्त दोनों भूमिकायें एक-दूसरे की पूरक तथा सहायक होती हैं। इसलिए उसके जागतिक कार्य तथा आध्यात्मिक जीवन एक-दूसरे को आगे बढ़ाने वाले होने चाहिये। यदि उसके इन दोनों पक्षों में तालमेल होगा, तो ही उसे जीवन में पूर्णता तथा कृतकृत्यता का अनुभव हो

सकेगा। इसीलिये कर्म संन्यासी के लिये गुरु एवं दीक्षा की आवश्यकता होती है, क्योंकि गुरु का मार्गदर्शन ही आभ्यांतरिक जीवन में सामंजस्य ला सकेगा।"

कलाकार ने थोड़ी झिझक के साथ स्वामीजी की ओर देखा और फिर कहा, "आपने जो कुछ कहा है, उससे मुझे बड़ी सांत्वना मिली है। इससे मुझे प्रोत्साहन तथा नई दृष्टि मिली है। अब मुझे लगता है कि मेरे लिये भी एक रास्ता खुला है, हालाँकि मैं रोजमर्रा के सांसारिक जीवन में बुरी तरह लिप्त हूँ। अब यह बताने की कृपा कीजिये कर्म संन्यासी बनने के लिये क्या करना होगा।"

स्वामीजी ने कहा–"गुरु की शरण में जाओ जो तुम्हें दीक्षा तथा उस जीवन को नई दृष्टिकोण से देखने की समझ प्रदान करेंगे, जिस पर तुम कदम रखना चाहते हो। वह तुम्हें एक साधना शैली बतायेंगे। यह साधना समय आने पर तुम्हें शक्ति, मानसिक स्पष्टता, सही निर्णय लेने की क्षमता आदि प्रदान करेंगी, जिनकी तुम्हें जीवन में आवश्यकता पड़ेगी।"

"यदि तुम अपने लिये एक आध्यात्मिक नाम की इच्छा करोगे, तो गुरु तुम्हें वह भी प्रदान करेंगे। साधक के लिये आध्यात्मिक नाम का बड़ा महत्त्व होता है, क्योंकि वह उसकी आंतरिक प्रकृति का परिचायक होता है। गुरु को शिष्य के गहन आंतरिक स्वरूप का ज्ञान रहता है। वह उसके कर्म, भूत, भविष्य तथा वर्तमान से भली-भाँति परिचित होते हैं। इन सभी बातों को देखते हुए गुरु उसको उपयुक्त आध्यात्मिक नाम प्रदान करते हैं। यह नाम हमेशा शिष्य को जीवन के पवित्र लक्ष्य की याद दिलाता है। बाकी तो शिष्य पूर्ववत् जीवनयापन करता है। परिवार तथा समाज के साथ उसके सम्बन्ध यथावत् बने रहते हैं।"

मधुर मुस्कान से कलाकार का चेहरा आलोकित हो उठा। उसने कहा–"मैं तो यही सोचता था कि कर्म संन्यास के बाद जीवन में बड़ा परिवर्तन तथा उतार-चढ़ाव आते होंगे। परन्तु इस विषय पर आपसे बातें कर बड़ा संतोष हुआ। फिर भी मेरे मन में एक अन्तिम शंका बनी हुई है और मैं चाहता हूँ कि आप उसका भी समाधान करने की कृपा करें। कर्म संन्यासी के जीवन में ब्रह्मचर्य की क्या भूमिका होती है? क्या उसका पालन अनिवार्य है?"

कुछ क्षणों के लिये स्वामीजी ने आँखें बन्द कर लीं। फिर कलाकार की ओर देखकर बोले, "वैदिक परम्परा के अनुसार पति-पत्नी के बीच के

सम्बन्ध धर्म और कर्त्तव्य का अंग माने जाते हैं। पति तथा पत्नी, दोनों इस बन्धन से बँधे रहते हैं। जिस प्रकार माता-पिता से आप अनिवार्य रूप से बँधे होते हैं, ठीक उसी प्रकार आप अपनी पत्नी के प्रति कुछ कर्त्तव्यों से बँधे रहते हैं। इन कर्त्तव्यों की अवहेलना धर्म के विपरीत आचरण कहा जाता है। वैवाहिक यौन-सम्बन्ध पाप नहीं है, बल्कि आंतरिक उत्थान की दिशा में बढ़ने की प्रथम सीढ़ी है।"

"परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्मचर्य का अपना कोई महत्त्व नहीं होता, किन्तु वह आरोपित न हो। वह सहज तथा कुंठारहित हो तो बड़ा लाभदायक होता है। यदि आपको अनुभव हो कि संकल्पित ब्रह्मचर्य साधने में कुछ कठिनाई अनुभव हो रही है, तो बेहतर होगा कि आप तंत्र सम्मत यौन जीवन को पुनः अपना लें। तृप्तिदायक सफल यौन व्यवहार की तकनीक अनुभवी गुरु से सीखी जा सकती है। पति-पत्नी, दोनों को इसके अभ्यास द्वारा अपनी स्थूल चेतना को उच्च स्तर तक उठाने का प्रयास करना चाहिये।"

कर्म संन्यास का दर्शन सहज तथा बोधगम्य है। अपने गृहस्थ जीवन का उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये उपयोग कीजिये। जीवन को खाने-पीने, मौज-मस्ती तथा सन्तानोत्पत्ति में खपा-पचा देना बुद्धिमानी का कार्य नहीं है। कुछ समय तक कर्म संन्यास के आदर्शों पर चलने के बाद आपके तथा आपके परिवार के लिये सुन्दर संस्कार उत्पन्न होंगे। यह आगामी उच्च आध्यात्मिक जीवन का मार्ग प्रशस्त करेंगे, क्योंकि अच्छे-बुरे सभी संस्कार जीव के साथ अनेक जन्मों तक चलते हैं। इसलिये हमें अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है कि हम अधिक-से-अधिक अच्छे संस्कार ही संगृहीत करें।"

कलाकार थोड़ी देर सोचता रहा, फिर बोला– "बच्चों के कारण पत्नी यहाँ नहीं आ सकी, परन्तु सम्भव है वह भी मेरे साथ कर्म संन्यास दीक्षा ग्रहण करना चाहे।"

स्वामीजी कुर्सी से उठ खड़े हुए, मानो कमरे से बाहर जाना चाहते हों। फिर उन्होंने कहा– "इससे बढ़कर आश्चर्य और आनन्द की बात और क्या हो सकती है कि पति-पत्नी दोनों उच्च आध्यात्मिक जीवन की राह पर एक साथ कदम से कदम मिलाकर बढ़ना चाहते हों।"

प्रथम भाग

एक प्राचीन परम्परा

भारतीय व्यक्ति हमेशा मोक्ष अथवा इन्द्रियों के परे छलांग लगाने की आकांक्षा रखता है। इस परिप्रेक्ष्य में जीवन की हर वस्तु एक साधन मानी जाती है। यहाँ तक कि धर्म को भी एक साधन माना गया है और अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये इसका भी अतिक्रमण किया जाता है।

यह सिद्धान्त विज्ञान के निष्कर्षों से मिलता-जुलता है। विज्ञान पदार्थ के बारे में जिन रहस्यात्मक तथ्यों को उद्घाटित करता है, वे मानव की सामान्य इन्द्रियों की पहुँच तथा समझ के परे होते हैं। फिर भी हम उनकी सत्यता को मानने के लिये बाध्य होते हैं; क्योंकि उन्होंने मानव मन को व्यक्तिगत धारणाओं और निर्णयों की जकड़ से मुक्त किया है।

आत्मा की बन्धनहीनता अथवा मोक्ष, जिसके लिये योगीजन लालायित रहते हैं, इससे मिलती-जुलती है। वह मानवीय सीमाओं से परे होती है। आत्मा सर्वांश सत्य तथा पवित्र सर्वोच्च चेतना होती है, जहाँ सभी प्रकार के द्वैत थम जाते हैं। वहाँ भला-बुरा, सुन्दर अथवा असुन्दर कोई अर्थ नहीं रखते। महान् योगियों (जिन्हें मन और चेतना का वैज्ञानिक कहा जा सकता है) ने यह निश्चयपूर्वक कहा है कि मनुष्य के जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है, जिसमें व्यक्तिगत अहं का कोई स्थान नहीं होता; जहाँ कर्त्ता और कर्म, सर्वोच्च एकता तथा आनन्द के सागर में विलीन हो जाते हैं।

आज हम अहं के सीमित दायरे में हैं। हमारी इच्छायें और वासनायें होती हैं, जिन्हें पूरा करते समय हम कभी-कभी ऐसा अनुभव करते हैं कि हम अपनी चेतना को विस्तृत करें, अपने जीवन में गुणात्मक सुधार लायें। ऐसा केवल तभी सम्भव है जब हम अपने व्यक्तिगत अहं को निःशेष कर सकें। हम ऐसा तभी कर सकते हैं जब दूसरों को अपने जैसा माने, उनके अस्तित्व

की अपने अस्तित्व से एकरूपता माने। तब हम विश्व के साथ अपनी एकता तथा समस्वरता का अनुभव कर सकेंगे। धर्म का यही अन्तिम लक्ष्य होता है। जिस प्रकार विज्ञान व्यष्टि ज्ञान को मुक्त कर समष्टि में मिलाता है, उसी प्रकार धर्म भी व्यक्तिगत चेतना को मुक्त कर उसे व्यापक चेतना में विलीन करता है।

योगियों का हमेशा यह दावा रहा है कि सामान्य चेतना से ऊपर उच्च चेतना की एक अवस्था होती है, जो निरपेक्ष कही जाती है। वह नैतिक, धार्मिक सीमाओं से ऊपर होती हैं। उन्होंने इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये एक व्यवस्थित साधना पद्धति विकसित की थी, जिससे जीवन के विभिन्न स्तरों पर कार्य करते हुए साधक अपनी चेतना को विकसित करते हुए पूर्णता की मंजिल तक पहुँच सके।

यद्यपि मानव असीमित इच्छाओं, अभिलाषाओं, वासनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं का अनुभव करता है, तथापि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि एकमात्र आत्मा ही वह वस्तु है, जिसे प्राप्त करना मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है। हम मनुष्य को केवल एक नागरिक, पिता, कर्मचारी अथवा समाज का घटक नहीं मान सकते, बल्कि हमें उसे आत्मा मानना चाहिए, जो उसकी समस्त भूमिकाओं के पीछे कार्यरत होती है।

इसीलिए भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था, ताकि जन्म से मृत्युपर्यन्त उसका व्यवस्थित ढंग से आध्यात्मिक उत्थान हो सके। जिस प्रकार दिन को प्रात:काल, मध्याह्न, संध्या एवं रात्रि में विभक्त किया गया है, उसी प्रकार जीवनावधि को भी चार भागों में विभक्त किया गया है। यह विभाजन जीवन के हर स्तर की आवश्यकता के अनुकूल है।

इन्हें आश्रम कहा गया है। आश्रम का तात्पर्य श्रम करने से है। इसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक श्रम द्वारा चेतना को पूर्णता के आयाम तक उठाया जाता है। यही वह उद्देश्य है जिसके लिये मनुष्य जन्म लेता है। इसे कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए। इसी कारण चेतना के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए आश्रम व्यवस्था विकसित हुई थी।

जीवन के प्रथम पचीस वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम के लिये निर्धारित थे। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य ब्रह्म अथवा उच्च चेतना में स्थित होना है। इस काल में व्यक्ति स्वयं को ज्ञान की साधना में लगाता था, जो भावी जीवन के लिए

आवश्यक होती है। आठ वर्ष की अवस्था में बच्चे को गुरुकुल में दाखिल करा दिया जाता था। वह गुरु के परिवार का सदस्य बन जाता था। वहाँ उसे बौद्धिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार का ज्ञान प्रदान किया जाता था। वह संस्कृत, आध्यात्मिक विषय, भूगोल, गणित, इतिहास, धनुर्विद्या और युद्धकला सीखता था।

इस अवधि में विद्यार्थी ज्ञान की साधना तथा गुरु सेवा के प्रति पूरी तरह समर्पित रहता था। गुरु अपने ज्ञान अनुभव और दूरदृष्टि के द्वारा शिष्य के भावी जीवन की नींव रखते थे, जिससे आगे चलकर शिष्य आनन्द और त्याग, दोनों को एक साथ प्राप्त करने में सक्षम होता था। उसे गुरु यह सिखाते थे कि जीवन एक लंबी यात्रा है और मोक्ष उसका अन्तिम पड़ाव है। इस शिक्षा तथा अनुशासन का परिणाम यह होता था कि शिष्य कभी लक्ष्यच्युत नहीं होता था।

यदि एक बार शिष्य इन बातों को अच्छी तरह आत्मसात् कर ले, तो जीवन में कैसी भी स्थिति क्यों न आये, वह उससे उबर सकता है। यदि प्रारम्भ से ही मन कुछ निश्चित अनुशासन में रहे तो यह कतई सम्भव नहीं कि वह हमारी आज्ञा न माने। जिस प्रकार यदि अग्नि में तेल डाला जाये तो वह और भी उग्र रूप धारण करती है, उसी प्रकार यदि मन की लगाम को ढील दी जाये तो वह उपद्रव कर सकता है। इसीलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि मन को प्रारम्भ से ही संयम में रखा जाये।

ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति के बाद शिष्य गुरु की आज्ञा तथा आशीर्वाद लेकर लौटता और गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था। जीवन के आगामी पच्चीस वर्ष गृहस्थाश्रम के अंतर्गत आते थे। इस दरम्यान वह विवाह कर सन्तानोत्पत्ति करता, धन कमाता, अपनी इच्छाओं, वासनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करता था। यहाँ वह अपने कर्मों को नि:शेष कर तृतीय आश्रम में प्रविष्ट होने का मार्ग भी प्रशस्त करता था।

पचास वर्ष की अवस्था पूरी होने पर उसकी गृहस्थाश्रम की जिम्मेदारियाँ लगभग पूरी हो जाती थीं तथा वह स्वयं को वानप्रस्थ आश्रम में स्थित करने के लिये तैयार पाता था। वानप्रस्थ का तात्पर्य 'जंगल में रहने वाले' से है। इस चरण में पति-पत्नी दोनों अपनी सांसारिक तथा भौतिक जिम्मेदारियों से निपटकर जंगल के एकान्त में एक प्रकार का अवकाश प्राप्त जीवन बिताते थे। यहाँ वे अपने आंतरिक उत्थान की साधना में जुट जाते थे।

धीरे-धीरे उनकी चेतना विकसित होती और वे स्वयं को चतुर्थ और अन्तिम, संन्यास आश्रम में प्रवेश के लिये तैयार करते थे। संन्यास का तात्पर्य संपूर्ण समर्पण है। इस आश्रम में आध्यात्मिक उत्थान तथा उच्च अनुभवों की प्राप्ति के प्रति उनका जीवन समर्पित होता था। यह जीवन त्यागमय होता था। यहाँ व्यक्ति इस बात के लिये सतत् प्रयासरत रहता था कि उसकी आत्मा तथा चेतना इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त हो सके।

उपर्युक्त चारों आश्रम व्यक्ति के व्यवस्थित विकास की क्रमोन्नति के चरण थे। यहाँ वह अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति प्रदान कर अंत में अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त करता था। यह सच है कि माया का जाल मनुष्य को बुरी तरह जकड़ता है। अनेक लोग मृगतृष्णा में इस तरह लिप्त रहते हैं कि वे जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को उच्च लक्ष्य की ओर पहुँचने के लिये 'आधारशिला' न मानने की भयानक भूल करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि मजा-मौज, इन्द्रिय-सुख, धन-दौलत का आनन्द अपने कर्मों को अभिव्यक्त करने के लिये होना चाहिए। यदि ऐसा होता है, तो उसे भौतिक इच्छाओं का अतिक्रमण कर शाश्वत उच्च आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए, परन्तु अधिकतर लोगों के साथ ऐसा नहीं होता, क्योंकि वे लक्ष्य भ्रष्ट होकर इस माया-जाल में इस तरह लिप्त हो जाते हैं कि आगामी जीवन को प्रभावित करने वाले कर्मों का बोझ तैयार कर लेते हैं। इस प्रकार वे जन्म-मरण के अन्तहीन चक्र में फँसे रहते हैं।

यही कारण है कि इस अनन्त चक्र से छुटकारा पाने के लिये हमारे प्राचीन शास्त्र सलाह देते हैं कि जीवन के बहुआयामी आनन्द का उपभोग करते हुए भी व्यक्ति को अपने अन्दर अनासक्ति की भावना प्रबल रखनी चाहिए। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि इस आनन्दोपभोग का अन्तिम उद्देश्य इनके पार छलांग लगाना है।

यह समकालीन मनीषियों का उत्तरदायित्व है कि वे मनुष्य की तत्कालीन आवश्यकताओं तथा भावी पीढ़ियों की जरूरत को ध्यान में रखते हुए पुराणों तथा उपनिषदों की शिक्षाओं का विवेचन करें। स्वामी सत्यानन्द ने, जो वर्तमान युग के महान् एवं अग्रणी अधिकारी व्यक्ति हैं, इस प्राचीन परम्परा को कर्म संन्यास का आधार बनाया है।

वर्तमान काल में यह कतई सम्भव नहीं है कि मनुष्य प्राचीन आश्रम प्रणाली से आत्मोत्थान कर सके, क्योंकि धार्मिक संस्थाओं तथा परम्पराओं

के विघटन के कारण उसे समुचित मार्गदर्शन मिलना सम्भव नहीं है। उसके लिये वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना सम्भव नहीं है, क्योंकि पचास वर्ष की अवस्था पार करने के बाद भी उसके संस्कार क्षय और विकास की प्रक्रिया चलती रहती है। उसमें अपेक्षित अनुशासन और दृढ़ता की कमी रहती है, क्योंकि अभी तक वह आनन्दोपभोग के लिये ही जीता आया है। जीवन की सही दिशा और लक्ष्य उसकी आँखों से ओझल रहते हैं। इसलिये वानप्रस्थ आश्रम को इस तरह ढाला गया है कि आधुनिक मानव उसमें रहते हुए भी अपनी चेतना को उच्चतर आयाम प्रदान कर सके। उसका कुरुक्षेत्र उसका अपना जीवन है। जब वह जीवन की कसौटियों पर खरा उतरता है, उसके वास्तविक उद्‌देश्य को समझता है, केवल तभी वह महान् उद्‌देश्यों का अनुभव कर सकता है।

कर्म संन्यासी को गृहस्थी से अवकाश लेने की जरूरत नहीं होती। वह सामान्य जीवन के कार्यकलापों में पूर्ववत् भागीदार रहता है। जीवन के प्रेरक कर्म और संस्कारों को समझने और पूरा करने के पूर्व उनसे पलायन बेतुकापन है। यदि वह जंगल में चला जाये, निर्जन एकान्त में रहने लगे तो भी कर्म और संस्कार उसका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। वे उसे परेशान करते रहेंगे और जब वह पराजित होगा, तो वे उसे पुनः कोलाहल भरे जीवन में खींच लायेंगे।

कर्म संन्यास जीवन का एकमात्र ऐसा मार्ग है, जो जीवन और संसार में स्थिर रहते हुए अपने कर्म और संस्कारों को निःशेष कर नये कर्म तथा संस्कारों के निर्माण की प्रक्रिया को रोकता है। साथ-ही-साथ यह उसके अन्दर सहजात उच्च चेतना और क्षमताओं के विकास तथा उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने की एकमात्र सक्षम युक्ति है।

कर्म संन्यास–क्यों?

मानव के जन्म के साथ ही उसके भौतिक शरीर का विकास पूर्ण हो जाता है। इसी कारण मानव जीवन का उद्देश्य मात्र भौतिक शरीर का विकास नहीं, अपितु उसके मन और चेतना का विकास होता है। मन के विकास की प्रक्रिया जटिल होती है। जैसे-जैसे विकास के चरण आगे बढ़ते हैं, मन में सन्निहित चेतना के उच्च आयाम अभिव्यक्त होने लगते हैं और व्यक्ति अधिकाधिक आध्यात्मिक होता जाता है।

आध्यात्मिकता बाहर से ओढ़ी जाने वाली अथवा दिखाने वाली कोई स्थूल वस्तु नहीं होती। यह हमारे मन और चेतना के विकास का परिणाम होती है। जीवन में हर क्षण मन और चेतना विकसित होते रहते हैं। जैसे-जैसे चेतना उच्चतर विकास के पथ पर बढ़ती है, हम अपने अस्तित्व के गहन अर्थ और उद्देश्य की खोज में संलग्न होते हैं। इस उच्च चेतना का सम्बन्ध आत्मा की अभिव्यक्ति से होता है।

पशु योनियों में जन्म का उद्देश्य मात्र शारीरिक विकास तथा शक्ति संचय होता है। इसीलिए पशु योनियों में आत्मरक्षा, खाना-पीना, सोना तथा वंशवृद्धि की सहजात प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। ऐसा कभी सुनने में नहीं आता कि कोई कुत्ता, गाय अथवा बकरी बड़ी आध्यात्मिक थी अथवा सत्संग में जाती थी। परन्तु मानव जीवन में उपर्युक्त प्रवृत्तियों के साथ-साथ कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो उसे पशु-जगत् से अलग करती है। ये विशेषताएँ उसका मन, चेतना, बुद्धि और आत्मा होती हैं। मनुष्य योनि का यह विशिष्ट आयाम ही उसे आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर प्रेरित करता है।

हर मानव मन में इच्छा, आकांक्षा, महत्त्वाकांक्षा, घृणा, भय, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ इत्यादि निम्न वासनायें पाई जाती हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त उसमें

कुछ उच्च विशेषतायें भी होती हैं, जो व्यक्ति के अपने विकास के अनुरूप अनुपात में होती हैं। इनका सम्बन्ध उसके सर्वोच्च मन के साथ रहता है। इनमें विवेक, वैराग्य, निःस्वार्थ भाव, एकाग्रता, सहजबोध आदि प्रमुख माने जाते हैं। जैसे-जैसे हमारी चेतना विकसित होती है, इनकी अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढंग से होती है। हमारा आध्यात्मिक विकास चेतनात्मक विकास के साथ कदम-कदम आगे बढ़ता जाता है।

जब आप एक बड़ी सीमा तक निम्न वासनाओं तथा भावनाओं का अतिक्रमण कर लेते हैं, तब आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है तथा मस्तिष्क के उच्च क्षेत्र प्रस्फुटित होने लगते हैं। आध्यात्मिकता तथा मानसिक विलक्षणतायें हर व्यक्ति में सन्निहित होती हैं। परन्तु या तो अज्ञानवश या उपेक्षा के कारण ये निष्क्रिय रहती हैं। यह सच है कि जब तक ये विशेषतायें हमारे व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग नहीं बन जातीं, हम पशु स्तर से बेहतर नहीं हो सकते। जब इन उच्च आयामों की अभिव्यक्ति होने लगती है तभी हम कह सकते हैं कि हमारा मानवीय चेतनात्मक विकास प्रारम्भ हो गया है।

यदि आप इस स्तर तक पहुँच गये हैं तथा यह अनुभव करते हैं कि इन क्षमताओं को उनके पूर्णता के बिन्दु तक विकसित किया जाये, तो इसके लिये यह आवश्यक है कि आपको उचित मार्गदर्शन मिले। आपको यह मालूम होना चाहिए कि यह मार्गदर्शन आपको कहाँ और किससे सुलभ हो सकता है, अन्यथा आपके भटकने, भ्रमित अथवा असंतुलित होने की पूरी संभावना रहती है। जैसे-जैसे आपके उच्च मानसिक आयाम प्रस्फुटित होते हैं, आपके कर्म, वासनायें, महत्त्वाकांक्षायें आदि भी अभिव्यक्ति पाते हैं। आध्यात्मिकता और विलक्षण मानसिक क्षमतायें आपके व्यक्तित्व का अनिवार्य घटक होती हैं, आपको इनकी पूर्ति करनी ही पड़ेगी।

अतः व्यक्तित्व के आंतरिक एवं बाह्य पक्षों का सन्तुलित विकास होना बड़ा आवश्यक है। आप एक की कीमत पर दूसरे की अनदेखी नहीं कर सकते। इन दोनों के बीच स्वस्थ सामंजस्य तथा समस्वरता स्थापित करने की आवश्यकता है। इसलिए ऐसे लोगों के लिये कर्म संन्यास की व्यवस्था की गयी है जिनमें उच्च चेतना तो जाग्रत हो चुकी है, परन्तु किसी कारणवश उनकी गृहस्थाश्रम सम्बन्धी जिम्मेदारियाँ पूरी नहीं हो सकी हैं। कर्म संन्यास आपको अपने व्यक्तित्व के दोनों आयामों की अनुभूति प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है।

आपने बहुधा विद्वज्जनों को यह उपदेश देते सुना है कि नेक बनो, दयालु बनो, सबका भला करो, आदि। आप यह सब बनना चाहते हुए भी नहीं बन पाते, क्योंकि उपदेश तो हर कोई दे सकता है, मार्गदर्शन नहीं मिलता। ये सद्‌गुण तो आपके भीतर सहजात हैं। जैसे-जैसे व्यक्तित्व विकसित होता है, ये अपने आप प्रकट होते हैं। इसके विपरीत अध्यारोपित नियमानुसार अपने व्यक्तित्व के निषेधात्मक पक्ष को बलात् दबाकर इन्हें ओढ़ लेना कतई उचित नहीं होगा। अपने विवेक, बुद्धि तथा निर्णय की क्षमता के परिणामस्वरूप आप नेक तथा दयालु बने, न कि दंड अथवा सामाजिक तिरस्कार के भय से।

मानसिक विकास तथा आध्यात्मिकता के प्रकटीकरण द्वारा ही आप सही अर्थों में नेक बन सकते हैं। यह विकास आपके व्यक्तित्व तथा जीवन का अभिन्न अंग हो तथा आपके प्रत्येक कार्यकलाप में झलके। ऐसा न हो कि जब आप जप, ध्यान अथवा प्रार्थना के लिये बैठें तो किसी अज्ञात भय के कारण मात्र कुछ समय के लिये ऐसा लगे कि आप सचमुच विकास की ऊँचाइयों पर पहुँच गये हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह होगी कि आप यह सोचकर भयभीत रहेंगे कि यदि आपने ईश्वर को प्रसन्न न किया, उसके साथ समझौता नहीं किया, तो आप विपत्ति में पड़ जायेंगे। इसलिये स्तुति, चापलूसी, क्षमायाचना अथवा गिड़गिड़ाकर उसे अपने पक्ष में कर लें, अन्यथा मरणोपरांत जीवन घोर विपदापूर्ण होगा।

उपर्युक्त समूचा दर्शन त्रुटिपूर्ण है। प्रार्थना अवश्य कीजिये, परन्तु वह आपके उच्च अस्तित्व का अंग होना चाहिये। ध्यान अवश्य कीजिये, परन्तु वह आपके तथा समग्र सृष्टि के बीच एकता और अटूट प्रेम की अभिव्यक्ति हो। केवल तभी आपकी प्रार्थना और ध्यान वास्तविक होंगे, अन्यथा नहीं। परन्तु ऐसा नहीं होता। आपका जीवन खण्डों में विभक्त रहता है। आप जीवन को सहज रूप में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवाहित नहीं होने देते। अपने लिये अनेक बाधायें तथा वर्जनायें निर्मित कर लेते हैं। जीवन में आप धर्म और आध्यात्मिकता को पृथक् दृष्टिकोण से देखने लगते हैं, जबकि होना यह चाहिये कि जो उच्च जीवन आप बिता रहे हैं उसके परिणामस्वरूप धर्म और आध्यात्मिकता एक साथ पुष्पित हों।

इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर कर्म संन्यास का विधान किया गया है कि संसार में सक्रिय रूप से जीवनयापन करते हुए आप अपनी उच्च मानसिक

क्षमताओं को विस्तृत एवं अभिव्यक्त कर सकें। आध्यात्मिकता जीवन में ही सीखने और प्रकट करने की वस्तु है, उसे आप पृथक् नहीं कर सकते। तभी जीवन के गुप्त रहस्य प्रकट होते हैं, अन्यथा उनका स्वरूप ऐसा होता है कि व्यक्ति के रोंगटे खड़े हो जायें।

श्रीमद्भगवद्गीता का विश्व वाङ्मय में सर्वोच्च स्थान है। इसमें गीता के नायक श्रीकृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को उच्च चेतना के पक्ष की जानकारी प्रदान करते हैं। दृश्य कुरुक्षेत्र के समरांगण का है। दोनों पक्षों के अनगिनत योद्धा, एक से एक मारक आयुध धारण कर समर के लिये तैयार खड़े हैं। इस बीच श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अपनी सर्वोच्च चेतना के आधार पर ही व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये, भले ही उस कर्म का स्वरूप कुछ भी हो। युद्ध का मैदान भी उतना ही पवित्र होता है जितना मंदिर अथवा गिरजाघर। वे अर्जुन को मीठी झिड़की देते हुए कहते हैं कि जब व्यक्ति संपूर्ण विवेक, सन्तुलन एवं सही निर्णय के अनुसार कार्य करना सीख लेता है, तभी उसमें वास्तविक आध्यात्मिकता प्रकट होती है।

कभी क्षणांश के लिये भी ऐसा सोचने की भूल न करें कि जीवन को नकार कर, उसकी वास्तविकता से विमुख होकर आप आध्यात्मिक बन जायेंगे। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उसके लिये कुरुक्षेत्र है। अब आपको यह स्वयं निर्धारित करना है कि जीवन को किस दिशा में गति प्रदान की जाये।

गंतव्य

एक बार अध्यात्म की खोज के लिए दो मित्रों ने भारत की यात्रा करने का निश्चय किया। वे दोनों बहुत समय से अस्तित्व के यथार्थ को जानने के लिये प्रयत्नशील थे। परन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली थी। अस्तु उन्होंने अन्यत्र खोज करने का निश्चय किया। उन्होंने भारत की बहुआयामी संस्कृति और परम्पराओं के विषय में अनेक ग्रन्थ पढ़े। अंत में वे इस निश्चय पर पहुँचे कि भारत में ही उन्हें निश्चित रूप से जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में सफलता मिलेगी।

उन्होंने अपनी योजना को अन्तिम रूप देकर भारत के लिये प्रस्थान किया। एक जगह यह देखने के लिये अपने यान से उतरे कि वहाँ उन्हें क्या कुछ मिल सकता है। वह एक अति सुन्दर आकर्षक नगर था। एक मित्र ने दूसरे से कहा– "क्यों न हम यहाँ कुछ दिन ठहर जायें और कुछ समय तक मौजमस्ती कर पुनः भारत के लिये यात्रा प्रारम्भ करें।" यद्यपि पहला मित्र इसके लिये तैयार नहीं था, तथापि अपने मित्र के प्रस्ताव को मानते हुए उसने ठहरने के लिये उपयुक्त स्थान की खोज की।

वे कुछ समय तक उस नगर में ठहरे। इस बीच उन्होंने अनेक लोगों से मित्रता की और घूम-घूमकर नगर के सुरम्य स्थलों का अवलोकन किया। जब उन्होंने अपने मित्रों से जाने की आज्ञा माँगी तो मित्रों ने उनसे कुछ दिन और ठहरने का आग्रह किया। इस प्रकार प्रारम्भ में उन्होंने जहाँ कुछ दिन ठहरने का निश्चय किया था, अब वह उनका स्थायी निवास बन गया। धीरे-धीरे लोगों से उनके सम्बन्ध प्रगाढ़ हुए। फिर उन्होंने अपना विवाह रचाया तथा धन और पद प्राप्त कर सुख, विलास और ऐश्वर्य में स्वयं को पूरी तरह डुबा दिया। वे भौतिक और इन्द्रियों के सुखों में इतना लिप्त हो गये

कि आत्मा की आवाज भी अनसुनी करने लगे, जिसकी प्रेरणा से वे यात्रा के लिये निकले थे।

जीवन बीतने लगा, राग और ममता के पाश कड़े होने लगे। अब वे इन्हीं बन्धनों को अपना आदर्श मानने लगे। अंततोगत्वा जीवन की जटिलतायें उन्हें परेशान करने लगीं और जो वस्तुएँ प्रारम्भ में उनके आकर्षण का केन्द्र थीं, अब वही वस्तुएँ उन्हें भय, निराशा तथा कुंठाओं के घेरे में कसने लगीं। निराशा, उद्‌देश्यहीनता तथा मृगतृष्णा ने अब उनके जीवन में व्यर्थता और दिशाहीनता भर दी।

इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये। माया का फंदा उनके गले में बुरी तरह जकड़ गया। उन्हें निराशा तथा तीव्र पीड़ा की अनुभूति हुई। वही प्रश्न तथा वही शंकायें जो कुछ समय के लिये थम गयी थीं, अब पुन: उठ खड़ी हुईं तथा दोनों एक बार फिर छटपटाने लगे। बहुधा ऐसा ही हममें से अनेक लोगों के जीवन में होता है। हम भी नाम, यश, पद, धन तथा परिवार के जंजाल में स्वयं को इस तरह खो देते हैं कि अपने अस्तित्व को भूलकर हम उनके आज्ञानुवर्ती हो जाते हैं। एक स्थिति ऐसी आती है कि हम इन बन्धनों को तोड़ कर मुक्त होने के लिए छटपटाने लगते हैं।

अब हम इस दृष्टांत कथा के उस भाग में पहुँचते हैं, जहाँ इन दो महानुभावों पर भोग-विलास और ऐश्वर्य की चमक-दमक के प्रभाव का वर्णन होता है। उनमें से एक ने स्वयं को पूरी तरह भोग-विलास में खो दिया। परन्तु दूसरे की प्रतिक्रिया कुछ भिन्न थी। उसने इस समूची स्थिति को जीवन यात्रा का एक संक्षिप्त पड़ाव माना। उसने स्वयं को इस परिवर्तित स्थिति का द्रष्टा और नियंत्रणकर्त्ता समझा। एक परिस्थिति का स्वामी और दूसरा गुलाम बन गया।

हालाँकि दूसरा मित्र भोगविलास का उपभोग तो करता था, परन्तु भीतर से स्वयं को उनसे अलग रखता था। वह उन्हें भोगते हुए भी भोक्तापन के भाव से दूर था। वह नगर के आकर्षण और रंगरेलियों से सम्मोहित नहीं होता था, क्योंकि वह जानता था कि ये सब क्षणिक अनुभव हैं और जब ये सब थम जायेंगे तो उसे पुन: अपनी मंजिल की ओर यात्रा प्रारम्भ करनी होगी।

अंत में जब उसके भीतर एक तूफान-सा उठने लगा तो एक झटके के साथ उसने अपने सारे बन्धन तोड़ डाले, जिसका उसके मन और जीवन पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं हुआ। परन्तु इसके विपरीत उसका मित्र जो इस भूलभुलैया में गुम हो गया था, इस परिवर्तन को सह नहीं सका। उसका व्यक्तित्व टूट

गया तथा वह स्वयं को सन्तुलित नहीं रख सका। यह स्नायविक व्याधियों और विकृत मस्तिष्क का शिकार होकर आत्महत्या के लिये तत्पर हो गया, क्योंकि वह स्वयं को परिवर्तित स्थिति के अनुकूल नहीं ढाल सका।

इनमें से एक कर्म संन्यासी था और दूसरा साधारण व्यक्ति। अब प्रश्न यह उठता है कि आप क्या बनना चाहते हैं? क्या आप चाहते हैं कि जीवन में निम्न प्रवृत्तियाँ, विरोधी परिस्थितियाँ आपको असंतुलित कर गुलाम और पंगु बना दें या आप हर परिस्थिति में अप्रभावित रहते हुए उसका डटकर सामना कर सकें।

दूसरा व्यक्ति ऐश्वर्य और भोगविलास के नशे में उन्मत्त हो गया था और जब यह सब कुछ उससे छिन गया, तो उसे एक प्रकार की आत्मघाती निराशा हुई। घड़ी के दोलक की भाँति उसका जीवन इधर से उधर डगमगाने लगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह जीवन के सुख अथवा दु:ख के किसी भी अनुभव को सम्हालने में समर्थ न हो सका। वह जीवन की हर परिस्थिति का गुलाम सिद्ध हुआ।

इसके विपरीत दूसरा मित्र कर्म संन्यासी था, जिसका हर परिस्थिति पर प्रभुत्व था। उसका मन निर्लिप्त था। किसी भी परिस्थिति में उसने अपना सन्तुलन नहीं खोया था। भाग्य उसकी बुनियाद को नहीं हिला सकता था। अंत में वह परिस्थितियों का मालिक तथा विजेता बना।

अब आपको स्वयं यह निर्णय करना है कि आप स्वयं को जीवन के सुख-दु:ख और उतार-चढ़ाव के बीच खो देना चाहते हैं, अथवा सिर ऊँचा कर इनका सामना करते हुए अपने भाग्य और जीवन के निर्माता और स्वामी बनना चाहते हैं। यदि आप जीवन और उसकी घटनाओं के नियंत्रणकर्त्ता बनना चाहते हैं तो आपको अपने लिये एक लक्ष्य ढूढ़ना होगा, जो आपको हर क्षण उस मंजिल की याद दिलाता रहेगा जहाँ पहुँचना आपके लिये श्रेयस्कर है।

आपके जीवन का लक्ष्य कुछ और होता है, परन्तु आप जीवन की घटनाओं तथा परिस्थितियों को ही अपना लक्ष्य मानकर रुक जाने की भूल कर बैठते हैं। यह सच है कि जीवन-यात्रा में इन पड़ावों का अपना महत्त्व होता है। इनमें हमें कुछ सीख तथा अनुभव प्राप्त होते हैं। ये केवल तभी तक उद्‌देश्यपूर्ण तथा उपयोगी हो सकते हैं जब तक ये हमारे निश्चय को मजबूत बनायें और लक्ष्य को दृष्टि से ओझल न होने दें। यदि ये ऐसा नहीं कर पाते तो यह मानिये कि इनकी उपादेयता तथा अर्थवत्ता समाप्त हो गई है।

अवकाश के दिनों में जिस प्रकार आप किसी आलीशान होटल में ठहरते और उसकी सुख-सुविधा का छककर उपयोग करते हैं, परन्तु जब घर लौटते हैं तब आपको इस विछोह की पीड़ा नहीं सताती। ठीक इसी प्रकार जीवन के खट्टे-मीठे अनुभव, परिस्थितियाँ, वैभव और अभाव अपने लक्ष्य तक पहुँचने की प्रथम सीढ़ी हैं। जीवन की यात्रा में तो ये सब अवश्य मिलेंगे। अब यह आप पर निर्भर है कि आप इनसे बंधकर पथभ्रष्ट हो जायें या इन्हें लांघकर लक्ष्य तक पहुँच जायें।

यदि आप जीवन की प्रत्येक घटना को ही उसका सार समझ स्वयं को उसमें खो देंगे, उसे ही अन्तिम सत्य मान बैठेंगे तो निश्चय ही मंजिल तक पहुँचने के पूर्व ही आप भटक जायेंगे। यह सच मानिये कि नश्वरता जीवन का कठोरतम सत्य है। परन्तु भोग-विलास के नशे में आप यह भूल जाते हैं कि आप मृत्यु की पकड़ से दूर नहीं हैं।

विदेहराज जनक के दरबार में एक दिन एक मन्त्री ने उनसे पूछा– "महाराज आपकी दृष्टि में संसार का महानतम आश्चर्य क्या है?" विदेहराज ने हँसकर कहा– "प्रतिदिन हम अपने आस-पास हजारों लोगों को मृत्यु के मुख में जाते देखते हैं, फिर भी हम सब सोचते हैं कि हम अमर हैं।"

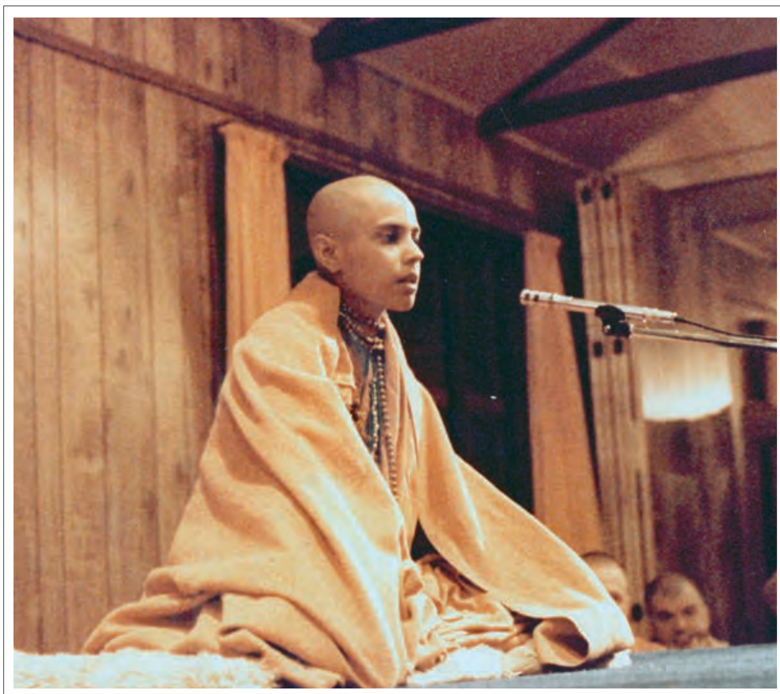
यह सच है। हम जीवन की नश्वरता को समझते तो हैं, परन्तु उसकी परवाह नहीं करते। जब विनाश और कठिनाइयाँ हमारे दरवाजे खटखटाते हैं, तो उनका सामना करने की हमारी तैयारी एकदम शून्य रहती है। शुतुर्मुर्ग की तरह आप भी अपनी रक्षा के लिये जीवन के ऐश्वर्यों की रेत में अपना सिर छिपा लेते हैं। परन्तु कब तक आप शुतुर्मुर्ग की तरह अपनी रक्षा कर पायेंगे? एक न एक दिन आपकी गर्दन अवश्य कटेगी तथा आप लहूलुहान हो जायेंगे।

जीवन की शिक्षाओं की उपेक्षा ठीक नहीं होती। इसी प्रकार अपने पारिवारिक दायित्वों से एकान्त जीवन में पलायन करना भी उचित नहीं है। पूर्ण दृढ़ता और उत्साह के साथ जीवन की परिस्थितियों का सामना कीजिये। हर प्रिय, अप्रिय अनुभव से शक्ति अर्जित कीजिये।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जीवन को नकारिये नहीं। उसे अपने समग्र रूप में स्वीकार कीजिये। जीवन-धारा में स्वयं को बहने दीजिये, उससे सीखिये। हर परिस्थिति और अनुभव द्वारा अपनी चेतना को विकसित कीजिये। इस प्रकार स्वयं को इतना शक्तिशाली बनाइये कि आप सिर ऊँचा

कर विजेता की भाँति खड़े हो सकें। एक कर्म संन्यासी अपने जीवन में यही कुछ प्राप्त करना चाहता है। वह अपने कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व आदि सबको पूरी तरह स्वीकारता है तथा शक्ति एवं क्षमतानुसार उनका निर्वाह करता है। वह जीवन में अपनी स्थिति से मुख नहीं मोड़ता, बल्कि उसका इस तरह उपयोग करता है कि उसकी आंतरिक शक्ति बढ़ती और उसे अपना लक्ष्य स्पष्ट दिखलाई पड़ता है और एक दिन ऐसा आता है जब वह अपने गंतव्य पर पहुँच जाता है।

कर्म संन्यासी पूर्ण सजगता के साथ जीवन के भोग-विलास का आनन्द लेता है। इसी प्रकार वह जीवन के दु:खों को भी सहन करता है। कर्म संन्यासी जीवन की हर अच्छी-बुरी परिस्थिति का सदुपयोग अपनी चेतना के उत्तरोत्तर विकास के लिये करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।



सम्पूर्ण जगत्–एक रंगमंच

एक कर्म संन्यासी के रूप में आपको जीवन में कुछ भी नहीं त्यागना है, बल्कि उसमें और भी कुछ जोड़ना ही है। जीवन में उच्च चेतना अथवा आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि के दो मार्ग हैं। इनमें से एक को निवृत्ति मार्ग कहते हैं। यह त्याग और अभोक्तापन का रास्ता है, जो मात्र कुछ चुने हुए लोगों के लिये ही अनुकूल होता है। दूसरा प्रवृत्ति मार्ग कहलाता है, जिसे कर्म संन्यास कहते हैं।

अपने निहित कर्मों द्वारा ही आपको जीवन में सक्रिय होने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इच्छा, वासना तथा महत्त्वाकांक्षाओं के प्रेरणास्रोत कर्म ही होते हैं। जीवन-यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व इन कर्मों का क्षय होना बहुत आवश्यक है। कर्मों की अभिव्यक्ति को नकारना बड़ा हानिकारक होता है। यदि कर्मों का दमन कर आप जीवन में कोई मार्ग अपनाते हैं, तो यह निश्चित मानिये कि आगे चलकर आपको विकट समस्याओं का सामना करना पड़ेगा।

यदि अपने कर्मों के फलस्वरूप आप धनवान या विख्यात बनते हैं, तो इसमें कोई हानि नहीं है। परन्तु हमेशा एक बात याद रखिये कि आप जीवन में जैसी भी स्थिति में हैं, वह आपके पूर्व कर्मों की एक अभिव्यक्ति मात्र है। जैसे ही पूर्व कर्म विशेष क्षय होता है, उसके फलस्वरूप निर्मित स्थिति भी समाप्त हो जाती है। इसलिए विधायक तथा नकारात्मक, दोनों प्रकार के कर्मों के लिये आपके मन में स्वीकृति का भाव होना चाहिए, बल्कि आपका यह प्रयास होना चाहिए कि नकारात्मक कर्मों की अधिकाधिक जगह विधायक कर्म लें।

कर्म संन्यासी अपने जीवन में किसी भी वस्तु का त्याग अथवा निषेध नहीं करता, क्योंकि उसमें जीवन की गहरी समझ होती है। वह अपने कर्मों

के फलस्वरूप जीवन की दिशा और लक्ष्य को नहीं भूलता। वह डटकर पैसा कमाता, अच्छा खाता-पहनता तथा जीवन की मौज-मस्ती का आनन्द लूटता है। वह अपने परिवार वालों को भी खूब प्यार करता है। कर्म संन्यासी के रूप में जीवन की हर वस्तु उसे नया अनुभव प्रदान करती है, परन्तु इस सबका तात्पर्य यह नहीं है कि एक क्षण के लिये भी उसका जीवनोद्देश्य उसकी आँखों से ओझल हो सकता है। जीवन की चकाचौंध उसे लक्ष्यच्युत नहीं कर पाती। वह जीवन के दु:ख-सुख में स्वयं को खोता नहीं है। यदि सुख मिलता है, तो वह विनम्रतापूर्वक उसे स्वीकारता है और यदि दु:ख आता है तो वह अपना सन्तुलन बनाये रखता है, उससे विक्षुब्ध नहीं होता। जीवन की हर ऊँच-नीच, परिस्थिति उसे कुछ सीखने का अवसर प्रदान करती है।

त्याग का मार्ग केवल उन्हीं लोगों के लिये सहज होता है जो अपने अधिकांश कर्मों को समाप्त कर चुके होते हैं। विशेष रूप से अत्यन्त गहराइयों में पैठे तीव्र कर्मों को तो वे समाप्त कर ही चुके होते हैं। त्याग का मार्ग उनके लिये ही सहज हो सकता है जिनमें महान् आत्मबल होता है तथा जो इच्छा, वासना एवं महत्त्वाकांक्षाओं के बावजूद त्यागमय जीवन में कदम रखते हैं। बताइये, इच्छाओं और वासनाओं का बोझ लादे हुए बलात् त्याग-तपस्या का जीवन अपनाने में कहाँ की समझदारी है? दु:ख और तनावपूर्ण त्यागी जीवन से सन्तुलन और समस्वरतापूर्ण जीवन कहीं अधिक अच्छा है।

कुछ समय के लिये शान्त, एकान्त जीवन उसी प्रकार अच्छा लगता है जिस प्रकार आप अपनी दुखती, थकी आँखों को आराम पहुँचाने के लिये किसी अञ्जन अथवा सुरमे का प्रयोग करते हैं। परन्तु वहाँ भी दिन-प्रतिदिन के जीवन के झंझट तथा विचार आप पर आक्रमण तो करेंगे ही। जहाँ भी आप जायें, वे परछाई की तरह आपके साथ लगे रहेंगे, बल्कि जैसे ही आप आँखें बन्द कर मन को शान्त, एकाग्र करने का यत्न करेंगे, इस पिशाच मंडली का भयावह नृत्य आपके बन्द नेत्रों के समक्ष होने लगेगा। शान्ति और एकाग्रता तो दूर रही, आप अत्यन्त व्यथित तथा विक्षुब्ध हो उठेंगे। इसलिये बेहतर यही होगा कि आप दैनिक जीवन के क्रियाकलापों में सक्रिय भागीदारी करते हुए अपनी इच्छाओं, वासनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं को अभिव्यक्ति प्रदान कर उनकी इति करें। ऐसा न हो कि आप निर्जन एकान्त गुफा में मात्र उन वस्तुओं का चिन्तन करते रहें, जिन्हें आप छोड़कर आये हैं।

त्याग उनके लिये कतई श्रेयस्कर नहीं हो सकता जो अपने कर्मों से बन्धे हुए हैं। उनकी समस्या का उपयुक्त समाधान जीवन की हर गतिविधि में सक्रिय भागीदारी ही हो सकती है। सर्वप्रथम 'स्व' की चेतना को विकसित कीजिये। जीवन की हर घटना और परिस्थिति के प्रति साक्षीभाव जाग्रत कीजिये, ताकि आप यह समझ सकें कि जीवन की हर परिस्थिति आपको क्या सीख देना चाहती है। इस तरह आप अपनी शक्ति और कमजोरी को पहचानेंगे। जीवन के हर उतार-चढ़ाव के प्रति आपकी प्रतिक्रिया सन्तुलित तथा उपयुक्त होगी। आप वस्तु तथा व्यक्तियों के प्रति अपने लगाव, सनक, उद्वेग, भावनायें, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, तिरस्कार आदि की अभिव्यक्ति को जानेंगे, समझेंगे। इनके साक्षी बनेंगे। आप एक साथ इनके भोक्ता और साक्षी बनेंगे। स्वयं को जानने और उच्च चेतना को जाग्रत करने का यही एकमात्र राजमार्ग है।

इसके अतिरिक्त यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि आप अपने कर्मों को अभिव्यक्ति तो प्रदान करें, परन्तु इसके साथ-ही-साथ नये कर्मों का संचय रोकें, ताकि वे आपके भविष्य को प्रभावित न कर पायें। यह एक विकट समस्या है। एक ओर तो कर्म विभिन्न रूपों में प्रकट होकर निष्प्रभावी होते हैं, परन्तु दूसरी ओर नये कर्म संचित होते रहते हैं। इसका समाधान यही है कि आप अपने पूर्व कर्मों को तो निःशेष करें ही, पर नये कर्मों का संचय न होने दें।

यह केवल तभी सम्भव है जब आप विश्व को एक विशाल रंगमंच तथा स्वयं को इसका अभिनेता समझें, जिसमें आप अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। आप एक ही समय में किसी के पति, पत्नी, माता, पिता, पुत्र, व्यापारी, राजनेता, अधिकारी अथवा अधीनस्थ कर्मचारी होते हैं। इस तरह आपकी अनेकानेक भूमिकायें होती हैं। आप अपनी किसी भी भूमिका को भूलते नहीं, अपितु प्रत्येक में रस लेते हैं। परन्तु याद रखिये इन सबके ऊपर आपकी एक और भूमिका होती है, जिसमें आप स्वयं को अन्य सभी प्रकार की भूमिकाओं से अलग रखते हैं। आपकी यह भूमिका अन्य सभी भूमिकाओं से निर्लिप्त रहती है। यह भूमिका अन्य भूमिकाओं के परिणाम की चिन्ता नहीं करती, अपितु मात्र उनका मजा लेती हैं।

जिस प्रकार रंगमंच का अभिनेता अभिनीत भूमिकाओं में होने वाले सुख-दुःख से प्रभावित नहीं होता, आप भी जीवन के हर उतार-चढ़ाव से

अप्रभावित रहिये। अपनी भूमिका को कर्त्तव्य मानते हुए उसमें रस लीजिये। प्रत्येक भूमिका का अपनी शक्ति और क्षमताभर निर्वाह कीजिये। किसी भी दु:ख-सुख को अपना सन्तुलन जरा भी नष्ट न करने दीजिये।

यदि आप किसी ऐसे व्यक्ति से मिलें जिसने स्वयं को अपने पेशे तथा कार्य में पूरी तरह डुबा दिया है तथा जो परिणामों की जरा भी परवाह नहीं करता, तो वह आपको बतायेगा कि उसे अपने कार्य से बड़ा आनन्द मिलता है तथा उसके अच्छे-बुरे परिणाम उसे जरा भी व्यथित नहीं करते। उसके लिये उसका कार्य ही सर्वोच्च प्रेम, भक्ति, समर्पण और त्याग होता है।यही उसके जीवन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति होती है। चूँकि वह अपने कार्य से आनन्द और संतुष्टि प्राप्त करता है, उसमें फलाफल के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। वह नाम, यश, धन और पद की आकांक्षा नहीं करता।

उपर्युक्त वस्तुएँ आपके कठिन परिश्रम का उपोद्पाद होती हैं, न कि कठिन परिश्रम की प्रेरक। अपने कर्त्तव्य तो अवश्य कीजिये, परन्तु उनके फल की चिन्ता मत कीजिये। निश्चय ही कर्त्तव्य कर्मों द्वारा लाभ होंगे, परन्तु उनसे अपने कर्मों को प्रभावित न होने दीजिये। जीवन के हर क्षेत्र में निष्काम भाव से कर्म कीजिये। आप अधिक धन, नाम और यश कमाने के लिये काम नहीं करते हैं। आप अपने पति, पत्नी तथा बच्चों से इसलिये प्यार नहीं करते कि बदले में आपको भी उनसे प्यार मिलेगा। इसी प्रकार आप परोपकार के कार्य भी मान-सम्मान और यश के लिये नहीं करते। आप अपने सभी काम अपना उत्तरदायित्व समझकर कर्त्तव्य भावना से करते हैं।

अपने कार्यों का आपको जो फलाफल मिलता है, वह आकस्मिक होता है। आप स्वयं को अपने कार्यों के फलाफल को भोगने से रोकते नहीं हैं। आप उनका अधिकतम उपयोग करते हैं। परन्तु वैराग्य भावना के कारण कर्मों का फलाफल न तो आपको प्रभावित कर सकता है और न ही आपके जीवन का केन्द्र हो सकता है। महत्त्वपूर्ण बात कर्मों के फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति नहीं है, वरन् अपने कर्मों को चेतनापूर्वक कर्त्तव्य भावना से, पूरी क्षमता और जिम्मेदारी से करना है। अत: संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर्म करते समय उसके फल के प्रति उदासीन रहिये और अपना पूरा ध्यान कार्य पर केन्द्रित कर दीजिये। तब आपको जो फल प्राप्त होगा वह अपेक्षा के साथ किये गये कर्मों के फल से कहीं अधिक मधुर तो होगा ही, आप उसके आनन्द का उपभोग करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ेंगे।

आश्चर्य की बात तो यह है कि हमारे जीवन में जो भी दु:ख और पीड़ा है, उसका मुख्य कारण हमारी फलासक्ति और आनन्द पर निर्भरता है। हमारी समस्त ऊर्जा और विचारशक्ति कर्मों के अच्छे-बुरे परिणाम पर लगी रहती है। राग के पीछे दु:ख लगा रहता है, क्योंकि जिस वस्तु से हमारा लगाव होता है, उसके नष्ट हो जाने की चिन्ता हमें हरदम परेशान करती है। भले ही आपको किसी कर्म का अपेक्षित परिणाम प्राप्त हो जाये, परन्तु उसके गुम हो जाने की आशंका आपको चैन से नहीं बैठने देती है। इसके अतिरिक्त अपेक्षित फल द्वारा आप उतना आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते जितने की आपने कल्पना की थी।

इससे अत्यधिक दु:ख तो होता ही है, आप अपने निकट के लोगों पर अपना दु:ख व्यक्त करते हैं, जिसका उन पर और आप पर भी अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। इन सभी बातों से अधिकाधिक संस्कार संगृहीत होते हैं। अब स्वयं को जितना अधिक दुष्कर्म में डालेंगे, आपके संस्कार उतने ही तीव्र होंगे और वह क्षण भी आयेगा जब आप पूरी तरह टूट जायेंगे। परन्तु यदि आप वैराग्य और निष्काम भाव से अपने कर्मों को अभिव्यक्त करें तो आपके कर्म नि:शेष भी होंगे और नये कर्मों का निर्माण भी नहीं होगा।

कर्मों का यह दर्शन बड़ा जटिल है। परन्तु आपके जीवन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसीलिये इसे अच्छी तरह समझना जरूरी है। आप जो कुछ करते हैं उससे कर्मों का निर्माण होता है और जब आप उन कर्मों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं, तब पुन: नये कर्म निर्मित होते हैं। ये आपके जीवन, आपके व्यक्तित्व और आपकी भावनाओं को प्रभावित करते हैं। इसलिये अपने कर्मों का चुनाव पूरी सावधानी के साथ करना चाहिये। पुन: जो कर्म आप करते हैं, उनका उतना महत्त्व नहीं होता जितना उनके साथ जुड़ी आपकी मनोवृत्ति का होता है। यदि वे कर्म फलाकांक्षा द्वारा प्रेरित नहीं हैं, तो उनके द्वारा आप नये कर्मों को निर्मित नहीं होने देते और जीवन के हर क्षेत्र में पूर्ण रूप से भाग लेते हुए उसके लाभों का पूरा आनन्द उठाते हैं।

एक ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि कर्मों के फलाफल के प्रति अनासक्ति, नि:स्वार्थता और समझदारी हमारे भीतर से जाग्रत होनी चाहिए। कोई भी बाहरी व्यक्ति यह न जान सके कि आप क्या सोच रहे हैं या जीवन के प्रति आपका दृष्टिकोण कैसा है। ये बातें व्यक्तिगत होती हैं। बाहर से आपमें तथा दूसरे लोगों में अन्तर नहीं होता। आप जीवन का भरपूर आनन्द

लेते हैं। कुछ भी त्यागते नहीं। आप न त्यागी और न उदासीन साधु लगते हैं। जिस प्रकार अन्य लोग समाज के घटक होते हैं, आप भी समाज के सामान्य सदस्य लगते हैं।

यह तो बाहरी बात हुई, परन्तु आपके भीतर स्व-परिष्कार चलता रहता है। गहरी समझदारी और उच्च चेतना की कैंची द्वारा आप सभी जीवन विरोधी भावनाओं को कतर डालते हैं। समूचा जीवन आपके लिये कर्त्तव्य क्षेत्र बन जाता है। आप उसमें उत्साहपूर्वक हिस्सा लेते हैं। आप अपने कर्त्तव्यों के अच्छे-बुरे फल की न तो अपेक्षा रखते हैं और न उनसे बचने का प्रयास करते हैं। यह सही है कि ऐसी मानसिकता एक दिन में प्राप्त नहीं हो सकती। यह प्रक्रिया कर्म संन्यास दीक्षा के साथ प्रारम्भ होती और जीवनपर्यन्त चलती रहती है। यह आपकी निष्ठा और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर रहती है।



कर्म

कर्म का नियम आपके जन्म, स्थिति और जीवन की परिस्थितियों को निश्चित करता है। कर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई है, जिसका तात्पर्य कार्य से है। कार्य के पहले उसका कारण होता है। प्रत्येक कारण की परिणति कार्य होता है। यह तथ्य हमारे चारों ओर सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। आप एक बीज बोते हैं। वह अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर अन्त में फल देता है। हम फल खा लेते हैं और बीज जमीन पर गिर जाता है। वह पुनः एक वृक्ष को जन्म देता है। कार्य-कारण की यह शृंखला अन्तहीन होती है। हर कदम पर हर कार्य अपने कारण का परिणाम होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में संभावित और सुषुप्त कर्म-बीज होता है, जो उसके विगत अनेक जीवनों के कर्मों का बीज रूप होता है। पुनः यह बीज विविध कर्मों के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है। यदि आप आम का बीज बोएँ, तो आपको आम के सिवाय कोई दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता। इसी प्रकार आपके विगत कर्म यह निश्चित करते हैं कि आप धनवान होंगे अथवा गरीब, रूपवान होंगे अथवा कुरूप, नीरोगी होंगे अथवा रोगी, विख्यात होंगे अथवा कुख्यात, गृहस्थ होंगे अथवा संन्यासी। आपका भविष्य आपके अपने कर्म निर्धारित करते हैं। इसलिए कार्य के नियम की माँग होती है कि आप अपने कर्मों का चुनाव सोच समझकर करें।

अपने पूर्व संचित कर्म के अनुसार आगामी जीवन बिताने के लिये आप बाध्य होते हैं। इसलिये उस कर्म को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये जीवन के कार्यों, कर्त्तव्यों तथा अनिवार्यताओं को पूरी क्षमता, निष्ठा और निष्काम भावना के साथ करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति किसी लक्ष्य विशेष को पाने के उद्‌देश्य से पैदा होता है और जाने-अनजाने कर्म करता हुआ

उस लक्ष्य विशेष को पाने की कोशिश करता है। यह लक्ष्य उसके संस्कारों तथा पूर्वानुभवों का फल होता है। ये संस्कार हम अपने संचित कर्म अथवा माता-पिता से विरासत के रूप में ग्रहण करते हैं।

अर्वाचीन वैज्ञानिक भाषा में संस्कार का तात्पर्य अनुभव अथवा प्रभाव होता है। जिस प्रकार एक बीज में महान् वृक्ष बनने और फल देने की नियति छुपी होती है, उसी प्रकार आपकी आत्मा के भीतर ये संस्कार छुपे रहते हैं। हर छोटा-बड़ा अनुभव अपने पीछे एक संस्कार छोड़ जाता है। फिर ये संस्कार ही आपके जीवन-चरित्र और व्यक्तित्व को निर्धारित करते हैं। भोजन विशेष के प्रति आपकी रुचि या अरुचि, वेशभूषा का चुनाव, व्यक्ति विशेष के प्रति राग-द्वेष, प्रतिभा, शौक, भावनायें, ताकत तथा कमजोरियाँ सबकी सब संस्कारों के अधीन होती हैं।

हमारा मस्तिष्क निरन्तर सूचनायें ग्रहण करता रहता है। यह प्रक्रिया आपके जाने-अनजाने लगातार चलती रहती है। उदाहरण के लिये, गहन निद्रा में सोया हुआ शिशु भी अपनी माता की हत्या का साक्षी होता है। चूँकि वह बहुत छोटा है, वह यह नहीं समझ पाता कि क्या हो रहा है, परन्तु उसके मस्तिष्क का एक भाग उस अनुभव को नोट कर लेता है और समय आने पर वह अनुभव संस्कार बन जाता है। आगे चलकर इस संस्कार का विस्फोट होता है और वह उसके व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग बन जाता है। यह जरूरी नहीं कि उसके व्यक्तित्व की यह विशेषता उस संस्कार से मिलती-जुलती हो, क्योंकि अपनी माता की हत्या की स्मृति उसके मन में बहुत स्पष्ट नहीं होती है, परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस घटना का प्रभाव उसके मन पर अवश्य पड़ा था।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि अनुभवों के रूप में संस्कारों का संचय नहीं होता। यदि ऐसा होता तो संस्कारों के रहस्य को समझना बड़ा सहज हो जाता। यदि आप सेब के बीज को काट कर देखें, तो क्या उसमें आपको सेब का वृक्ष दिखलाई देगा? कतई नहीं। ठीक इसी प्रकार हमारे भीतर संस्कार प्रतीकों के रूप में संचित होते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी उनकी अभिव्यक्ति बड़े उटपटांग ढंग से होती है, जिनका उस घटना से जरा भी ताल-मेल नहीं बैठता, जो उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

ध्यान की अवस्था में स्वप्न, दृश्य तथा अनुभव आपके संचित संस्कारों की अभिव्यक्तियाँ होते हैं। कुछ संस्कार इतने गहरे दबे होते हैं कि उन्हें ऊपर

लाने के लिये हमें स्वयं की गहराई में उतरना पड़ता है। दूसरे प्रकार के संस्कार आसानी से ऊपर आ जाते हैं। कुछ अन्य बड़े शक्तिशाली तथा विस्फोटक होते हैं, जो लम्बे समय तक हमसे जुड़े रहते हैं। कुछ इतने क्षीण होते हैं, जो हमें अपने अनुरूप कार्य करने के लिये बाध्य नहीं करते।

यदि आप अत्यन्त उग्र और हिंसक हैं, तो इसका कारण कोई तीव्र संस्कार होता है। यदि आप करुणामय, दानी और दयालु हैं तो उसका कारण भी संस्कार ही होते हैं। यदि आप विख्यात और लोकप्रिय हैं, अथवा दूसरों के घृणा के पात्र हैं, तो उसका कारण भी संस्कार ही हैं। आप स्वयं अपने संस्कारों के निर्माता और जीवन को दिशा देने वाले हैं। यद्यपि आपके समक्ष यह विकल्प है कि अपने आगामी जीवन को वांछित दिशा देने के लिये उपयुक्त कर्मों का चुनाव स्वयं कर सकें, परन्तु वर्तमान में आप जैसा भी जीवन बिता रहे हैं उसके लिये अपने पूर्व संचित संस्कारों के अधीन हैं, बाध्य हैं।

कर्म का नियम बताता है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं – संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्म।

एक उदाहरण द्वारा इन्हें अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक धनुर्धारी अपने तूणीर से एक बाण निकालता है और उसे धनुष पर रख कर प्रत्यंचा खींचता तथा निशाना साधता है। वह बाण को छोड़ देता है जो बिना चूके अपने लक्ष्य को बेधता है।

तूणीर में रखा बाण संचित कर्म है, जिसने अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किया है। अब उस बाण को धनुष पर रखना, प्रत्यंचा खींचना और निशाना साधना क्रियमाण कर्म है। वह अभी भी धनुर्धारी के नियंत्रण में है। जब एक बार बाण धनुष से छूट जाता है, तो निश्चय ही वह लक्ष्य पर पहुँच अपना प्रभाव उत्पन्न करेगा। यही प्रारब्ध कर्म है।

हम अपने वर्तमान जीवन में जो कुछ हैं वह पूर्व संचित कर्मों का अनिवार्य परिणाम है। हम उससे बच नहीं सकते। जो बुद्धिमान् हैं, वे जीवन के हर उतार-चढ़ाव का सामना करते हैं और उनका उद्देश्य भी जानते हैं। कर्म का विरोध द्वन्द्व, तनाव और संघर्ष उत्पन्न करता है। यदि आप कमजोर हैं, तो निश्चय ही विपत्ति में पड़ेंगे। इसीलिये कहा गया है कि आपके कर्म आपको गृहस्थ जीवन में रखते हैं, तो वहीं रहिये तथा अपने कार्यों और जिम्मेदारियों को अच्छी तरह संभालिये। त्याग और संन्यास की बात उस समय बड़ी बेतुकी

होती है जब आपके संस्कार आपको गृहस्थ जीवन में रखना चाहते हैं। परन्तु इसके साथ ही आपको यह अनुभव करना होगा कि गृहस्थ जीवन के रूप में आपको एक सुअवसर मिला है कि आप अपने उस कर्म विशेष को नि:शेष करें। जैसे ही आपका वह कर्म पूरा होगा, आप गृहस्थी के जंजाल से, उसके उत्तरदायित्वों से मुक्त हो जायेंगे।

एक कर्म संन्यासी के लिये गृहस्थ जीवनयापन अपने कर्मों की समाप्ति का स्वर्णिम अवसर होता है। इसलिये वह गृहस्थ जीवन को अपने धर्म तथा कर्त्तव्य के रूप में सहर्ष स्वीकारता है। वह उसकी उपेक्षा अथवा निषेध नहीं करता। जीवन का प्रत्येक अनुभव उसकी उच्च चेतना के विकास का सोपान होता है। वह सामान्य गृहस्थ जीवनयापन करते हुए उसमें होने वाले हर अनुभव का उपयोग अपनी चेतना के विकास के लिये करता है। वह एक ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जहाँ नये कर्मों का संचय नहीं होता है।

कर्म संन्यासी सामान्य आदमी की तरह रहता है, अपने कार्यों को करता है। परन्तु उसमें उच्च चेतना होती है। उसकी दृष्टि से लक्ष्य ओझल नहीं होता। अपने कर्मों में उसकी निष्ठा होती है, जीवन के प्रति गहरी सूझ-बूझ होती है और धीरे-धीरे वह स्वयं को कर्म के बन्धन तथा कार्य-कारण के नियम से मुक्त कर लेता है। इस बिन्दु पर पहुँचने पर वह चाहे तो त्याग का मार्ग अपना सकता है, अथवा जिस प्रकार चाहे रह सकता है। परन्तु इस स्थिति तक पहुँचने के पूर्व उसे सामान्य आदमी की तरह जीवन को जीना होगा और उसके अनुभवों को ग्रहण करना होगा।

जीवन को जीना है

इस संसार में जन्म से मृत्युपर्यन्त आप कर्म करने के लिये बाध्य हैं। यदि आपकी कर्म करने की इच्छा न होती, तो आप जन्म ही क्यों लेते? चूँकि अपने जीवन के निर्माता स्वयं आप हैं, आपको यह दृढ़ निश्चय करना होता है कि आप अपने लिये किस तरह का जीवन निर्मित करने जा रहे हैं। याद रखिये, अपने रहने के लिय नरक अथवा स्वर्ग का निर्माण आप स्वयं करते हैं।

जो भी जीवन आपको मिला है वह एक माध्यम है, जिसके द्वारा आपको अपनी उच्च प्रतिभा को निखारना तथा प्रसुप्त अपार क्षमताओं को अभिव्यक्ति प्रदान करनी है। जीवन महान् अवसरों का खजाना है, परन्तु जब तक हम इस सत्य को समझ पाते हैं, अधिकांश जीवन बीत चुका होता है। जीवन के रहस्य, आनन्द, स्वर्ग आदि सभी कुछ इसी जीवन में आपकी पहुँच के भीतर रहते हैं, परन्तु अपनी भेद बुद्धि के कारण आप इनमें से अधिकांश को चूक जाते हैं।

उपर्युक्त सत्य को और अच्छी तरह समझने के लिये मैं आपको एक दृष्टांत कथा बताता हूँ–एक दिन प्रात:काल सूर्योदय से काफी समय पूर्व एक मछुआरा नदी पर गया। किनारे पर उसके पैरों में किसी कड़े पदार्थ का अनुभव हुआ। उसने उसे उठाकर अंधकार में हाथों से टटोला। उसे लगा कि पत्थरों से भरा थैला उसके हाथ लगा है। वह सुबह के प्रकाश की प्रतीक्षा करता रहा, ताकि अपना दैनिक कार्य प्रारम्भ कर सके। विचारों में मग्न लापरवाही से उसने थैले में से एक पत्थर निकाल कर नदी के जल में फेंक दिया। पत्थर के पानी में गिरने की आवाज उसे अच्छी लगी। इसलिये उसने एक के बाद एक पत्थर फेंकना जारी रखा।

जब तक प्रात:कालीन सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैला, वह सारे पत्थर पानी में फेंक चुका था। केवल अन्तिम पत्थर उसके हाथों में बचा था। जब उसने देखा कि जिन्हें वह पत्थर समझकर अभी तक पानी में फेंक रहा था वे पत्थर नहीं चमचमाते हीरे थे, तो उसका दिल बैठ गया। अब वह अज्ञानवश की गयी गलती के लिये स्वयं को कोसने लगा, क्योंकि अपने हाथ लगा असीम खजाना वह स्वयं अपनी गलती से खो बैठा था। वह चीखने-चिल्लाने लगा और अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा। जो धन उसे एकाएक धनी बनाने जा रहा था, उसे उसने अपनी भूल से पानी में फेंक दिया था।

कथा के इस व्यक्ति की तरह हममें से अधिकतर लोगों के जीवन में भी अंधकार भरा पड़ा है। समय बीतता जाता है, परन्तु आशा का सूर्य कभी उगता ही नहीं। इन्हीं हीरों की तरह हम भी अपने जीवन का दुरुपयोग करते रहते हैं तथा कभी उसके महत्त्व का अनुभव नहीं करते। जीवन भी हीरों से भरा एक थैला है। परन्तु अपनी नासमझी के कारण हम उसे मूल्यहीन पत्थरों से भरे थैले से अधिक कुछ नहीं समझते। यदि आप समझदारी से देखें तो पायेंगे कि जीवन में अधिकांशत: शुभ ही होता है। जीवन में आने वाला हर सुअवसर हीरों से भरे खजाने जैसा होता है। परन्तु जब तक आप इसे समझ पाते हैं, आप खजाने से वंचित हो जाते हैं।

यावज्जीवन आप अपने सोचने के ढंग के अनुरूप बदलते रहते हैं। जीवन की हर घटना के प्रति आपका जैसा दृष्टिकोण रहता है, उसी के अनुरूप या तो आप कुछ बन जाते हैं या बर्बाद हो जाते हैं। आपके सोचने का ढंग ही आपके जीवन को रूप तथा दिशा प्रदान करता है तथा आपके भीतर आत्मा के प्रकाश को आलोकित करता है। यही आपके आगामी विकास का मार्ग भी प्रशस्त करता है। जैसे ही आप इस तथ्य को समझेंगे, अपने सोच-विचार के ढंग में आमूलचूल परिवर्तन लायेंगे। जीवन को नये दृष्टिकोण से देखेंगे।

देखिये, आपकी समस्या की जड़ अपके पति, पत्नी, बच्चे, रिश्तेदार, घर, पड़ोसी, धन, सुख, अथवा दु:ख किसी में नहीं, बल्कि स्वयं आपके भीतर होती है। जरा स्वयं को तो बदलिये, फिर आप देखेंगे कि आपका समूचा जीवन तथा परिवेश ही बदल जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से समूचा विश्व आलोकित हो उठता है, उसी प्रकार समझबूझ तथा विचार-शैली एवं विवेक द्वारा आपका जीवन भी एक नये प्रकाश से भर जायेगा।

बहुधा हम सोचते हैं कि वह सब कुछ जो सामान्य जीवन-शैली के विपरीत है, अधार्मिक होता है। धर्म के नाम पर हमें जीवन के निषेध की शिक्षा दी जाती है। कदम-कदम पर हमें जीवन के क्रिया-कलापों के तथाकथित विपरीत परिणामों तथा हमारे मरणोपरांत जीवन पर पड़ने वाले उनके प्रभावों के बारे में सचेत किया जाता है। परन्तु जरा सोचिये कि जब आप वर्तमान जीवन के कार्यों की उपयुक्तता ही स्थापित नहीं कर पाते तो मरणोपरांत जीवन पर पड़ने वाले उनके प्रभावों का मुकाबला कैसे कर पायेंगे? हम इसी जीवन में मरण की भी तैयारी करते हैं। यदि मरणोपरांत कोई जीवन है, तो इस बात की क्या गारंटी है कि वहाँ भी आपके समक्ष ये समस्यायें नहीं आयेंगी। अत: यह बात सोलह आने सत्य है कि आप भले ही वर्तमान जीवन का त्याग अथवा निषेध कुछ भी करें, आप अपने इस जीवन से कदापि भाग नहीं सकते।

वर्तमान जीवन को सुअवसर मानना एक सर्वश्रेष्ठ साधना है। उसके हर अवसर का भरपूर लाभ उठाना स्वयं के प्रति एक महान् श्रद्धांजलि है। जो जीवन को चूकता है, वह शेष सब कुछ चूक जाता है। परन्तु लोगों का व्यवहार तथा मनोवृत्ति इसके सर्वथा विपरीत होती है। वे जीवन को कठिनाइयों तथा परीक्षाओं से भरी एक दुर्गम यात्रा मानने की गलती करते हैं। बचपन और युवावस्था में उचित शिक्षा-दीक्षा द्वारा भविष्य के जीवन की आधारशिला रखने की आवश्यकता पर कोई ध्यान ही नहीं देता। पाठशाला में आपको लौकिक शिक्षा के लिये भेजा जाता है। परन्तु कटु सत्य यह है कि आप वहाँ कुछ भी नहीं सीखते। जब भी आपका कठिनाइयों से सामना होता है, आप टूट जाते हैं। चीख-चिल्लाहट, दुर्भाग्य तथा दोषारोपण का अन्तहीन दौर प्रारम्भ होता है। हम हताशा-निराशा से भरे जीवन को अर्थहीन तथा अनावश्यक मानने लगते हैं।

अब यदि जीवन ही आपको निराश, दु:खी तथा उद्‌देश्यहीन बनाता है, तो उसका कारण स्वयं आपका सोचने-समझने का ढंग होता है। यदि आपको जीने का सही ढंग मालूम हो तो जीवन आप पर अनगिनत सुखों की वर्षा करता है। परन्तु जीवन के इस ढंग को जानने, समझने और उससे आनन्द प्राप्त करने के लिये आपको अपने सोच-विचार की शैली को पूरी तरह बदलना होगा। आपको यही सब समझाने के उद्‌देश्य से कर्म संन्यास की व्यवस्था की गई है। कर्म संन्यास में जीवन को किसी भी रूप में त्यागने अथवा नकारने की बात नहीं है। कर्म संन्यास आपको जीवन को पीठ दिखाने

की प्रेरणा नहीं देता, बल्कि जीवन की परिस्थितियों का तनकर मुकाबला करने की माँग करता है। संन्यास पलायनवाद का विरोधी है। वह जीवन का समग्र रूप में आलिंगन करने की शिक्षा देता है। इस प्रकार कर्म संन्यास व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक लक्ष्य और जीवन दिशा का ज्ञान कराता है। जीवन को समझने तथा आध्यात्मिक उत्थान के लिये व्यक्ति को जीवन की हर परिस्थिति और घटना को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। अपने लक्ष्य, आदर्श और दृष्टिकोण में समुचित सुधार लाकर कर्म संन्यासी जीवन की हर गतिविधि में सक्रिय रूप से हिस्सा लेता है।

जीवन का यही उद्देश्य अन्तिम रूप से व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करता और उसे व्यक्तित्व प्रदान करता है। जीवन के अन्तिम विश्लेषण के रूप में यही कहा जा सकता है कि जो कुछ आप करते हैं, उसका उतना महत्त्व नहीं होता जितना उसके उद्देश्य का होता है। अपने स्वयं के विकास के लिये यह बहुत आवश्यक है कि आप जीवन को सही अर्थों में जीयें। इसके साथ ही हर क्षण आपका लक्ष्य आपके समक्ष स्पष्ट बना रहे। जब आप अपना परिवार बनाते हैं, तो कभी भी परिवार के लक्ष्य और उसकी आवश्यकता को नजरअंदाज न करें। यह अलग बात है कि हर व्यक्ति के अपने अलग-अलग उद्देश्य हो सकते हैं। एक सामान्य आदमी का उद्देश्य आनन्द तथा संतानोत्पत्ति हो सकता है। परन्तु एक उच्च चेतनायुक्त कर्म संन्यासी का उद्देश्य इससे सर्वथा भिन्न होता है।

एक वेश्या के धंधे का उद्देश्य भी महान् हो सकता है। इसके विपरीत हो सकता है किसी मंदिर के पुजारी का, जो प्रतिदिन प्रतिमा का पूजन, अर्चन और आराधना करता है, उद्देश्य महान् और पवित्र न हो। एक डाकू प्रतिदिन हजारों को लूटता और उनकी हत्या करता है, परन्तु हो सकता है वह यह सब कुछ गरीबों को भोजन एवं वस्त्र उपलब्ध कराने और उनकी भलाई के लिये करता हो। एक धन्ना सेठ सैकड़ों परोपकारी संस्थाओं को अपना आर्थिक योगदान प्रदान करता है, परन्तु यह जरूरी नहीं कि उसके इन महान् कार्यों का उद्देश्य परोपकार की शुद्ध भावना ही हो।

अत: एक कर्म संन्यासी का प्रस्थान बिन्दु जीवन को एक नई परिभाषा, दिशा और उद्देश्य प्रदान करता है। यह नई समझ जीवन की हर छोटी-बड़ी घटना को उससे परे छलांग लगाने का एक अवसर अथवा आधारशिला मानती है।

वैराग्य क्या है?

लोगों में आम धारणा पाई जाती है कि वैराग्य का तात्पर्य जीवन में हर वस्तु के त्याग से है। परन्तु यह धारणा सत्य से कोसों दूर है। वैराग्य का अर्थ त्याग कतई नहीं है। परन्तु वैराग्य की मनोवृत्ति जीवन के ऐशो-आराम के बीच रहते हुए भी बनाई जा सकती है। जीवन को त्यागने अथवा नकारने की जरूरत नहीं। वैराग्य की जड़ें मन में अधिक गहराई तक जमी रहती है। इस बात की कोई गारंटी नहीं होती कि जिसने जीवन में सब कुछ त्याग दिया है, वह सच्चे अर्थों में विरागी ही हो। हो सकता है ऊपर से विरागी दिखने वाला व्यक्ति अपने अन्दर राग-द्वेष लिये फिरता हो।

वैराग्य का मतलब उदासीनता अथवा नापसंदगी कभी नहीं होता है। हम बहुधा मानते हैं कि विरागी व्यक्ति अपने चारों ओर के व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति उदासीन रहता है, उनसे घृणा करता है। परन्तु सचाई इसके विपरीत होती है। सच्चा वैराग्य केवल तभी सम्भव है, जब आप जीवन की हर शुभाशुभ घटना से पूरी तरह अप्रभावित रहें। वही व्यक्ति सही अर्थों में वैराग्यवान् कहा जा सकता है जो सफलता-असफलता, मान-अपमान, लाभ-हानि, प्रेम-घृणा अथवा सुख-दु:ख की हर स्थिति में उल्लसित अथवा दु:खी न होते हुए अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखता है।

वस्तु तथा व्यक्तियों से लगाव ही हमारे सुख-दु:ख का कारण है। जिस वस्तु के प्रति हमारा लगाव होता है, हम उस पर निर्भर हो जाते हैं। हमारी यह निर्भरता उस वस्तु की दासता में बदल जाती है। यही लगाव अथवा ममता आगे चलकर हम पर शासन करने लगती है। अब यदि हमारे लगाव की यह वस्तु हमारे सामर्थ्य अथवा पहुँच के बाहर हो, तो हम अत्यन्त दु:खी होकर उसे प्राप्त करने का हवाई महल बनाते रहते हैं। यदि हम उसे प्राप्त कर लेते हैं

तो उसके खो जाने का भय हर क्षण हमें आतंकित करता रहता है। इस प्रकार आपका समूचा व्यवहार तथा सोचने-समझने का ढंग और जीवन के प्रति दृष्टिकोण सीमित और दूषित हो जाता है।

लगाव के साथ ही अधिकार के भाव का उदय होता है मेरा घर, मेरा परिवार तथा मेरा धन की भावना दृढ़ होने लगती है। इस प्रकार के अधिकार की भावना हमारे निम्न अहंकारों की पोषक होती है। यह झूठा अहं अब आपके विचारों, कार्यों, पसंदगी, नापसंदगी, इच्छा तथा वासनाओं को प्रभावित करता है। अब यदि दैववशात् आपके ममत्व की किसी वस्तु के छिन जाने अथवा नष्ट होने का खतरा उत्पन्न होता है तो आप अपना सन्तुलन खो बैठते हैं, पागल हो जाते हैं। इस झूठी, परन्तु गहरी ममता के कारण आप वस्तुओं के मालिक नहीं, बल्कि गुलाम हो जाते हैं।

यदि आप कल्पना के नेत्र से किसी शक्तिशाली विशालकाय मनुष्य को सांकल से बंधा देख सकें, तो अनुभव करेंगे कि ममता के बन्धनों में बंधा मनुष्य कितना सीमित और विवश हो सकता है, क्योंकि वह जय-पराजय के उल्लास अथवा दंश को नहीं सह पाता। वह शटल कॉक अथवा घड़ी के दोलक की भाँति दो अतियों के बीच थपेड़ा खाता, डोलता रहता है। उसका मन तथा व्यक्तित्व इतने मजबूत नहीं होते कि वह हर परिस्थिति के पश्चात् प्रभाव को सन्तुलनपूर्वक सहन कर सके। अंत में वह बुरी तरह टूट कर बिखर जाता है।

वैराग्य हमारे अन्दर कार्य और विचार की स्वतंत्रता लाता है। वह आपको निम्न चेतना के बन्धनों से छुड़ाता है। एक वैराग्यवान् व्यक्ति जीवन के हर आनन्द का उपभोग करता है। वह परिवार बनाता, संतानोत्पत्ति करता, धन तथा पद और यहाँ तक कि एक साम्राज्य का भी निर्माण कर सकता है। परन्तु अपनी वैराग्य भावना के कारण वह इनमें से किसी का गुलाम नहीं बनता। वह एक मालिक की तरह हर वस्तु का उपभोग करता है, गुलाम की तरह नहीं। उसके भीतर एक स्वतंत्रता का भाव होता है जो उसे वस्तुओं की गुलामी से बचाता है। चूँकि वह सर्वथा सन्तुलित और निष्प्रभावित रहता है, कोई भी दु:खद घटना उसे टूटने नहीं देती। इसी कारण वह हर परिस्थिति का स्वामी होता है।

इस प्रकार वैराग्य हमें जीवन की हर कठिनाई तथा परीक्षा की घड़ी में सन्तुलित तथा अप्रभावित रहना सिखाता है। वैराग्य हमें अपने आस-पास

उपस्थित लोगों से प्रेम करना, उनके साथ एकत्व की भावना रखना सिखाता है। इसके पूर्व भी आप व्यक्तियों तथा वस्तुओं से प्रेम करते तथा लगाव रखते थे। परन्तु इसका कारण आपकी उन पर निर्भरता तथा लगाव होता था, क्योंकि इससे आपको सुख तथा तृप्ति का अनुभव होता था। परन्तु वह सच्चा प्रेम नहीं था। बाहर से देखने पर ऐसा लगता था कि आप उनसे प्रेम करते हैं, परन्तु सचाई यह है कि आप स्वयं अपने लाभ के लिये उनसे चिपके थे। यह आपकी मांग थी, आवश्यकता थी, उन पर आपकी निर्भरता थी, उनकी आकांक्षा थी जो आपके भीतर उनके प्रति तथाकथित प्रेम उत्पन्न करती थी।

यदि आपमें वैराग्य दृढ़मूल है, तो आपको इनके प्रति जिस प्रेम का अनुभव होगा वह आपकी पसंदगी, नापसंदगी, लालच अथवा महत्त्वाकांक्षा द्वारा सीमित या संकुचित नहीं होगा। यह प्रेम आपके अपने दृष्टिकोण से अप्रभावित होगा, क्योंकि आप उन वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर जरा भी आश्रित नहीं होंगे, जिन्हें आप चाहते हैं। आप उनसे सिर्फ इसलिये प्रेम करते हैं कि आप उनके साथ एकत्व का अनुभव करते हैं। अपने भीतर वैराग्य को विकसित करने के पश्चात् ही आप अपने व्यक्तित्व की व्यापकता व्यक्त कर सकते हैं तथा अपने भीतर निहित उच्च गुणों को अभिव्यक्ति प्रदान कर सकते हैं। जब तक झूठी ममता की जकड़ में रहेंगे, सीमित रहेंगे, निम्न वासनाओं तथा भावनाओं से बन्धे रहेंगे, तब तक ऐसा सम्भव नहीं है।

इसी कारण गुरु को विश्व चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम कहा गया है। वे प्रत्येक व्यक्ति को समान भाव से प्यार देते तो हैं, परन्तु भीतर से सर्वथा लगावरहित तथा स्वतंत्र रहते हैं। गुरु की दृष्टि में महात्मा-दुरात्मा, धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, सुन्दर-असुन्दर का भेदभाव नहीं होता। वे सबको समान रूप से अपने प्रेम का दान देते हैं।

हालाँकि इस कोटि का वैराग्य कोई सामान्य उपलब्धि नहीं कहलाती। परन्तु इसे अपने दैनिक जीवन में उतारने का हमेशा प्रयास करना चाहिए। कर्म संन्यासी को उन नकारात्मक प्रभावों के प्रति हर क्षण सचेत रहना चाहिए, जो वस्तु तथा व्यक्तियों के प्रति उसके लगाव के कारण, उसके व्यक्तित्व को विपरीत ढंग से प्रभावित करते हैं। उसे अपने भीतर धीरे-धीरे वैराग्य की भावना विकसित करनी चाहिए, ताकि उसे सच्चे सुख और तृप्ति का अनुभव हो सके।

यद्यपि वैराग्य आंतरिक विकास की एक प्रक्रिया है, तथापि कर्म संन्यासी को सर्वप्रथम न केवल अपनी वस्तुओं तथा प्रियजनों के प्रति लगाव की भावना दृढ़ करनी चाहिए, बल्कि जीवन की हर घटना तथा वस्तु के प्रति लगाव का अनुभव करना सीखना चाहिए। यदि वह अपनी सन्तान से प्रेम करता है, तो उसे उनसे भी प्रेम करना सीखना चाहिए जो उसकी अपनी सन्तान नहीं है। यदि वह अपनी सन्तान को सुरक्षित रखने के प्रति सचेत और चिन्तित है, तो उसे उतना ही सचेत और चिन्तित दूसरों की सम्पत्ति तथा वस्तुओं के प्रति भी होना चाहिए। तब वह विश्व की हर वस्तु तथा व्यक्ति के प्रति लगाव तथा ममता का अनुभव करेगा, तभी उसके भीतर सच्चे वैराग्य का उदय होगा।

जब आप आश्रम जाते हैं, जब तक वहाँ ठहरते हैं, उसे अपना ही घर मानते हैं। आश्रम किसी का नहीं है, परन्तु वह सबका अपना घर भी होता है। एक आश्रम उन सभी आश्रम-वासियों तथा आगंतुकों के मिले-जुले कार्यों तथा योगदान का प्रतिफल होता है, जो वहाँ रहते तथा कुछ समय के लिये वहाँ आकर ठहरते हैं। हर व्यक्ति जो आश्रम आता है, उसकी साज-संभाल में पूरा योगदान देता है, जबकि उसमें स्वामित्व का जरा भी भाव नहीं होता। ठीक इसी प्रकार ममत्व अथवा स्वामित्व की भावना के बिना आप भी अपने आस-पास की हर वस्तु से प्यार करना सीखें। यह मनोवृत्ति समय के साथ जैसे-जैसे आपमें विकसित होगी, आपको अपने भीतर उत्तरोत्तर विकसित होते वैराग्य का अनुभव होगा।

अर्हतायें

ऐसा कहा जाता है कि जिस दिन आपके मन में सांसारिक सुखोपभोग के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाये और आध्यात्मिक प्यास बढ़ने लगे, उसी दिन संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए, तथा जिस दिन मन में विवेक जाग्रत हो, व्यक्ति को कर्म संन्यास ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार विवेक और वैराग्य ऐसे दो मूल्यवान् गुण हैं जिन्हें हर आध्यात्मिक जिज्ञासु को अपने अन्दर विकसित करना चाहिए।

जिस प्रकार उच्च और निम्न विवेक होता है, उसी प्रकार वैराग्य भी उच्च और निम्न होता है। निम्न वैराग्य द्वारा बाह्य जीवन तथा उसके भोगों के प्रति विरक्ति के भाव उदय होते हैं। वैराग्य का अगला उच्च सोपान किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति लगाव, खिंचाव, सुख-दुःख, मानसिक उद्वेगों तथा जीवन के अन्य द्वन्द्वों से अप्रभावित रहने के फलस्वरूप प्राप्त होता है।

निम्न विवेक हमारे स्वाद, स्पर्श, घ्राण, ध्वनि एवं दृश्य इन्द्रियों के अन्तर को निश्चित करता है। उदाहरण के लिये हम विशेष भोजनों, संगीत तथा फिल्म आदि के बीच के अन्तर को पहचानते हैं। हम कुछ विशेष लोगों, परिस्थितियों, घटनाओं आदि को अपने विवेक के स्तर के अनुरूप पसन्द करते हैं। एक व्यक्ति अपना अधिकांश समय सत्संग तथा स्वाध्याय में लगाता है, दूसरा उस समय को टेलिविजन देखने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के कार्यों में लगाना पसन्द करता है।

कुछ अन्य लोग भोजन के अन्तर को समझते तथा वही खाद्य पदार्थ ग्रहण करते हैं जो उनके स्वास्थ्य के लिये अनुकूल होते हैं, जबकि दूसरे लोग जो भी, जैसा भी मिल जाये सब ग्रहण कर लेते हैं। पशु भी खाद्य-अखाद्य के भेद को समझता है। यदि आप उसे कोई ऐसा खाद्य पदार्थ दें, जो उसके

स्वभाव और रुचि के अनुरूप नहीं है, तो वह उसे सूँघकर मुँह फेर लेगा। हर व्यक्ति अपने विवेक के स्तर के अनुरूप चुनाव करता है। यदि दैनिक जीवन में निम्न विवेक का अनुभव किया जाये, तो एक दिन ऐसा भी आता है जब उच्च विवेक का उदय होता है। मनुष्य में तर्क की क्षमता जन्मजात निहित होती है जो पशु, पौधों तथा अन्य जीवों से उसे पृथक् करती है। यही क्षमता आगे चलकर उच्च विवेक का मार्ग प्रशस्त करती है।

आत्म-निरीक्षण और विश्लेषण द्वारा उच्च विवेक जाग्रत होता है। जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं जब आप अपने मूल्यों, सिद्धान्तों और जीवन की प्रेरणाओं का लेखा-जोखा करते हैं और तब आप अनुभव करते हैं कि जीवन का उद्देश्य महान् है। मात्र खाना-पीना और सन्तान पैदा करना जीवन का उद्देश्य नहीं है। बस, यही क्षण है जब आप स्वयं को कर्म संन्यास के लिये तैयार पाते हैं। आप जीवन के प्रति अपने योगदान तथा अपने विकास पर पुनर्विचार करते तथा पाते हैं कि आप उस सीमा तक आगे नहीं बढ़ पाये हैं, जहाँ तक आपको पहुँचना था। आपको अनुभव होता है कि आपके बाहरी स्वभाव ने आपकी आंतरिक क्षमताओं को विकसित नहीं होने दिया।

आमतौर पर आपके कार्य करने का आधार इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचनायें होती हैं। आप अपनी पसन्द तथा नापसंद के अनुसार प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त आपके भीतर एक दूसरी क्षमता भी होती है, जो अप्रत्यक्ष ज्ञान तथा सहज बोध का माध्यम होती है। यही आगे चलकर उच्च विवेक उत्पन्न करती है। कदाचित इस स्रोत को पकड़ लें, तो आप अति मूल्यवान् शक्ति के स्वामी बन सकते हैं। इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आप जीवन में क्या हैं, कहाँ हैं। आप जहाँ भी होंगे महिमामंडित, आलोक सम्पन्न व्यक्तित्व के स्वामी होंगे।

इतिहास के हर युग में जो भी महान् पुरुष अथवा महिलायें हुईं, उनकी सफलता का मुख्य कारण यही शक्ति थी, जो अधिकतर लोगों के अन्दर सोयी पड़ी रहती है। जिस क्षण आप इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को जानने-समझने लगते हैं, यह निश्चित मानिये कि आप कर्म संन्यास के लिये तैयार हैं। जब आपको यह अनुभव होने लगे कि आप एक दुनिया का निर्माण कर सकते हैं, अपने लिये स्वर्ग अथवा नरक का निर्माण कर सकते हैं, अपनी क्षमताओं का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग कर सकते हैं, जब आप यह स्वीकार करने लगते हैं कि अपने जीवन में उठने वाली समस्याओं, कठिनाइयों और दुःखों का

कारण कहीं बाहर नहीं, अपितु आपके सीमित स्वभाव के भीतर हैं और जब इन सीमाओं को तोड़कर मुक्त होने की इच्छा बलवती होने लगती है, तब मानिये कि आपमें कर्म संन्यास की पात्रता आ गई है।

अत: विवेक और समझदारी कर्म संन्यास की आधारभूत आवश्यकतायें हैं। यदि आप अपने भीतर इस उच्च क्षमता को विकसित कर सकें, तो मानिये कि आपके लिये कर्म संन्यास का मार्ग खुल चुका है। आप क्या हैं, क्या करते हैं, आपका खान-पान कैसा है, विवाहित हैं अथवा अविवाहित, बूढ़े हैं या जवान, स्त्री हैं अथवा पुरुष, इन बातों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। कर्म संन्यास के लिये जाति, धर्म, लिंग, भाषा तथा राष्ट्रीयता आदि बाधक नहीं होते। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि आपके भीतर विवेक जाग्रत हो और एक अर्थपूर्ण उच्च अस्तित्व की कामना जागे। आप एक ऐसे व्यक्ति हों जो जीवनधारा में पैर जमाकर खड़ा हो सके, न कि उन व्यक्तियों जैसे हों, जो इस प्रवाह में बह जाते हैं।



क्या धर्म बाधक है?

कर्म संन्यास का आदर्श और दर्शन धर्म के किसी भी सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। यद्यपि कर्म संन्यास कोई धार्मिक सिद्धान्त नहीं है, तथापि वह धर्म के मूल्यों, सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिक लक्ष्यों का पोषक है। वह व्यक्ति को किन्हीं नैतिक बन्धनों में नहीं जकड़ता, बल्कि जीवन को एक ठोस और व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान करता है। वह केवल व्यक्ति के हर क्षेत्र में सर्वांगीण विकास को ही अपना लक्ष्य मानता है।

कर्म संन्यास एक दर्शन है जिसे कोई भी व्यक्ति जाति, धर्म, लिंग, रंग अथवा राष्ट्रीयता के भेदभाव के बिना ग्रहण कर सकता है। वह आपसे अपना धर्म त्यागने अथवा दूसरा धर्म ग्रहण करने का आग्रह नहीं करता है। ऐसी कोई दूसरी संस्था अथवा धर्माध्यक्ष भी नहीं होता, जिसे कर्म संन्यास के बाद आपके लिये मानना आवश्यक हो। इसमें गुरु मार्गदर्शक तथा प्रेरणास्रोत होते हैं, परन्तु वे भी आप पर कोई धर्म अथवा सिद्धान्त की बातें नहीं थोपते। आप किसी भी धर्म को मानने के लिये स्वतंत्र रहते हुए कर्म संन्यास ग्रहण कर सकते हैं।

सभी धर्मों का सार तत्त्व लोगों में एकता और सामंजस्य स्थापित करना है। परन्तु सदियों से विभिन्न धर्मों के बीच कटुता तथा खण्डन-मण्डन के कारण लोगों में शत्रुता तथा वैमनस्य व्याप्त हो गये हैं। धर्म ही युद्ध, खून-खराबा, लूट तथा बलात्कार का कारण रहा है। विश्व इतिहास में धर्म के नाम पर जितना खून बहा है, उतना किसी अन्य कारण से नहीं। इसीलिये धर्म अपने उद्‌देश्य से विमुख हो चुका है।

कर्म संन्यास आपको यह अवसर प्रदान करता है कि धार्मिक विश्वासों को परे रख विभिन्न धर्मों के सर्वनिष्ठ दर्शन को ग्रहण करें। आप हिन्दू,

मुसलमान, ईसाई, यहूदी अथवा नास्तिक कुछ भी हों, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। आप अपने धर्म, आस्थाओं तथा नैतिक मूल्यों को अक्षुण्ण रखते हुए कर्म संन्यास के दर्शन को ग्रहण कर सकते हैं। यह आपकी धार्मिक मान्यताओं में विरोधाभास बिल्कुल उत्पन्न नहीं करता। इसके विपरीत यह आपके धार्मिक विश्वासों तथा मान्यताओं को पुष्ट करता है। सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों के लोग कर्म संन्यास की दीक्षा द्वारा आध्यात्मिक एकता के सूत्र में आबद्ध होकर समर्पण की भावना के साथ एक मंच पर एकत्र हो रहे हैं, जिसका उद्देश्य मानव जाति का उच्च चेतनात्मक विकास है।



आश्रम जीवन की सार्थकता

यद्यपि आश्रम-जीवन का मूल प्राचीनकाल में पाया जाता है, तथापि वह अर्वाचीन मानव की आवश्यकताओं के अनुकूल है। आज विश्व के अनेक लोग अपने व्यस्त जीवन में से कुछ समय निकाल कर किसी आश्रम में व्यतीत करना पसन्द करते हैं। इससे उन्हें भौतिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से तरोताजा होने का अवसर मिलता है। निरर्थक आमोद-प्रमोद के बीच छुट्टियाँ बिताने से उतना विश्राम और शान्ति नहीं मिलती, जितनी शान्ति और एकान्त आश्रम-जीवन से प्राप्त होता है।

आइये उन कारणों को समझने का थोड़ा प्रयास करें, जिनसे समूचे विश्व में आश्रम-जीवन का पुनरोदय हो रहा है। सर्वप्रथम तो आश्रम शान्त, एकान्त, प्रकृति की गोद में स्थित होते हैं, जहाँ बाग एवं उद्यान में मुक्त पक्षी चहकते हैं। ये आश्रम शोरगुल से दूर होते हैं, जहाँ व्यक्ति अपने आप में तनावरहित शान्ति का अनुभव करता है। वह स्वयं को अपने निकट पाता है। यह तो एक तथ्य है, परन्तु इसे आश्रमों से मिलने वाली शान्ति का अन्तिम कारण नहीं कह सकते।

उपर्युक्त कारण तो बाह्य वातावरण से सम्बन्धित है। यह स्थान का प्रभाव कहलाता है जिसकी तरंगें वहाँ पाई जाती हैं। जैसे ही हम वहाँ पहुँचते हैं, हमें इसका अनुभव होता है।

कुछ ऐसे भी स्थान होते हैं जो भले ही कितने ही सुन्दर क्यों न हों, उनका अपना नकारात्मक प्रभाव वहाँ पहुँचते ही अनुभव होने लगता है। इसका कारण वे सूक्ष्म शक्तियाँ होती हैं, जो वहाँ के वातावरण में छाई रहती हैं। यह प्रभाव वहाँ रहने वाले व्यक्ति विशेष के कारण कुछ समय तक अनुभव होता है।

आश्रम आध्यात्मिक ऊर्जा के उत्पादक तथा भंडारगृह होते हैं। आश्रमवासी इन प्रभावशाली तरंगों के निर्माता होते हैं। जब कोई आगंतुक आश्रम में आता है, तो वातावरण में व्याप्त इन तरंगों का अनुभव करता है। जैसे किसी कमरे में अनेक वायलिन रखे हों और उनमें से एक को बजाया जाये तो अन्य सभी वायलिनें उन तरंगों का अनुभव करती हैं। इसी प्रकार सात्त्विक और आध्यात्मिक वातावरण, आश्रम में रहने वाले लोगों में पवित्रता, सक्रियता और आध्यात्मिक ऊर्जा की अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

आगन्तुक आश्चर्यपूर्वक इस परिवर्तन का अनुभव उसी क्षण से करने लगते हैं जब वे आश्रम में आते हैं। उनके भीतर की निषेधात्मकता धीरे-धीरे विधायकता में बदल जाती है। निराशा और हताशा साहस और उत्सुकता में बदल जाती हैं तथा जीवन की कठिनाइयों का उत्साहपूर्वक सामना करने का हौसला बढ़ जाता है, बीमारी दूर होने लगती है। शरीर और मन स्वस्थ तथा प्रफुल्लित होने लगते हैं। हो सकता है ऐसे व्यक्ति जिनके व्यक्तित्व की गहराई में निराशा तथा निषेधात्मकता भरी पड़ी हों, आश्रम वातावरण से तत्काल प्रभावित न हों, परन्तु यदि वे कुछ समय तक आश्रम में रहें, तो निश्चय ही उनमें परिवर्तन होगा। उन्हें निराशा और निषेधात्मक तल से बाहर निकलना होगा।

आश्रमों की यही विशेषता है जो लोगों को आकृष्ट करती है। आश्रम का वातावरण, जीवनशैली आदि वहाँ आने वाले हर व्यक्ति के भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व को पुनर्संयोजित करते हैं और वे आश्रम वातावरण के अनुकूल ढल जाते हैं। वहाँ हर व्यक्ति सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

बहुधा हम इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं कि कई बार हमारे नकारात्मक विचार, आदतें तथा व्यक्तित्व हमारे आस-पास के वातावरण को प्रभावित करते हैं। इसका फल यह होता है कि हमारे आस-पास एक नकारात्मक दायरा निर्मित हो जाता है, भले ही इसे हम अव्यक्त अथवा अदृश्य समझते हैं, परन्तु बहुतेरे लोग इसे समझ लेते हैं। कभी-कभी कैरम के रिबाउंड की तरह यह वातावरण हमें ही प्रभावित कर हमारी नकारात्मकता को दृढ़मूल करता है। हममें से अनेक लोग इस विचारशक्ति के प्रभाव का अनुभव करते हैं।

जब हम किसी विशेष स्थान अथवा घर के बारे में अपने अनुभव बताते हैं, तो कहते हैं कि वहाँ का वातावरण सुखद और आकर्षक अथवा बोझिल

तथा अनाकर्षक था। जैसे लोग जिस जगह रहते हैं, वहाँ का वातावरण वैसा ही बन जाता है। वह स्थान वहाँ रहने वाले लोगों के व्यक्तित्व, विचारों और तरंगों को ग्रहण करता है। जब दूसरे लोग वहाँ आते हैं, तो यह वातावरण उन्हें भी अपने ढंग से प्रभावित करता है।

आश्रम के वातावरण में शक्तिशाली विधायी प्रभाव छाए रहते हैं। यदि कहीं से थोड़ी बहुत निषेधात्मकता आ जाये तो वह निष्प्रभावी हो जाती है। इसका कारण आश्रम में रहने वाले लोगों की आध्यात्मिकता और उनका समर्पण भाव होता है। इसलिए जब भी कोई आगन्तुक कुछ समय के लिये आश्रम आता है, तो जाने-अनजाने आश्रम के पवित्र आध्यात्मिक परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। आश्रमवासी अपनी आध्यात्मिक साधना, समर्पण और गुरुभक्ति द्वारा आश्रम के वातावरण को उच्च और गतिशील रखते हैं।

इसी कारण कर्म संन्यासियों को कहा जाता है कि वे प्रतिवर्ष कुछ समय के लिये आश्रम के वातावरण में अवश्य रहें। यदि वे ऐसा करते हैं तो उनके अपने घर में भी आश्रम जैसा वातावरण अवश्य बन सकता है। कर्म संन्यासी का घर एक छोटे आश्रम जैसा बन जाना चाहिए, ताकि जो भी अतिथि या आगन्तुक उनके यहाँ आये, उसे भी शान्ति, एकता तथा पवित्रता का अनुभव हो सके।

परिवार का हर सदस्य अपने भीतरी और बाहरी वातावरण के साथ सामंजस्य तथा समायोजन का अनुभव करे। पारिवारिक जीवन में विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ तो आती ही हैं, क्योंकि जीवन समतल नहीं होता। परन्तु आपत्तियों-विपत्तियों से हमारा सन्तुलन और सामंजस्य नष्ट नहीं होना चाहिए, नहीं होने देना चाहिए। हम शान्ति और आत्मविश्वास के साथ हर आने वाली अप्रिय स्थिति का सामना करें, परन्तु स्वयं को उनसे टूटने न दें। यदि ऐसा होता है तो परिवार का ढाँचा बिखरेगा नहीं। कभी-कभी झगड़े, मतभेद तथा तनाव उपस्थित होंगे, परन्तु परिवार का वातावरण शान्त, सन्तुलित तथा आध्यात्मिक बना रहेगा।

यदि परिवार के सदस्यों ने कर्मयोग द्वारा आश्रम के जीवन दर्शन को आत्मसात् कर लिया है, तो निश्चय जानिये परिवार में उनके बीच हर क्षण सामंजस्य और आपसी समझदारी बनी रहेगी। कर्मयोग हमारे जीवन का एक अंग बन जाना चाहिए ताकि हम हर क्षण, हर जगह उसका अभ्यास कर

सकें। इसलिए यह जरूरी है कि आश्रम में आने वाला हर व्यक्ति वहाँ की हर गतिविधि में भाग लेकर कर्मयोग के रहस्य को समझ सके।

आश्रम का प्रत्येक सदस्य बिना किसी प्रतिफल की आकांक्षा के कार्य करता है। कोई भी ऐसा नहीं सोचता कि वह जो काम कर रहा है, उसके बदले उसे कुछ मिलेगा। हर व्यक्ति अपनी पूरी क्षमता और शक्ति लगाकर बिना फल की परवाह किये कार्य करता है। इससे उसकी चेतना गहरी और विस्तृत होती है तथा उसके कार्य में दक्षता आती है। व्यक्ति को चाहे जो भी काम दे दिया जाये वह उसे करने के लिये सक्षम होता है। इससे उसमें कठिनाइयों और तनावों से बाहर निकलने की क्षमता आती है, जो उसे पारिवारिक जीवन में भी शक्ति और आत्म-विश्वास प्रदान करती है।

कर्मयोग न केवल वैराग्य और निष्काम भाव से किया जाने वाला कार्य होता है, बल्कि वह उच्च एकाग्रता और सजगतापूर्वक किया गया कार्य भी होता है। इस बात का महत्त्व नहीं है कि आप किस प्रकार कार्य कर रहे हैं, महत्त्व केवल इस बात का है कि उसे आप कितनी एकाग्रता और कितनी सजगता के साथ कर रहे हैं। उसमें आप एकाग्रतापूर्वक लगे हैं, अथवा आपका मन फल की इच्छा, नाम और यश की महत्त्वाकांक्षा द्वारा विक्षुब्ध है?

संन्यासी की प्राथमिक साधना कर्मयोग होती है। अन्य साधनायें, जैसे हठयोग, राजयोग तथा क्रियायोग गौण होते हैं। कर्मयोग द्वारा ही संन्यासी अपने संचित कर्मों का क्षय करता है तथा नये संस्कारों का निर्माण और संचय नहीं होने देता। कर्मयोग उसके संस्कारों को नि:शेष करता है। जैसे-जैसे उसका मन साफ होता जाता है, उसकी चेतना तथा एकाग्रता भी परिष्कृत और तीव्र होती जाती है।

उच्च चेतना की उपलब्धि आश्रम के वातावरण में कर्मयोग द्वारा ही सम्भव है। परन्तु कभी-कभी घर और परिवार में अपनी शक्तियों को सकारात्मकता की ओर मोड़ना कठिन होता है, क्योंकि जिन लोगों को आप जानते और जिनके बीच रहते हैं, स्वयं को उनसे पृथक् नहीं कर पाते। परन्तु आश्रम में ऐसा नहीं होता। जिन लोगों के बीच आप रहते और कार्य करते हैं उनसे आपका कोई स्वार्थपूर्ण अथवा निकट सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये आपका अहं आपको दबा नहीं सकता। इसके अतिरिक्त अनेक आश्रमवासियों की आध्यात्मिक साधना और उनकी चेतना कर उच्च स्तर आपको सही दिशा में प्रभावित और प्रेरित करता है।

इसलिये हर कर्म संन्यासी को हर साल अपने व्यस्त जीवन से कुछ समय निकालकर आश्रम आना चाहिए। वह आश्रम आकर ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को आध्यात्मिक चेतना की प्राप्ति की दिशा में लगाना सीख सकता है। आश्रम में ही उसे कर्मयोग की प्रेरणा मिलती है तथा अपने भीतर जाग्रत आध्यात्मिक ऊर्जा का उपयोग वह अपने विकास के लिये कर सकता है। उसके विकास में गति आती है। कर्मयोग का दर्शन उसके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग बनता है और जब वे अपने घर लौटते हैं तो वहाँ भी स्वस्थ, सुन्दर तथा आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करते हैं।



गुरु तत्त्व

अभी तक हम जीवन में गुरु के महत्त्व और उनकी आवश्यकता को पूरी तरह नहीं समझ पाये हैं। गुरु की जितनी परिभाषायें उपलब्ध हैं, वे सब हमें मात्र बौद्धिक जानकारी प्रदान करती हैं। परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में हम गुरु के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते, चूँकि गुरु तत्त्व अपने को मनुष्य के शरीर में अभिव्यक्त करता है, हम उसे सामान्य आदमी की मान्यताओं और दृष्टिकोण से देखते हैं। इसीलिये हम गुरु के साथ एकात्मकता स्थापित नहीं कर पाते हैं, क्योंकि वह हमारी तरह सोते, खाते, हँसते और बोलते हैं। हम समझते हैं कि वह हमारी तरह क्षुद्र इच्छाओं, वासनाओं तथा सीमाओं से बंधे होते हैं। यही कारण है कि हम उन्हें मात्र एक ऐसा शिक्षक और मार्गदर्शक मानते हैं, जिसे आध्यात्मिक ज्ञान तो है, परन्तु वे हम जैसे ही सामान्य व्यक्ति हैं।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। भौतिक शरीर में रहते हुए भी गुरु चेतना के उच्च स्तर पर रहते और कार्य करते हैं। ईश्वर गुरु-रूप में भौतिक तल पर उतरकर अपने भक्तों को रास्ता बताता है। आपका सीमित मन गुरु रूप में ईश्वर तत्त्व को ग्रहण करे, इसलिये वह गुरु-रूप में अवतरित होता है। सीमित मन द्वारा सत्य के असीमित आयाम को समझना और ग्रहण करना कठिन होता है। इसलिये गुरु शिष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कर इस सचाई को समझाने का प्रयास करते हैं। व्यष्टि और समष्टि के मिलन का माध्यम गुरु ही होते हैं।

दिव्य शक्ति को प्रत्यक्ष समझा नहीं जा सकता, क्योंकि समझने वाले व्यक्ति की चेतना सीमित होती है। इसलिये इस दिव्य शक्ति का माध्यम गुरु होते हैं। फिर गुरु के माध्यम से प्रसाद स्वरूप वह शक्ति उतरती है। जब तक शिष्य स्वयं दिव्य शक्ति को ग्रहण करने योग्य नहीं बनता, उसे गुरु के

माध्यम की आवश्यकता होती है। इसीलिये हमेशा अपने गुरु में दिव्यता के दर्शन करने चाहिए। याद रखिये, आप अपने गुरु को जैसा मानते हैं वैसा ही आप बनते हैं। यदि आप उन्हें सामान्य सीमित व्यक्ति के रूप में देखते हैं, तो उनके साथ आपके सम्बन्ध भी सतही रहेंगे। इसके विपरीत यदि आप उन्हें देव स्वरूप देखेंगे, तो समझिये आप शीघ्र ही देवत्व का साक्षात्कार करने वाले हैं।

अन्य साधकों की तरह कर्म संन्यासी के लिये भी गुरु एक अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि गुरु के बिना जीवन में सन्तुलन तथा समायोजन संभव नहीं होता। गुरु का मार्गदर्शन आपत्ति-विपत्ति में भी आध्यात्मिक मूल्यों को उसकी आँखों से ओझल नहीं होने देता। इसके साथ ही वह हमेशा जीवन के अन्तिम उद्देश्य को याद रखता है। यह जरूरी नहीं कि गुरु के साथ आपका लंबा वार्तालाप हो, वह आपको आदेश और निर्देश दें। उनकी उपस्थिति ही आपको प्रेरित और पवित्र करने के लिये पर्याप्त होती है। आप किसी शिक्षक से योगाभ्यास सीख सकते हैं, आध्यात्मिक दिग्गजों के विद्वत्तापूर्ण प्रवचन सुन सकते हैं, परन्तु यह निश्चित मानिये कि अंत में आपको गुरु की आवश्यकता पड़ेगी ही, जो शिक्षक से बढ़कर कुछ अन्य होते हैं। ऐसे गुरु दुर्लभ होते हैं। उन्हें पाने के लिये आपको अपने भीतर एक श्रेष्ठ और निष्ठावान साधक बनना होगा। केवल तभी आप गुरु की दिव्यता समझ पायेंगे। आपके निर्णय और निष्कर्ष आपकी मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति के अनुरूप होते हैं। जब तक किसी अंधे को उसकी दृष्टि वापस न मिल जाये, वह सूर्य के प्रकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ठीक इसी प्रकार जब तक आप अपने भीतर दिव्यता का अंश उत्पन्न नहीं करते, आप गुरु की दिव्यता का अनुभव नहीं कर सकते।

एक बार गुरु को पा लेने, उनसे मन्त्र दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद शिष्य को हर स्तर पर उनके साथ निरन्तर गहरा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये। तभी वह आध्यात्मिक जीवन में आपकी सहायता और मार्गदर्शन करेंगे। हमेशा याद रखिये कि गुरु न तो सामान्य आदमियों जैसे होते हैं और न ही उनके शिक्षण की विधियाँ ऐसी होती हैं जिनसे आप परिचित होते हैं। उनका लक्ष्य शिष्य में आत्मज्ञान और आत्मचेतना जाग्रत करना होता है। इसके लिये वे चाहे जो पद्धति अपनायें, आपको बुरा नहीं मानना चाहिए। जब एक बार आपने स्वयं को उनके प्रति समर्पित कर दिया,

तो उन्हें जाँचने-परखने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। शिष्य का अपने सीमित मन और चेतना द्वारा गुरु को कसौटी पर कसना अनुचित है।

शंका शिष्य के जीवन को अस्तव्यस्त कर देती है। गुरु से प्रश्न अवश्य कीजिए। किन्तु वे जो कहें उस पर शंका न कीजिये, श्रद्धापूर्वक उस पर मनन-चिन्तन कीजिये। जिज्ञासा पूर्ति के लिये प्रश्न करना तथा उनके उत्तरों पर शंका करना अलग-अलग मनोवृत्तियाँ हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रश्न करना जरूरी है, परन्तु शंका करने का मतलब गुरु जो कहते हैं उसे अस्वीकार करना होता है। शंका के रूप में हमारा अपना अहं ही पनपता तथा बढ़ता रहता है।

कर्म संन्यासी जब एक बार गुरु के प्रति समर्पित हो जाये, तो हर क्षण उसे गुरु द्वारा प्रेषित प्रेरणाओं को ग्रहण करना चाहिए। यदि वह चेतन तथा अवचेतन तलों पर सतत् उनका स्मरण करे, उनके सान्निध्य का अनुभव करे, तो उसकी ग्रहणशीलता सूक्ष्म और तीक्ष्ण हो सकती है। उसे कभी ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि, मैंने सब कुछ नहीं त्यागा है, मैं गुरु के मिशन का प्रभावशाली माध्यम नहीं बन सकता। ऐसा माध्यम बनने के लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं होता कि आपने कितना क्या त्यागा है अथवा यह कि आप गुरु के भौतिक सान्निध्य में कितना अधिक रहते हैं। हो सकता है आप उनसे हजारों मील दूर रहते हों और पाँच-दस वर्षों में एक बार उनका दर्शन कर पाते हों। आप भौतिक जीवन के कार्यकलापों में भले ही पूर्ण रूप से डूबे हों, आप उनके मिशन के माध्यम हो सकते हैं। बस, इतना जरूरी है कि आप जो कुछ करते हैं उसमें उनकी पवित्र उपस्थिति का अनुभव करें।

गुरु को अपना अभिन्न अंग और निकटतम मित्र समझें, जो छाया की तरह हर समय आपके साथ बना रहे। जब आप भोजन करें, वे भी आपके साथ खाते अनुभव हों, जब आप चलचित्र या दूरदर्शन देखें, आपको अनुभव हो कि वे भी आपके साथ देख रहे हैं, जब आप सोयें तो आपको ऐसा लगे कि हर क्षण आपमें उनकी उपस्थिति बनी हुई है। कभी ऐसा न सोचिये कि चूँकि वे हर क्षण आपके साथ हैं, आपका अच्छा और भला ही होना चाहिए।

अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह व्यक्त होने दीजिये। परन्तु उन्हें थोड़े समय के लिये भी स्वयं से अलग न कीजिये। गुरु आपके निकटतम घनिष्ठ मित्र होते हैं। उनसे कुछ भी न छिपाइये। कुछ समय बाद आपका चेतनात्मक और मानसिक स्तर इतना विकसित होगा कि आप गुरु की प्रेरणा तरंगों को समझने

में सक्षम होंगे और इस प्रकार आत्मिक एवं मानसिक स्तर पर उनके और आपके बीच दूरी समाप्त हो जायेगी।

कर्म संन्यासी के रूप में गुरु के मिशन में आपकी विशेष भूमिका होती है। आपका गृहस्थ जीवन आपकी गुरु सेवा के सामर्थ्य को सीमित नहीं करता। यदि आप ग्रहणशील हों तो गुरु की सशक्त आध्यात्मिक ऊर्जा को प्रभावशाली ढंग से संचरित कर सकते हैं। समाज का सदस्य होने के नाते आप विभिन्न लोगों के सम्पर्क में आते हैं। इसलिये उनके बीच अपने गुरु के ज्ञान और शिक्षाओं का प्रचार कर सकते हैं।

दूसरों पर अपनी विचारधारा न थोपिये। उपदेश द्वारा नहीं, बल्कि आदर्श प्रस्तुत कर लोगों को शिक्षित कीजिये। आपको लाखों की भीड़ में प्रकाश स्तंभ की तरह आलोकित होना चाहिए, ताकि दु:ख-दर्द के मारे लोग प्रेरणा और सहायता के लिये आपकी ओर आकर्षित हों। आपका सन्तुलन, ज्ञानालोक तथा विवेक उन लोगों के लिये मार्गदर्शक दीपस्तंभ बने, जिन्हें आध्यात्मिक पथ प्रदर्शन तथा ज्ञान-लाभ की आवश्यकता हो। इस प्रकार आप उन्हें अध्यात्म मार्ग पर ले चलने में उनके सहायक हों। कर्म संन्यासी के रूप में आप गुरु को दक्षिणा देकर उनके महान् कार्य में योगदान कर सकते हैं। दक्षिणा का तात्पर्य गुरु के समक्ष अहम् का समर्पण होता है। धन-सम्पत्ति के प्रति लगाव आपके अहम् को मजबूत बनाता है। आप अपनी प्रिय वस्तुओं को जब गुरु को दक्षिणा के रूप में अर्पित करते हैं, तो आपके व्यक्तित्व की गहराई में पैठे अहं की जड़ें कटती हैं। याद रखिये, गुरु आपसे भेंट के रूप में मिलने वाली धन-सम्पत्ति के भूखे नहीं होते। उनका एकमात्र उद्देश्य आपका आध्यात्मिक कल्याण होता है, जिसके लिये उनको आपके धन की आवश्यकता नहीं होती है। उन्हें आपकी सम्पत्ति की कतई जरूरत नहीं।

सच तो यह है कि जब भी आप गुरु को दक्षिणा देते हैं, तब इससे आपकी जरूरतें पूरी होती हैं, उनकी नहीं। जब आप अपने धन का एक अंश उन्हें अर्पित करते हैं, तो उसके साथ ही आपका अहं भी विसर्जित होता है, कर्म कटते और आध्यात्मिक विकास में गति आती है। आप दक्षिणा देते दिखते हैं, परन्तु यथार्थ में आप कुछ पाते ही हैं। आप अपने भीतर की किसी कमी की पूर्ति करते हैं। एक तरफ आपका अहं विसर्जित होता है, तो दूसरी ओर आपकी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है। एक शिष्य के नाते संसार की बड़ी से बड़ी प्रियतम वस्तु भी गुरु को समर्पित करने में किंचित भी झिझक नहीं होनी

चाहिए। गुरु सर्वोत्तम वस्तु के हकदार होते हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं को अपने शिष्यों के आध्यात्मिक उन्नयन के लिये समर्पित कर दिया है। वह संपन्न-विपन्न, सुखी-दुःखी, कमजोर, बलवान् सभी का मंगल करते हैं तथा उनसे किसी रूप में प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रखते। इसलिए आपको सपने में भी ऐसी महान् आत्मा की सेवा और सहायता करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

एक कर्म संन्यासी के रूप में गुरु के सम्बन्ध में आपको निम्नलिखित बातें हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए। सर्वप्रथम ऐसे गुरु को खोजिये जो एक सामान्य शिक्षक से अधिक कुछ और हों। दूसरे, उनके साथ आपका गहरा तादात्म्य हो, उन पर शंका न हो, बेझिझक उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करें और उन्हें अनावश्यक कसौटियों पर न कसें। तीसरे, स्वयं को उनकी कृपा और प्रसाद का माध्यम बनायें तथा अपने भीतर उच्च आध्यात्मिक चेतना को विकसित कर उनके आदेशों और प्रेरणाओं को ग्रहण करने का सतत् प्रयास करें। अन्तिम तथा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब भी अवसर मिले गुरु सेवा करने से पीछे न हटिये।



दीक्षा

अनेक लोग सोचते हैं कि कर्म संन्यास में दीक्षा आवश्यक नहीं है। उनकी मान्यता है कि दीक्षा के बिना भी कर्म संन्यास के आदर्शों को प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु यह सत्य नहीं है। जिस प्रकार जीवन के हर स्तर पर धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं; जैसे–नामकरण, पाणिग्रहण, उसी प्रकार कर्म संन्यास का जीवन प्रारम्भ करने के अवसर पर दीक्षा संस्कार होता है।

दीक्षा का उद्देश्य उसकी पवित्रता और लक्ष्य को पाने का दृढ़ संकल्प होता है। यह आपके नये जीवन में प्रवेश करने का संस्कार होता है। साथ ही यह कुछ मूल्यों और आदर्शों को मानने और ग्रहण करने का भी अवसर माना जाता है।

यद्यपि अनुष्ठान और कर्मकाण्ड बाहरी होते हैं, तथापि व्यक्ति के आंतरिक स्तर पर वे एक सूक्ष्म परिवर्तन लाते हैं। यह बाह्य क्रिया जीवन को एक नये दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ करने का प्रतीक होती है। यह प्रक्रिया देश-काल के नियमों से बंधी नहीं होती, अपितु यह एक सतत् प्रक्रिया है जिसका प्रभाव हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व पर पड़ता है। यह हमारे आत्मबल तथा सुषुप्त क्षमताओं को जाग्रत करती है। दीक्षा उस मार्ग के प्रति आपके समर्पण का प्रतीक होती है, जिसे आपने अपनाने का संकल्प लिया है। आपत्ति-विपत्ति के समय दीक्षा आपको याद दिलाती है कि आपने एक महान् उद्देश्य को प्राप्त करने का संकल्प लिया है।

अनेक लोग एक गुरु, एक मार्ग और एक जीवन-शैली अपनाने से घबराते हैं, इसलिये दीक्षा का नाम सुनकर वे भयभीत हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि दीक्षा द्वारा बंध जायेंगे और जीवन में आने वाले अनेक अवसरों को चूक जायेंगे, परन्तु यह निश्चित है कि दीक्षा द्वारा अनेक लाभ होते हैं।

दीक्षा आपको एक निश्चित लक्ष्य और उद्देश्य प्रदान करती है, जिससे जीवन में सार्थकता आती है। अनेक लोग जीवनभर लक्ष्य ही खोजते रहते हैं और जब उन्हें उसका पता लगता है, तो स्वयं को उसके प्रति समर्पित करने से हिचकिचाते हैं। यह निश्चित है कि जीवन में लक्ष्य की खोज के लिये उसके परे जाना ही होगा। कर्म संन्यास दीक्षा आपको जीवन-शैली बदलने के लिये बिलकुल मजबूर नहीं करती। इसमें समर्पण, मूल्यों की मान्यता और परिवर्तन आदि सब कुछ आंतरिक तल पर घटित होता है।

समाज का सदस्य होने के नाते आप यह सोचकर डरते हैं कि कर्म संन्यास दीक्षा ग्रहण करने पर लोग आपके विषय में क्या धारणा बनायेंगे। कहीं लोग आपसे घृणा तो नहीं करने लगेंगे अथवा आपका मजाक तो नहीं उड़ायेंगे। परन्तु जरा सोचिये कि दूसरों के विचारों और दृष्टिकोण के अनुरूप आप कब तक चलेंगे। जीवन में अनेक लोग आते-जाते हैं, परन्तु अंत में आपको केवल अपने साथ जीना सीखना होगा। कोई भी जीवन-दर-जीवन आपका अनुसरण करने वाला नहीं है। यह यात्रा आपको अकेले ही पूरी करनी है। इसलिये आप अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के लिये स्वयं ही जिम्मेदार हैं। भले ही इसमें लोग आपको चोट पहुँचायें, अपमानित करें अथवा तिरस्कार करें।

कभी-कभी आप कर्म-संन्यास दीक्षा के नियमों, अपेक्षाओं तथा अनुशासन की चिन्ता कर भयभीत होने लगते हैं। परन्तु यह अनावश्यक दुश्चिन्ता है। आप अपने भीतर निहित अपार क्षमता को जानकर आश्चर्यचकित होंगे। अपनी इस महान् धरोहर के प्रति आप अभी तक अनभिज्ञ थे। परन्तु कर्म-संन्यास दीक्षा के बाद यह क्षमता व्यक्त होने लगती है। आप अपने मन, शरीर और आस-पास के वातावरण पर इसके प्रभाव का अनुभव करने लगते हैं। जीवन के प्रति आपका वर्तमान दृष्टिकोण गलत विश्वासों और दर्शन पर आधारित होता है। कर्म संन्यास दीक्षा आपको सही दृष्टिकोण, जीवन-दर्शन और जीवन-शैली प्रदान कर आपके जीवन में गतिशीलता लाती है। आप स्वयं तथा जगत् के प्रति अधिक जागरूक और सचेत रहते हैं। आप जीवन को अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण से देखते हैं। कर्म संन्यास आपको जीवन के द्वन्द्वों के परे जाना सिखाता है। आप जीवन के रहस्यों को समझने लगते हैं। आप जीवन प्रवाह की दिशा में बहते हैं, उसके विपरीत नहीं। आप हर परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। उनसे न तो भयभीत होते हैं और न ही उन्हें स्वयं पर हावी होने देते हैं।

दीक्षा, गुरु और आपके बीच कभी न टूटने वाला सम्बन्ध जोड़ती है। दीक्षा के समय गुरु अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा का एक अंश शिष्य को प्रदान करते हैं और आध्यात्मिक जीवन की ऊँचाई पर पहुँचने की प्रेरणा देते हैं। गुरु और शिष्य के बीच आध्यात्मिक आदान-प्रदान का प्रतीक दीक्षा होती है। यदि शिष्य अपना जीवन गुरु को समर्पित करता है, तो गुरु भी उसके आध्यात्मिक मार्गदर्शन का उत्तरदायित्व लेते हैं। इस लेन-देन का प्रतीक दीक्षा होती है।

कर्म-संन्यास दीक्षा के समय गुरु, शिष्य को गेरू धोती, माला और एक आध्यात्मिक नाम देते हैं, जो कर्म-संन्यास में उसके दीक्षित होने के प्रमाण होते हैं। आध्यात्मिक नाम, आपके भीतर छिपी महान् शक्तियों की ओर संकेत करता तथा आपको उन्हें जाग्रत करने की प्रेरणा देता है। आपमें से प्रत्येक की बाह्य रूपाकृति के पीछे महान् शक्ति का भंडार भरा पड़ा है। आध्यात्मिक नाम शक्ति के इस भंडार से आपको जोड़ता है। गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा आपके भीतर छुपी क्षमताओं का पता लगा लेते हैं। फिर उसी के अनुरूप नाम प्रदान करते हैं। यह नाम अत्यन्त व्यक्तिगत होता है और आध्यात्मिक जीवन में इसका विशेष अर्थ होता है।

गेरू धोती आपकी आध्यात्मिक शक्ति, चेतना तथा गतिशीलता की द्योतक होती है। गेरू रंग शान्ति और स्थिरता का प्रतीक होता है। इसलिये लोग उसके प्रति आकृष्ट होते हैं। जाने-अनजाने लोग आपकी आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास करने लगते हैं। कर्म-संन्यासी को साधना के समय गेरू वस्त्र धारण करने चाहिये, क्योंकि उसका व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। घर पर खाली समय में भी गेरू वस्त्र पहन सकते हैं, परन्तु यह अपनी परिस्थिति, सुविधा और वातावरण देखकर करना चाहिए।

दीक्षा के समय गुरु शिष्य को प्रसाद स्वरूप जो माला देते हैं, उसे भी साधना के समय पहनना चाहिए। गुरु में एक ऐसी शक्ति होती है जो दीक्षा के समय इन वस्तुओं को आवेशित करती है। इसलिये इन्हें सामान्य वस्तु की तरह नहीं लेना चाहिए। भले ही आप हर समय इसका उपयोग न करें, परन्तु इन्हें अच्छी तरह संभालकर रखें और इनसे प्रेरणा लेते रहें।

दीक्षा ऐसी अनुभूतियों के भंडार का द्वार खोलती है जिनका अनुभव आपको पहले कभी नहीं हुआ था अथवा यदि होता भी था तो आप उसे समझ नहीं पाते थे। दीक्षा विकास की कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया को गति देती

है और शिष्य अपने बाह्य वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। दीक्षा के बाद ही आध्यात्मिक जीवन की सीढ़ियों पर आपकी चढ़ाई प्रारम्भ होती है। कर्म-संन्यास दीक्षा के बिना शिष्य का गृहस्थ जीवन अधूरा रहता है।

कुछ पाने के लिये समर्पण प्रथम अनिवार्य शर्त होती है। जीवन के हर क्षेत्र में यह जरूरी है। आप जो कुछ पाना चाहते हैं, यदि उसके प्रति आपमें निष्ठा और समर्पण का अभाव है तो आपके सारे प्रयत्न निष्फल होंगे। समर्पण द्वारा ही प्रगति, संतोष और तृप्ति का अनुभव होता है। दीक्षा इस समर्पण की झलक दिखाती है तथा एक कर्म संन्यासी के रूप में जीवन के द्वन्द्वों के पार जाने में आपकी सहायता करती है।



साधना

मन की ग्रंथियों को खोलने और कुंठाओं से मुक्त होने की युक्ति साधना है। सामान्यत: आप मन और बुद्धि का उपयोग जीवन की कठिन परिस्थितियों से सफलतापूर्वक निपटने के लिये करते हैं। यह एक सामान्य प्रक्रिया है, क्योंकि जब भी आपका कठिनाइयों से सामना होता है, मन और बुद्धि आपकी सहायता के लिये दौड़ पड़ती हैं। यद्यपि मन और बुद्धि दैनिक जीवन की माँग पूरी करती हैं, तथापि जहाँ तक आध्यात्मिक जीवन का सवाल है, उन्हें उच्चतर अनुभवों के लिये प्रयुक्त करना श्रेयस्कर होता है।

जब आप मन और बुद्धि का अतिक्रमण करने में समर्थ होते हैं, तब आपको अपने भीतर सहजबोध की गहन क्षमता की झलक मिलती है, जो उच्च ज्ञान का शक्तिशाली स्रोत होती है। इस पवित्र अनुभव को मन विहीनता कहा जा सकता है, जिसमें विचार और विचारक एकरूप हो जाते हैं। उस समय विचार आप पर हावी नहीं हो सकते। यह दिव्य अनुभव कहलाता है।

अब प्रश्न उठता है कि इस स्तर तक कैसे पहुँचा जाये। ऋषि-मुनि घोषणापूर्वक कहते हैं कि केवल पुरुषार्थ के द्वारा आध्यात्मिक जीवन में कुछ पाया जा सकता है। अन्तिम विश्लेषण हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि दृढ़ संकल्प और अविराम प्रयत्न द्वारा ही साधक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

निश्चय ही गुरु एक अपरिहार्य माध्यम होते हैं। उनके माध्यम से ही दिव्य ऊर्जा शिष्य के अन्दर उतरती है। गुरु आपके मार्गदर्शक, प्रेरणास्रोत और आध्यात्मिक अनुभवों के सूत्रधार होते हैं। वे शिष्य के आध्यात्मिक उत्थान को तीव्रता प्रदान करने के लिये स्वयं उसके कर्मों को ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु ऐसा केवल तभी होता है जब आपमें उनके लिये अपार श्रद्धा,

निष्ठा और समर्पण हो। आपमें आध्यात्मिक जीवन के लिये प्यास और तड़प हो।

साधना काल में आप स्वयं की गहराई में डूबे रहते हैं। अन्य अवसरों पर आपकी चेतना बहिर्मुखी होती है। साधना काल में ही थोड़े समय के लिये आप देश-काल की सीमाओं के परे चले जाते हैं। उस समय आपको स्वयं अपने अन्दर एक विलक्षण रूप के दर्शन होते हैं, जिसे सामान्य जीवन में कल्पना की उड़ान कहा जाता है।

साधना काल में आप सूक्ष्म और कारण तल पर अपने विचारों, वासनाओं, कामनाओं और कर्मों को नि:शेष करते हैं। इस प्रकार आप पवित्र, शुद्ध हो कुंठा और वर्जनाओं से मुक्त हो जाते हैं। यही कारण है कि मात्र घण्टे भर की साधना के बाद आप हल्केपन, स्फूर्ति और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। आपके मन और आत्मा का बोझ हल्का हो जाता है। यह जन्म-जन्मान्तरों से आपके मन और चेतना पर बोझ बनकर पड़ा था। जिस प्रकार एक भारवाहक अपने सिर पर से भारी बोझ उतारकर हल्केपन का अनुभव करता है, कुछ वैसा ही अनुभव साधक को साधना के बाद होता है।

कर्मों का संचय तीव्र गति से होता है। सचाई तो यह है कि आप निरन्तर कर्मों के संस्कार संचित करते हैं। यह संचय आपके आगामी कार्यों को निर्धारित करता है। अत: संस्कारों के संचय को रोकने के लिये कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक साधना नियमित रूप से अवश्य करनी चाहिए, ताकि इस निरन्तर बढ़ने वाले बोझ से आप चरमरा न जायें।

प्रश्न यह नहीं है कि आपकी साधना का स्वरूप क्या हो। महत्त्व इस बात का है कि जो भी साधना आप करें, वह नियमित हो। जब तक आप अपनी योग साधना में नियमित रहेंगे, भले ही आप उसे थोड़ा ही समय दें, आप अपनी आंतरिक यात्रा में बहुत आगे बढ़ सकेंगे। साधना में अनियमितता बहुत बड़ी बाधा है जिसे आपको दूर करना ही होगा, अन्यथा आपकी गति रुक जायेगी।

आध्यात्मिक खोज का लक्ष्य ज्ञान का संचय नहीं होता, उसका लक्ष्य ज्ञान का प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुभव होता है। इसके लिये नियमित, निरन्तर साधना की आवश्यकता पड़ती है। यदि आप एक वर्ष नियमित साधना करें और फिर छ: माह तक सब कुछ बन्द कर दें, तो आपका कहना अनुचित होगा कि आपने एक वर्ष साधना की है, क्योंकि जहाँ तक अनुभव का सवाल है, आपका वह एक वर्ष का प्रयास निष्फल हो गया है। जहाँ तक

बौद्धिक ज्ञान का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि आपका समय व्यर्थ नहीं गया।

ज्ञान और अनुभव में यही मौलिक अन्तर है। ज्ञान के मार्ग पर आप उस बिन्दु से पुन: यात्रा प्रारम्भ कर सकते हैं जहाँ आप रुक गये थे, परन्तु अनुभव के लिये आपको पुन: प्रारम्भ से साधना शुरू करनी होगी। चूँकि आध्यात्मिक खोज का अन्तिम लक्ष्य ज्ञान नहीं, अनुभव है, इसलिए आपको अपनी साधना में नियमित रहना बहुत आवश्यक है।

महर्षि पतंजलि अपने योगसूत्र में इस नियमित साधना को अभ्यास कहते हैं। उनकी मान्यता है कि अभ्यास ही मन की चंचलता को दूर करता है। गुरु आपको जो दैनिक साधना क्रम बतलाते हैं, वही अभ्यास कहलाता है। अत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि के लिये अभ्यास बहुत मूल्यवान् बन जाता है।

आध्यात्मिक जीवन में सत्संग और स्वाध्याय बड़े सहायक होते हैं। परन्तु अंत में आपको अपने समस्त संचित ज्ञान को व्यक्तिगत अनुभव में परिवर्तित करना होगा। इसके बिना आपमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ध्यान का अनुभव पाने के लिये आपको दीर्घकाल तक प्रतिदिन ध्यान करना होगा और तभी आपको कुछ परिणाम दिखाई देगा।

कर्म संन्यासी होने के साथ-ही-साथ आपके कुछ कर्त्तव्य और दायित्व होते हैं। आपका अपना व्यवसाय है, नौकरी है, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ हैं। आपका पूरा समय अपना नहीं होता। हो सकता है मीलों चलकर आप अपनी नौकरी के स्थान में पहुँचते हों, देर रात थके मांदे घर लौटते हों। घर पर आपको भोजन तैयार करना, घर के कामकाज निपटाना तथा परिवार के सदस्यों की देखभाल करनी पड़ती हो, आपकी शक्ति इन कार्यों में समाप्त हो जाती हो। फिर इतना सब होने के बाद केवल बिस्तर ही आपको अच्छा लगता हो।

इन सब के बावजूद आपको अपनी साधना में नियमित रहने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए। यह अनुशासन बड़ा कठोर लगता है, परन्तु निश्चय ही इसका परिणाम बड़ा लाभदायक होता है। आप अपने दैनिक कार्यों से कम थका करेंगे। आपको अपने भीतर शक्ति का अनुभव होगा। आपका अपने तथा दूसरों के साथ बढ़िया तालमेल और समझबूझ रहेगी। साधना प्रतिदिन आपको नई शक्ति, उत्साह और दिशा प्रदान करेगी। आपके अन्दर छुपी अपवित्रता और सभी अवांछित बातें जो साधनाविहीन दिनचर्या में उत्पन्न होती हैं, आपके पास नहीं फटकेंगी।

कर्म संन्यासी को अपने व्यस्त जीवन के बावजूद नियमित रूप से साधना करनी चाहिए, भले ही आप इसके लिये कम-से-कम समय दे पायें, परन्तु इसे नियमित रूप से अवश्य कीजिये। जरूरी नहीं कि आप घंटों साधना करें, परन्तु जो भी करें उसमें नियमित अवश्य रहें। एक समय और स्थान निश्चित कर लें। फिर प्रतिदिन उसी समय तथा स्थान में साधना कीजिये। स्थान और समय का पालन बड़ा फलदायी होता है। जब आप किसी निश्चित स्थान पर दीर्घकाल तक साधना करते हैं, तो वहाँ का वातावरण आपके भीतर से निकलने वाली ऊर्जा तरंगों से आविष्ट हो जाता है। फिर बाद में जब कभी भी आप उस जगह में पहुँचते हैं, तो थोड़े ही समय में शान्ति और अन्तर्मुखता का अनुभव करने लगते हैं। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया अधिकाधिक सरल होने लगती है। यदि कोई अन्य व्यक्ति भी उस स्थान पर पहुँच जाये, तो वह वहाँ की आध्यात्मिक तरंगों द्वारा शान्ति और पवित्रता का अनुभव करेगा।

आध्यात्मिक साधना के लिये उपयुक्त वातावरण होना चाहिए। अपने घर में कोई ऐसी जगह निर्धारित कर लीजिये, जहाँ अपेक्षाकृत कम व्यवधान पड़े। एक कंबल या आसन इस कार्य के लिये उपयोग कीजिये। साधना के लिये निर्धारित समय पर हाथ, पैर और मुँह धोकर बैठिये। धूप, दीपक या अगरबत्ती जला लीजिये। फिर स्थिर आसन में ध्यान अथवा अन्य निर्धारित साधना कीजिये।

कर्म संन्यासी के साथ-साथ आप समाज और परिवार के भी सक्रिय सदस्य होते हैं। इसलिये बहुत अधिक अन्तर्मुखी होने से बचिये। यदि आप जरूरत से अधिक गहन साधना करेंगे, तो परिवार और समाज के साथ आपका तालमेल टूट जायेगा। साधना द्वारा मन का सन्तुलन और विकास भिन्न रूप में होता है। फिर साधक के भीतर इस नयी मानसिक अवस्था एवं व्यवहार तथा आवश्यक सामान्य अवस्था के बीच सन्तुलन नहीं रह पाता। जब आप अपने दैनिक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं तो आपकी इच्छा होती है कि शान्त, एकान्त स्थान पर बैठकर ध्यान की गहराई में उतर जायें।

ऐसा करना कर्म संन्यासी के लिये उचित नहीं होता। हर कीमत पर आपको अपनी दोनों अवस्थाओं के बीच सन्तुलन बनाये रखना चाहिए। ऐसा न हो कि आपका आध्यात्मिक जीवन आपके सामान्य दैनिक जीवन पर हावी होकर आपको भौतिक कठिनाइयों में डाल दे। इसके विपरीत आदर्श स्थिति तो वह कहलायेगी जब आपकी आध्यात्मिक साधना आपके भौतिक, जागतिक कार्यों में निपुणता लाये। इसके लिये नियमितता आवश्यक है, परन्तु साधना में तीव्रता

या अधिकता वांछनीय नहीं है। हाँ, जब आप अवकाश में हों, आपके पास कोई दूसरा कार्य न हो, तो आप गहन साधना में लग सकते हैं।

वर्ष अथवा छः माह में कुछ सप्ताह अथवा दिन गहन एकान्त साधना के लिये निर्धारित कर लीजिये, परन्तु बाकी समय में सामान्य नियमित साधना ही कीजिये। गहन साधना के इस काल में भोजन, निद्रा, एकान्तवास आदि से सम्बन्धित नियमों का कड़ाई से पालन कीजिये।

इस एकान्तवास के काल में केवल साधना ही आपके अवधान का केन्द्र होनी चाहिये। इस समय मित्र, सम्बन्धी, समाचार पत्र, रेडियो, दूरदर्शन आदि से एकदम दूर रहिये। इस पूरे काल में आपका अपने साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहे। यदि घर में अथवा अन्य दूसरी जगह ऐसी व्यवस्था न हो पाये, तो किसी आश्रम, जंगल, समुद्र किनारे अथवा पर्वतीय स्थान पर चले जाइये।

जब यह गहन साधना काल समाप्त हो जाये तो अपनी पुरानी जगह लौटकर, अपने दैनिक कार्य-कलापों में पूर्ववत् संलग्न हो जाइये। अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को जाग्रत करने के साथ-साथ दैनिक कार्यों को दक्षतापूर्वक करते रहने के लिये यह युक्ति बड़ी प्रभावकारी होती है। समय-समय पर उपवास करना तथा मौन रहना भी आध्यात्मिक विकास को गति प्रदान करता है। इससे शरीर और मन की सफाई भी होती है। जिस प्रकार समय-समय पर अतिसार हमें परेशान करता है, उसी प्रकार मन का अतिसार बोझ और स्नायविक तनाव का कारण होता है। इसलिये सप्ताह में एक दिन उपवास रखना लाभदायक होता है। उपवास के दिन सूर्यास्त के पश्चात् शुद्ध शाकाहारी आहार ग्रहण कीजिये। दिन में आप फलों का रस या जल ले सकते हैं। इससे आँतों की अच्छी तरह सफाई होती है तथा शरीर और मन को नई शक्ति मिलती है।

मौन द्वारा शरीर और मन को ऊर्जा तो मिलती ही है, उनकी संवेदनशीलता भी बढ़ती है। परन्तु उपवास की तरह मौन साधना अधिक नहीं करनी चाहिए। मौनकाल में योगाभ्यास, जप, ध्यान अथवा स्वाध्याय कीजिये। अपनी चेतना को इतना विकसित तथा तीव्र कीजिये कि आत्मिक स्तर पर आपका गुरु के साथ तादात्म्य स्थापित हो सके। उनका मनन-चिन्तन कीजिये। अपने आंतरिक जगत् से जुड़े रहिये। बाह्य जगत् का चिन्तन इस काल में रोक दीजिये। अन्य साधना की तरह इस एकान्त निर्जन साधना के लिये भी अपने गुरुदेव से सलाह, निर्देशन एवं मार्गदर्शन प्राप्त कीजिये।

स्वाध्याय

साधना के समय कभी-कभी ऐसे भी क्षण आते हैं जब आप निराश हो जाते हैं तथा आपकी श्रद्धा विचलित होने लगती है। दीर्घकाल तक परिश्रमपूर्वक नियमित साधना करने पर भी जब कोई आंतरिक अनुभूति नहीं होती तब आपको अन्तिम लक्ष्य मृगमरीचिका जैसा लगता है। जब तक आपको अन्तिम अनुभूति नहीं होती, वह आपको काल्पनिक, दुर्लभ तथा पहुँच से परे लगता है। कदाचित् आप अपने लक्ष्य को पाने में असफल रहते हैं तो उत्साह के अभाव में, भ्रम के कारण या तो साधना में कटौती करते हैं, अथवा उसे एकदम बन्द कर देते हैं।

अब यदि ऐसे समय में आपको उत्साहित करने वाला न हो, आपकी विचलित श्रद्धा को दृढ़ करने वाला न हो, तो आप हताश-निराश हो सकते हैं। ऐसा तो कभी भी, किसी के भी साथ हो सकता है। आध्यात्मिक साधना में ऐसे क्षण तो आते ही हैं। यह आशा करना कि हर समय आप प्रफुल्लित, आशान्वित और श्रद्धावान् बने रहेंगे, गलत है। ऐसा सोचना अव्यावहारिक है।

अनिर्णय, अविश्वास और उत्साह में कमी हमारे अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं। अब यह आपके ऊपर निर्भर है कि आप इनसे किस प्रकार अप्रभावित रह सकते हैं। सूरज भी तो कभी-कभी बादलों से ढक जाता है, परन्तु जैसे ही बादल छँटते हैं, वह पहले से कहीं अधिक चमकदार दिखता है। इसलिये इन अवसरों पर डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब आपको लगे कि आपकी श्रद्धा और विश्वास की जड़ें हिल रही हैं तब इस स्थिति से भी कुछ-न-कुछ प्राप्त कीजिये। जब शंका और अविश्वास के बादल छँट जायेंगे तब आपको साधना में पहले से कहीं अधिक उत्साह, आनन्द एवं संतोष का अनुभव होगा।

साधना के साथ अपने उत्साह और प्रेरणा को तीव्र करने की युक्तियाँ भी खोजते रहिये। इनमें से अत्यन्त उपयोगी और रचनात्मक युक्ति स्वाध्याय को माना जाता है। इसके अंतर्गत शास्त्रों का अध्ययन, आत्म-निरीक्षण और आत्म-विश्लेषण आते हैं। साधक को अपने साधनामय जीवन में स्वाध्याय को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

हर समय संत-महात्माओं का सत्संग करना तथा प्रवचन सुनना सम्भव नहीं होता, परन्तु आध्यात्मिक साहित्य का कहीं भी और कभी भी स्वाध्याय किया जा सकता है। जब भी आपको लगे कि आपका मन साधना में नहीं लग रहा है, आपकी श्रद्धा और विश्वास डगमगा रहे हैं तो उन्हें पुनर्स्थापित करने के लिये स्वाध्याय प्रारम्भ कीजिये। इससे आप पुनः सन्तुलित होंगे तथा आपकी श्रद्धा और विश्वास पूर्ववत् दृढ़ होंगे। जब आप उन महान् आत्माओं के जीवनवृत को पढ़ेंगे, तो देखेंगे कि किस आत्मविश्वास के साथ उन्होंने जीवन के आघातों को सहकर आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य को प्राप्त किया था। पुनः आपमें भी आत्मविश्वास और लक्ष्यप्राप्ति का दृढ़ संकल्प एक बार फिर दृढ़मूल हो जायेगा।

कर्म संन्यासी के लिये श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा ही उपयोगी तथा मार्गदर्शक संदर्भ ग्रंथ है। इस ग्रंथ की एक केन्द्रीय विशेषता यह है कि यह किसी धर्म अथवा संप्रदाय विशेष में आस्था रखने का उपदेश नहीं देता। यह एक ऐसे व्यावहारिक दर्शन का उपदेश देता है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपयोगी है, भले ही उसकी धार्मिक मान्यतायें और विश्वास कुछ भी हों। गीता जीवन में आपकी स्थिति अथवा उत्तरदायित्वों में थोड़ा भी हस्तक्षेप नहीं करती। वह न तो आपको अपने धर्म, श्रद्धा अथवा विश्वास को त्यागने की सलाह देती है और न ही अन्य धर्मों को ग्रहण करने के लिये प्रेरित करती है। वह आपके निर्वाचित आध्यात्मिक पथ को आलोकित कर उस पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ने के लिये आपको प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान करती है। उसका लक्ष्य आपको बचाना, काल्पनिक भय से रक्षा करना तथा आपकी चेतना का उत्तरोत्तर विकास करना है।

संसार में शान्ति और सन्तुलनपूर्वक रहना असंभव नहीं है। गीता हमें यही सिखाती है। गीता की पृष्ठभूमि कुरुक्षेत्र का युद्ध प्रांगण है। इस युद्ध का तात्पर्य कुरुक्षेत्र में कौरव तथा पाण्डवों के बीच लड़े गये महाभारत से ही नहीं, बल्कि हममें से प्रत्येक के भीतर निरन्तर हो रहे महाभारत से है। जब अर्जुन युद्ध के

मैदान में असंख्य योद्धाओं को युद्ध प्रारम्भ करने के संकेत की प्रतीक्षा में सन्नद्ध खड़ा देखता है, जब इनमें उसे अपने अनन्य निकट संबंधियों के चेहरे दिखलाई पड़ते हैं, तो वह बुरी तरह विचलित हो जाता है। उसे लगता है कि युद्ध नितांत व्यर्थ एवं मूर्खतापूर्ण कार्य है। वह लड़ने से साफ इन्कार कर देता है।

अर्जुन के अनिर्णय और विषाद को दूर करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण उसे गीता के उपदेश द्वारा एक उपयुक्त मनोवृत्ति अपनाने की सलाह देते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं कि कर्म विमुखता, कर्म के सिद्धान्त के विरुद्ध है। वे कहते हैं कि मनुष्य को कर्म के त्याग द्वारा नहीं, बल्कि कर्म करते हुए अपनी चेतना को विकसित करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य के हर कार्य का सम्बन्ध उसकी चेतना के विकास से होता है।

अर्जुन कर्म से मुक्ति चाहता है। परन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह सम्भव नहीं है, क्योंकि कर्म न केवल शरीर द्वारा, बल्कि मन के द्वारा भी होते हैं। कर्म चेतन तथा अवचेतन मन के अनिवार्य कार्य होते हैं। जब तक प्रकृति में प्रेरणा देने की शक्ति है, कर्मों को निर्मूल नहीं किया जा सकता। कर्म केवल तभी बन्धनकारक होते हैं जब उन्हें करते समय हमारे भीतर दुःख-सुख, लाभालाभ तथा राग-द्वेष की भावना रहती है। कर्म नहीं, बल्कि उसके फल की इच्छा बन्धनकारक होती है। जब तक आप इस शरीर में हैं, कर्म से छुटकारा नहीं मिल सकता, परन्तु यदि कर्म के पीछे फलासक्ति न हो तो वह मोक्ष और ज्ञानालोक का माध्यम हो सकता है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं–सही, गलत तथा अकर्म। कर्म न करने से आलस्य और निष्क्रियता आती है। गलत कर्म का आधार वासना, अज्ञान और आंतरिक संकेतों को न समझ पाना होता है। सही कर्म वह होता है जो हमारे भीतर नियंत्रण और सामंजस्य लाता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि सही कर्म उच्च आत्मज्ञान में बदल जाता है। जब आप कर्मफल का परित्याग कर देते हैं, तब वह आत्मसाक्षात्कार का निमित्त बनता है। वह बन्धनकारक नहीं होता। गीता कर्म के बन्धन से मुक्ति का उपदेश देती है, कर्म त्यागने का नहीं।

यही कर्मयोग का दर्शन है जो गीता का प्रमुख उपदेश है। पूर्ण सजगता तथा एकाग्रतापूर्वक अपने निर्धारित कार्य करते रहिये। जब आप अपने काम में पूरी तरह दत्तचित रहते हैं तो आपका निम्न अहम् सिर नहीं उठा पाता। अनेक अवसरों पर आपने इसका अनुभव किया होगा।

श्रीकृष्ण स्वयं एक गृहस्थ के साथ-साथ महान् कर्म संन्यासी भी थे। भले ही वे ईश्वरावतार रहे हों, हम उन्हें एक पूर्ण मानव के रूप में देखते हैं। वैराग्य उनके जीवन का महान् आदर्श रहा है। वे काम के लिये काम करते थे। आप भी यदि ऐसा करें तो कार्य आपके लिये आनन्द का स्रोत बनेगा, परन्तु उसके फल की आशा कर उसके बन्धन में न बंधिये। युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण अर्जुन को निम्न शब्दों द्वारा उत्साहित करते हैं–

"वह जो अत्यन्त कार्यशील रहते हुए भी अपने भीतर शान्ति और स्थिरता का अनुभव करता है, सचमुच महान् योगी और मूर्धन्य विद्वान् होता है।"

भले ही आप बाजार के बीच, या हवाई अड्डे पर खड़े हों या बड़ी विपत्ति में फँसे हों, आपके भीतर वही शान्ति और सन्तुलन कायम रहेगा जो गहरे ध्यान की अवस्था में प्राप्त होता है। यदि आप ऐसा कर पायें तो समझिये कि आपने जीवन के रहस्य को समझ लिया है और स्वयं अपने स्वामी बन गये हैं, यदि नहीं तो अवश्य आप में कहीं कुछ कमी रह गयी है।

गीता वह महान् ग्रंथ है जिसमें मानवता के उत्थान के लिये आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन का स्वस्थ समन्वय किया गया है। गीता में वह महान् ज्ञान भरा पड़ा है जो आध्यात्मिक जीवन में सबका मार्गदर्शन कर सकता है। यही एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें उच्च चेतना प्राप्त करने के मार्गों के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यह आपके समक्ष केवल आपका लक्ष्य रखती है तथा उसे प्राप्त करने का मार्ग दिखाती है।

राजर्षि जनक

एक दिन महान् योगी शुकदेव गृहस्थाश्रम सम्बन्धी पुराणों के कुछ अंश पढ़कर विचलित हो गये। उनके पिता महर्षि व्यास ने उन्हें समझाने का प्रयास किया कि गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए भी एक गृहस्थ आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि कर सकता है। शुकदेव इस तर्क को समझ नहीं पाये। उन्होंने पिता से पूछा– "एक गृहस्थ, जो स्वयं सांसारिक जीवन और माया से लिप्त हो, मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है? क्या गृहस्थ जीवन के आनन्द को भोगते हुए उनसे निर्लिप्त रह सकता है? उसके कर्मों को अकर्म कैसे कहा जा सकता है? वह जल में कमल के पत्ते की तरह किस प्रकार अप्रभावित रह सकता है? उसके मन से शत्रु-मित्र, राग-द्वेष, भले-बुरे के द्वन्द्व किस प्रकार दूर रह सकते हैं? क्या वह सबको समान दृष्टिकोण से देख सकता है, विशेष रूप से तब जब द्वन्द्वों से भरे संसार में उसे रहना पड़ता है?"

चूँकि शुकदेव इस विषय को लेकर बहुत उद्विग्न थे, महर्षि व्यास ने उन्हें राजा जनक की कथा सुनाई। जनक महान् राजर्षि के साथ-साथ एक आदर्श गृहस्थ भी थे। मिथिला पर, जो वर्तमान बिहार राज्य का अंग है, उनका शासन था। राज्य का शासन कार्य चलाते हुए उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। वह अपने समय के एक कुशल प्रशासक थे। देखने में वे एक चक्रवर्ती सम्राट् की तरह रहते थे, परन्तु उनका मन, भावनायें और चिन्तन महान् ऋषियों जैसा था। वे स्वयं के प्रति बड़े ईमानदार थे। यह बात उनके कार्यों और विचारों द्वारा स्पष्ट थी। जो भी व्यक्ति बाहर से आता, इस महान् शासक की असाधारण विद्वत्ता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था।

उन दिनों सभी वर्गों के लोगों के लिए गुरु आवश्यक थे। यहाँ तक कि राजा-महाराजा भी अपने दरबार में गुरु को सम्मानपूर्वक रखते थे। कहीं-कहीं

वे अपने गुरु के दर्शनों के लिए वन में उनके आश्रम में जाया करते थे तथा वहाँ सामान्य जन की तरह रहते थे। गुरु के आश्रम में धन और पद के कारण किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाता था। महर्षि याज्ञवल्क्य जनक के गुरु थे, जिन्हें राजा बड़ी श्रद्धा और सम्मान देते थे। महर्षि भी जनक को न केवल इसलिए चाहते थे कि वह राजा थे, बल्कि इसलिए कि उन्होंने अपने भीतर वैराग्य और समदृष्टि को विकसित कर लिया था।

याज्ञवलक्य के अन्य शिष्य जनक के प्रति उनके प्रेम को देखकर जलते तथा उन पर पक्षपात का आरोप लगाते थे। एक दिन ऋषि ने अपने शिष्यों को यह दिखाना चाहा कि जनक कितने समर्पित आदर्श शिष्य हैं। उन्होंने अपने योग बल से मिथिला की राजधानी में आग लगा दी। पूरा नगर धू-धू कर जलने लगा। सभी शिष्य अपना समान बचाने के ख्याल से इधर-उधर भागने लगे। केवल महाराज जनक नहीं भागे। उन्होंने अपनी सम्पत्ति और खजाने की चिन्ता छोड़ जनता के जानमाल की सुरक्षा पर ध्यान दिया। उन्होंने मंत्रियों को आदेश दिया कि सब कुछ छोड़कर पहले जनता की सुरक्षा पर ध्यान दें।

ऐसी विपत्ति के समय जनक जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने सोचा कि यदि मिथिला जल जाए, सम्पत्ति और महल नष्ट हो जाए तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा, परन्तु राजा के नाते मेरा सर्वप्रथम कर्त्तव्य जनता की कुशलता तथा सुरक्षा है। अब शिष्यों की समझ में आ गया कि याज्ञवल्क्य क्यों जनक को अधिक चाहते हैं। एक अज्ञानी पुरुष अपने जानमाल की चिन्ता पहले करता है, परन्तु एक उदार विद्वान् दूसरे के जानमाल की सुरक्षा स्वयं से कहीं बढ़कर करता है।

शुकदेव ने ध्यानपूर्वक जनक की कथा सुनी। उन्होंने खड़े होकर पिता से कहा कि मैं महाराज जनक से मिलने जा रहा हूँ। उन्होंने कहा कि सांसारिक माया में उलझे रह कर भी इतनी ऊँची विद्वत्ता और समदृष्टि प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह कहाँ तक सच है, मैं स्वयं अपनी आँखों से देखना चाहूँगा। ऐसा कह वह मिथिला के लिए चल पड़े। वे सीधे राजा के दरबार में पहुँचे। यह जानते हुए कि शुकदेव उनसे क्यों मिलना चाहते हैं, राजा ने उन्हें तीन दिनों तक प्रतीक्षारत रखा। इन तीन दिनों तक शुकदेव का राजकीय आतिथ्य किया गया, परन्तु इससे वे जरा भी प्रभावित नहीं हुए। इस प्रकार उनकी निष्ठा की परीक्षा कर महाराज जनक ने उन्हें दरबार में आने की अनुमति प्रदान की।

शुकदेव ने राजा को प्रणाम कर कहा– "राजन् मेरे पिता ने मुझे विवाह करने तथा परिवार रचने की आज्ञा दी है, परन्तु मैं विवाह नहीं करना चाहता, वह एक बन्धन है। इधर मेरे पिता का दृढ़ विश्वास है कि यदि विवाहित जीवन को सही ढंग एवं उचित दृष्टिकोण से जीया जाये तो वह भी आत्म-साक्षात्कार का माध्यम हो सकता है। यह बात मेरी समझ से बाहर है। इसलिए उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है, क्योंकि आप स्वयं राजपाट और परिवार के बीच रहते हुए जीवन मुक्त योगी हैं।"

राजा ने युवक शुकदेव को इशारे से अपने पास बुला कर कहा– "मनुष्य के लिए इच्छाओं और वासनाओं के जाल से बाहर आना बड़ा कठिन है। इच्छायें कभी मरती नहीं। उन्हें समाप्त करने के लिये यह जरूरी है कि धीरे-धीरे उनकी जड़ पर प्रहार कर उन्हें निर्मूल किया जाये। जिस प्रकार एक चींटी किसी वृक्ष की जड़ को धीरे-धीरे खाती और अंत में उसे भूमिसात् कर देती है, उसी प्रकार मनुष्य को भी धीरे-धीरे अपनी इच्छाओं को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इच्छाओं का नियम बड़ा कठिन होता है। यही कारण है कि कमजोर मन और इच्छाशक्ति वालों के लिये इच्छाओं पर विजय पाना असम्भव होता है। इच्छायें मनुष्य को प्रभावित करती हैं। चाहे वह बड़ा से बड़ा त्यागी क्यों न हो। इसलिए पहले यह जरूरी है कि आप अपने मन, शरीर और भावनाओं पर नियंत्रण स्थापित करें। जब आप दैनंदिन गृहस्थ जीवन में रहते हुए यह प्रयास करेंगे तो आपको अपनी शक्ति और सीमाओं का ज्ञान प्राप्त होगा। आप जान सकेंगे कि आप कितने पानी में हैं। तभी आप स्वयं को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने योग्य पायेंगे।

शरीर, मन और आत्मा के उत्थान के लिये गृहस्थ जीवन को अध्यात्म का प्रथम चरण माना गया है। यदि मनुष्य गृहस्थी के बीच रहते हुए उच्च चेतना का विकास कर सके, जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दु:ख आदि को स्वस्थ और सन्तुलित रहते हुए ग्रहण कर सके तो अनंत सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। इसके लिये उसे जीवन की किसी भी वस्तु को नकारने की थोड़ी भी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि मैं राजकाज में लगा हूँ, तथापि किसी भी प्रकार का दु:ख-सुख, लाभ-हानि मुझे कतई प्रभावित नहीं करते।

इसका कारण यह है कि मैं अपने समस्त कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का पालन बिना किसी लाभ, अपेक्षा अथवा लगाव के करता हूँ। मैं अपने उत्तरदायित्वों को कर्त्तव्य समझता हूँ। यदि कोई भी इस दृष्टिकोण से जीवन

में व्यवहार करे तो उसे तृप्ति एवं कृतकृत्यता का अनुभव होगा, भले ही वह गृहस्थ हो या संन्यासी। सुख-दु:ख, बन्धन अथवा मुक्ति का स्रष्टा मन ही होता है। जीवन में अपनी स्थिति का त्याग, मुक्ति नहीं दिलाता। मुक्ति तो तभी मिल सकती है जब एकदम अप्रभावित रहते हुए हम अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करें।"

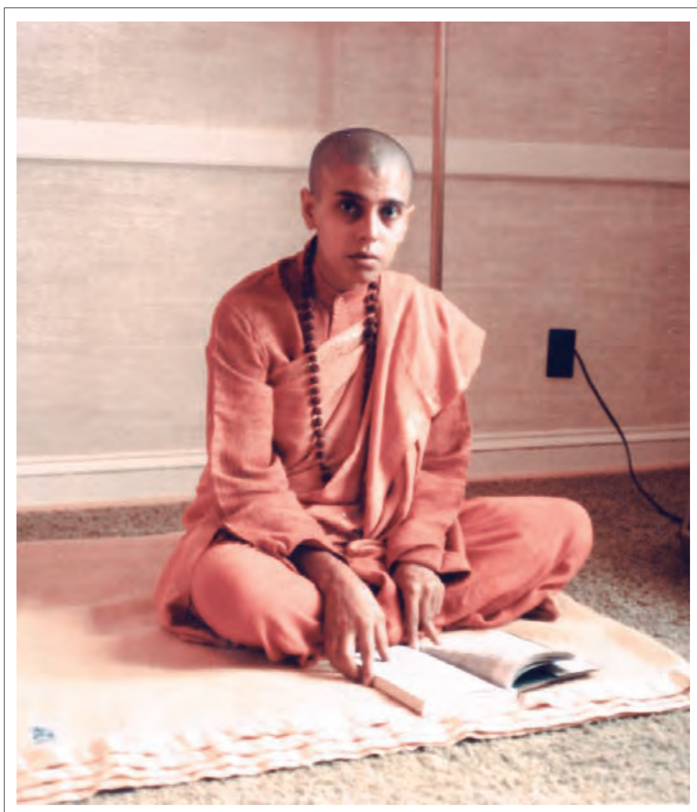
महाराज जनक की बात पूरी होने के पूर्व ही शुकदेव ने पूछा– "राजन्! यह किस प्रकार सम्भव है कि मनुष्य अपने कर्म के फल की इच्छा का त्याग करे और जीवन के कार्य-कलापों में जुटा रहे? आप स्वयं राजा हैं तथा इन्द्रियों के विषयों से बँधे हैं। आपकी दृष्टि में चोर, चोर है; संत, संत है तथा जिन्हें आप चाहते हैं वे आपको प्रिय हैं। जब आप सफल होते हैं तो प्रसन्नता और जब असफल होते हैं तो दु:ख का अनुभव करते हैं। जब आप अपने बैरी के विषय में सोचते हैं, धन-सम्पत्ति के नुकसान की सूचना पाते हैं अथवा सेना तथा प्रशासन की कमजोरी तथा त्रुटियों की जानकारी प्राप्त करते हैं, तो निश्चय ही आप उद्विग्न होते होंगे। फिर बताइये आप जैसा उच्च पदस्थ व्यक्ति किस प्रकार इन प्रभावों से स्वयं को अछूता रख सकता है?

महाराज जनक ने शुकदेव के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा– "आपने जो प्रश्न उठाया है वह सही है। मैं धन-सम्पत्ति के विषय में उतना ही चिन्तित रहता हूँ जितना दूसरे लोग। मैं अपने परिवार के सदस्यों से प्रेम करता हूँ, उनकी देखभाल करता हूँ। मैं चोर को चोर की तरह तथा संत को संत की तरह देखता हूँ। उन्हें उचित दंड देता अथवा सम्मान करता हूँ। परन्तु, चूँकि मैं अपने कर्मों के फल की आकांक्षा नहीं रखता, मैं भीतर से उनसे जरा भी प्रभावित नहीं होता। सफलता-असफलता, सुख-दु:ख मुझे विचलित नहीं कर पाते। एक राजा के नाते दक्षतापूर्वक शासन संचालित करना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। राज्य की सीमा और खजाने की वृद्धि, आतताइयों का दमन, न्याय तथा दंड विधान तथा जनता का हित साधन मेरे कर्त्तव्य हैं। पिता तथा पति के रूप में परिवार के सदस्यों से प्रेम करना, उनकी जरूरतें पूरी करना और सुरक्षा प्रदान करना मेरे पवित्र कर्त्तव्य हैं।

परिवार और जनता की सुख-समृद्धि के कार्यों में मैं पूरी तरह जुटा रहता हूँ। इससे मुझे सुख और संतोष मिलता है। परन्तु दूसरों में और मुझमें एक सूक्ष्म अन्तर है। वह यह कि मैं इनमें से किसी के साथ भी लगाव नहीं रखता। यदि सब कुछ नष्ट हो जाये तब भी मैं अप्रभावित रहता हूँ। अपने कर्त्तव्य

पालन से मुझे संतोष मिलता है। अपने कार्यों के परिणाम से मैं जरा भी विचलित नहीं होता। अपने कर्त्तव्य पालन में अपनी समस्त शक्ति और मन लगाने से मुझे सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। यदि आपकी मानसिक बनावट इस प्रकार की न हो, यदि आप सब कुछ त्याग दें तो भी आप दु:खी रहेंगे। यह दु:ख अन्तिम श्वास तक आपका पीछा नहीं छोड़ेगा, भले ही आप निर्जन एकान्त या शोरगुल के बीच क्यों न रहें।"

जनक के इन वचनों को सुनकर शुकदेव ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। उनका तथा अन्य ऋषि-मुनियों का आशीर्वाद लेकर वे अपने पिता के पास लौट आये। उन्होंने पीवरी नामक एक सुन्दर युवती से विवाह किया। इसके साथ ही योगमार्ग का अवलंबन भी किया। परिवार में रहते हुए योगाभ्यास द्वारा उन्होंने चेतना की उच्चतम अवस्था प्राप्त की।



मूल सहज प्रवृत्ति

अधिकतर मनुष्यों के जीवन को नियंत्रित करने वाली वह मूल प्रवृत्ति क्या है? उसकी प्रेरणा का स्रोत क्या है? उसकी चेतना की गहराई में छुपी हुई उसकी प्रमुखतम आवश्यकता क्या है? क्या वह मोक्ष की आकांक्षा है? नहीं, यदि आप मन की गहराई में प्रवेश करेंगे तो वहाँ आपको कुछ दूसरी ही बात मालूम पड़ेगी। जिस चीज की लोग उपेक्षा करते हैं, जिस चीज को नकारा जाता है उसका चेतनापूर्वक सामना करना बहुत मुश्किल होता है। मनुष्य की इस मूल सहज प्रवृत्ति की उपेक्षा तथा उसके साथ जोर-जबर्दस्ती एक दिन स्वयं उसके विनाश का कारण बनती है।

प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी शक्ति है जो मनुष्य के जीवन में भारी असंतोष, क्लेश और अतृप्ति को जन्म देती है। एक क्षण के लिये मनुष्य को छोड़ दें तथा पशु एवं वनस्पति जगत् को ही लें तथा यह पता लगाने की कोशिश करें कि इनके पीछे प्रेरक तत्त्व क्या है? पशु अथवा पौधे की समूची शक्ति उत्पत्ति में ही व्यय होती है। यदि आप प्रकृति की कार्यशैली को देखें तो पायेंगे कि उनके समस्त कार्यकलाप उत्पत्ति की प्रक्रिया ही दर्शाते हैं।

यही बात मनुष्य पर भी सही उतरती है। परन्तु उसने इस आद्य प्रवृत्ति की अस्वीकृति और उपेक्षा से अपने अन्दर द्वन्द्व एवं भ्रम को जन्म दिया है। हजारों वर्षों से यौन प्रवृत्ति को जानबूझकर अपवित्र कहा गया है। इसकी महान् क्षमता को मानने की अपेक्षा मनुष्य ने इसका दुरुपयोग किया, छुपाया अथवा इसके अस्तित्व को नकारा है। सत्य तो यह है कि मनुष्य के भीतर यौन प्रवृत्ति से अधिक सशक्त और कुछ भी नहीं है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि आप इसके प्रयोजन और जीवन में इसकी उपादेयता को अच्छी तरह समझ लें।

आजकल स्थिति यह है कि हम यौन विषयों पर चर्चा करने से घबराते हैं। हमारी झिझक तथा मानसिक कुंठायें इस विषय पर चर्चा करने से रोकती हैं। कुछ लोगों के लिये यौन विषय पर बातें करना अलमारी के भीतर से नर कंकाल बाहर निकालने जैसा होता है। वे समझते हैं कि यौन सम्बन्धी विचार हमारे व्यक्तित्व का गंदा और घृणास्पद आयाम है, इसलिए उसका दमन, उसकी अनदेखी और उसके अस्तित्व को नकारना सामान्य बात हो गई है। परन्तु यह तो समस्या का कोई समाधान नहीं है।

क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि जिस चीज की आप उपेक्षा करते हैं वह बार-बार आपके मन में उठती है? जितना अधिक आप यौन क्रिया की मांग को दबायेंगे वह उतनी ही बलवती होकर बार-बार सिर ऊपर उठायेगी। इस शक्ति को कुचलकर आप बिल्कुल इससे मुक्त नहीं हो सकते। आप इसे जितना अधिक दबाने की कोशिश करेंगे, आपकी चेतना की गहराई में यह भावना उतनी ही अधिक दृढ़मूल होती जायेगी।

यौन क्रिया के प्रति हमारा यह दृष्टिकोण हमारे व्यक्तित्व में अन्तर्द्वन्द्व पैदा करता है। मनुष्य जब वासना के इस आनन्द को संयत करने में असमर्थ होता है, समझ नहीं पाता है, अथवा उसे अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर पाता है तो वह अन्यान्य स्नायुरोग, मानसिक असन्तुलन, भय, चिन्ता, तनाव, उद्विग्नता तथा यौन विकृतियों का शिकार हो जाता है। उसमें आत्मविश्वास घटता और असुरक्षा की भावना बढ़ती है। इस सबके लिए केवल व्यक्ति ही उत्तरदायी नहीं है, बल्कि धर्म और नैतिक विश्वास कहीं अधिक उत्तरदायी हैं, क्योंकि वे हमेशा कहते हैं कि यौन क्रिया अपवित्र है, पाप है। इस विचारधारा ने सैंकड़ों वर्षों से मनुष्य के दिमाग की इस कदर धुलाई की है कि वह अन्तिम रूप से समझने लगा है कि यौन क्रिया पाप है, बुराई है तथा आध्यात्मिकता की दुश्मन है।

इन आपत्तियों के जवाब में हम यही कह सकते हैं कि यदि यौन क्रिया पाप है, तो परमात्मा जिसने इस विशाल सृष्टि को रचा है, सबसे बड़ा पापी है। वही क्यों, हम सबके सब पापी हैं। अपनी इस गलत समझ और विकृत मन-मस्तिष्क के कारणीभूत इस महान् ऊर्जा को हमने समस्त बुराइयों का स्रोत मान लिया है। यौन क्रिया को बुरा कहने का मतलब अपने स्वभाव के बीच दरार डालने जैसा है। इससे हमारे व्यक्तित्व में कुंठायें ही कुंठायें उत्पन्न होती हैं। यौन क्रिया हमारे स्वभाव का एक अनिवार्य अंग है। आप चाहे उसे दबाने

के लिए स्वयं से कितनी ही लड़ाई करें, उसे भला-बुरा कहें, परन्तु अंत में आप पायेंगे कि आप उससे छुटकारा पाने में कामयाब नहीं हो सकते, क्योंकि जीवन और प्रकृति की इस अनिवार्य विशेषता को देखने और समझने का आपका दृष्टिकोण सरासर गलत है।

भूतकाल में इस बात को किसने कहा, आज कौन कह रहा है और भविष्य में कौन इसकी घोषणा करेगा यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्तिम सत्य यह है कि यौन क्रिया आध्यात्मिक जीवन में कतई बाधक नहीं है। आप कौन हैं, क्या हैं इससे उसका थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है। यदि आप इस सत्य से मुँह मोड़ लें तो इसका मतलब यह होगा कि आप अपने व्यक्तित्व के विकास की जड़ें खोद रहे हैं। आप स्वयं को ऐसे संयम और दमन का शिकार बना रहे हैं जो इस अनिवार्य माँग को दबा नहीं सकता। आप इसके दुष्परिणामों को सह नहीं सकते और यदि आप बलात् ऐसा करते हैं तो इसके परिणाम अत्यन्त विनाशकारी हो सकते हैं। प्राचीन संस्कृति और आदिम जातियों ने कभी यौन क्रिया के विषय में इतनी भ्रांति पैदा नहीं की। जब जहाँ आवश्यकता हुई, उन्होंने इसे निःसंकोच अभिव्यक्ति प्रदान की। इसका परिणाम यह हुआ कि यौन क्रिया को लेकर उनके मन में कभी भी कोई कुंठा अथवा वर्जना नहीं रही, क्योंकि उन्होंने इसे कभी भी बुरा नहीं समझा। इसलिए उस काल के इतिहास में हमें कहीं भी समलैंगिक सम्बन्ध, यौन विकृति, कामुकता, बलात्कार, आक्रमण अथवा वेश्यावृत्ति का उल्लेख नहीं मिलता। कदाचित् अर्वाचीन समाज में ये विकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं, तो उनका मूल कारण यौन क्रिया के विषय में हमारा विकृत चिन्तन है। यह बड़े दुःख की बात है कि यौन क्रिया के विषय में गलत विचार आज हमारे मन-मस्तिष्क पर बुरी तरह हावी हो गया है। जहाँ तक माता-पिता का सम्बन्ध है, यौन क्रिया की बुराइयों ने, उसके विषय में त्रुटिपूर्ण चिन्तन ने, उनके मन-मस्तिष्क को धो डाला है। यही कारण है कि बच्चों में बचपन से ही इस विषय को लेकर भय भर दिया जाता है।

सच्ची बात तो यह है कि यौन क्रिया के विरुद्ध इतना सब कुछ होने के बाद, वह आज भी पैर जमाकर खड़ी है। आप यौन क्रिया को रौंदकर कैसे रह सकते हैं? आज भी मनुष्य इस क्रिया में भूतकाल से कहीं अधिक प्रवृत्त होता है, परन्तु नकारात्मक मानसिक अनुकूलन यौन क्रिया को लेकर उसके मन में भय, कुंठा और अपराध की सृष्टि करता है। आजकल बहुतेरे लोगों

में अकारण भय, स्नायुरोग तथा कुंठाओं का प्रमुख कारण उनकी अनियंत्रित यौन वासनायें हैं। आप समझते हैं कि आप एक पापपूर्ण कृत्य कर रहे हैं, जबकि आपका इस तरह सोचना शत-प्रतिशत गलत और त्रुटिपूर्ण है।

माता-पिता अपने बच्चों को यौन क्रिया और वासना की बुराइयाँ बताते हैं और जब वह स्वयं इसमें प्रवृत्त होते हैं तो उनके बच्चों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। बच्चे इस ढोंग को, उपदेश और कार्यों के विरोधाभास को जब देखते हैं तो उनके मन में अनेक भ्रांतियाँ उठती हैं। जीवन की उनकी समझ गड़बड़ा जाती है तथा विपरीत लिंगीय व्यक्तियों के साथ उनके सम्बन्ध सन्तुलित नहीं रह पाते। अनेक यौन कुंठाओं और विकृतियों का यही मूल कारण है।

हमें बेझिझक यह मानना चाहिये कि यौन क्रिया की माँग स्वाभाविक है तथा वह हमारे मन और व्यक्तित्व का एक शक्तिशाली घटक है। हमें इसे अत्यन्त सावधानीपूर्वक समझ लेना चाहिए, जैसे हम बत्ती लगे बम को सावधानीपूर्वक उठाते तथा रखते हैं। जब तक बम के विस्फोट की संभावना समाप्त नहीं हो जाती, हम बड़ी सावधानी बरतते हैं, नहीं तो इसके परिणाम बड़े भयावह हो सकते हैं।

अत: प्रारम्भ से ही यह मानना और समझना जरूरी है कि यौन क्रिया की माँग तथा उसकी पूर्ति जरा भी अध्यात्म विरोधी नहीं है, जैसा कि अभी तक हम समझते आये हैं। यह आपको नरक में नहीं ढकेलेगी। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक तथा नैतिक विश्वासों तथा उनके प्रभाव से अभी तक आप यह समझते रहे हैं कि यौन क्रिया बुरी है, उसे दबाना चाहिए, वह पाप है, आदि-आदि। इन बातों को अपने मन-मस्तिष्क से निकाल फेंकना हमारे अपने सर्वांगीण विकास के लिये आवश्यक है। यौन इच्छा का दमन उसकी अभिव्यक्ति से कहीं अधिक हानि पहुँचाता है। कहीं ऐसा न हो कि इस सहज मानवीय माँग के खिलाफ होकर आप समूचे विश्व को एक बड़े पागलखाने में परिणत कर दें।

महत्त्व यौन इच्छा के दमन का नहीं, बल्कि उसके रूपांतरण तथा उसके दिशान्तरण का है। जिस प्रकार काले-कलूटे कोयले के टुकड़े को काट-तराशकर आलोकित हीरे का रूप दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार इस सहज अपार ऊर्जा को काट-तराशकर महान् आलोक संपन्न अनुभव का रूप दिया जा सकता है। यह शक्ति इतनी तीव्र होती है कि इसे न पहचानना अथवा इसके महत्त्व को घटाकर देखना बड़ा हानिकारक होता है। यह अणुबम से

भी कहीं अधिक विस्फोटक हो सकती है। इसका सिर्फ एक अंश बुद्ध, गाँधी और आइंस्टाइन जैसी महान् विलक्षण प्रतिभाओं की सृष्टि कर सकता है। इस यौन ऊर्जा के बिन्दु में सृष्टि करने की अपार क्षमता सोई पड़ी रहती है। फिर भी हम स्वयं पर इसके प्रभाव की निंदा करते हैं, इसे पहचानने से इन्कार करते हैं।

यदि इस अपार यौन क्षमता को ऊर्जा में बदला जा सके तो कल्पना कीजिए कि हम क्या कुछ नहीं कर सकते। आपने कभी इस पर विचार किया है? कभी आपने एक क्षण के लिए भी यह सोचा है कि जिसे आप नकारते आये हैं, बुरा कहते रहे हैं, यदि उसे रूपांतरित कर पायें तो उसका कितना आश्चर्यजनक परिणाम हो सकता है। परन्तु इसके पूर्व कि आप उसे रूपांतरित करें, उसे अच्छी तरह समझने की कोशिश कीजिए, उसका सही मूल्यांकन कीजिए। इस विषय को लेकर सभी प्रकार की अपराध भावनाओं, कुंठाओं, वर्जनाओं आदि को अपने मन से निकाल फेंकिये। यौन क्रिया में प्रवृत्त होना स्वयं में उतना ही पवित्र है जितना जीवन। आवश्यकता उसके उद्देश्य को, उसकी कार्यशैली को और उसकी निष्पत्ति को समझने की है।

इस ऊर्जा का रूपांतरण न तो इससे परहेज करने में है और न ही स्वयं को इसमें लिप्त करने में है। यदि आप इस ऊर्जा को दिशान्तरित करना चाहते हैं, इसे नया मोड़ देना चाहते हैं तो आपको अपने दैनिक जीवन में योग तथा तंत्र विज्ञान को स्थान देना होगा। तंत्र घोषणापूर्वक कहता है कि मनुष्य को उसी ऊर्जा का उपयोग कर अपनी चेतना के स्तर को उठाना चाहिये जो उसे निम्न स्थूल चेतना से बाँधे रखती है। प्राचीन विद्वानों की यह मान्यता है कि मनुष्य को अपनी महान् ऊर्जा को स्वतंत्र छोड़कर उसे मस्तिष्क के उच्च केन्द्र तक पहुँचाना चाहिये। यह कार्य नियमित योगाभ्यास द्वारा सम्भव है।

योग और तंत्र की मान्यता है कि किसी भी माँग को बलात् दबाना ठीक नहीं है, क्योंकि जब हम शरीर की किसी माँग को जर्बदस्ती दबाते हैं तो प्राचीन ऑस्ट्रेलियन यंत्र, जिसे 'बुमरेंग' कहते हैं, की तरह वह दूनी शक्ति के साथ लौटकर हम पर प्रहार करता है। इससे हमारी प्राणशक्ति बिखरती है, उसका अपव्यय होता है। जैसा कि कहा गया है, *'अति सर्वत्र वर्जयेत्'*, हमें भी इस विषय में अति नहीं करनी चाहिए। अपितु योग और तंत्र का मध्यम मार्ग अपनाकर इस महान् उर्जा को ध्यान के माध्यम से रूपांतरित कर एक महान् एवं विलक्षण अनुभव में बदल देना चाहिए।

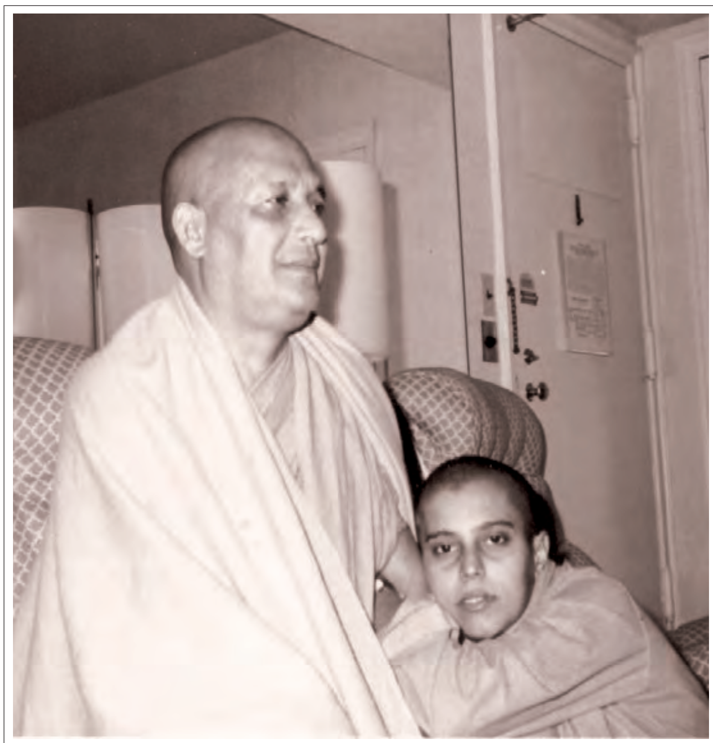
यौन क्रिया में जिस आनन्दातिरेक का क्षणिक अनुभव होता है वह मात्र स्नायविक आकुंचन-संकुचन का परिणाम होता है। कदाचित् आप इस महान् ऊर्जा को रूपांतरित कर मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों तक पहुँचा सकें तो आपको जो अनुभव होगा, वह बड़ा महान् तथा अनुपम होगा। इस भौतिक क्रिया में सामान्य रूप से वासना बलवती होती है। स्नायुओं पर अत्यधिक दबाव पड़ता है, स्नायविक ऊर्जा मुक्त होती है तथा तनाव से मुक्ति मिलती है। परन्तु यदि इस ऊर्जा का विसर्जन न हो, इसे चेतना के उच्च केन्द्रों तक ले जाया जा सके तो आज्ञा चक्र में अपेक्षाकृत लम्बे समय तक इस अनुभूति को कायम रखा जा सकता है। इससे आपका आनन्द बढ़ेगा, गहरायेगा और आप ऊर्जा से पुनरावेशित होंगे, आप थकेंगे नहीं, चुकेंगे नहीं ।

तंत्र में ऊर्जा का अनुभव उस समय होता है जब संभोग में सर्वोच्च आनन्द का क्षण आता है। यह अनुभव जितनी देर टिकता है, ऊर्जा को चेतना के उच्च केन्द्रों की ओर मोड़ा जा सकता है। कुछ खास यौगिक अभ्यासों द्वारा इस ऊर्जा को विसर्जित होने से रोककर उच्च केन्द्रों की ओर दिशान्तरित कर सकते हैं। इस प्रकार एक अनोखा शक्तिशाली अनुभव प्राप्त होता है जिससे कुंडलिनी या आध्यात्मिक शक्ति का जागरण सम्भव होता है। यौन क्रिया के तीन उद्देश्य होते हैं–आनन्द, संतानोत्पत्ति तथा समाधि या सर्वोच्च अनुभव की प्राप्ति। तंत्र में यौन क्रिया का प्रयोजन समाधि माना गया है।

कदाचित् आप इस अनुभव को विकसित कर सकें तो आपकी अनेक यौन समस्यायें समाप्त हो जायेंगी। फिर आपको अपने विवाहित साथी द्वारा ही उच्च अनुभव तथा तृप्ति प्राप्त होगी। आपको इधर-उधर भटकना नहीं पड़ेगा। न तो आप में कुंठायें एवं वर्जनायें होंगी और न ही यौन इच्छा के विषय में आप स्नायु रोग से ग्रस्त होंगे। इस महान् अनुभव की उपलब्धि के कारण आपके तथा आपके साथी के बीच आपसी समझबूझ और सम्मान की भावना होगी। फिर आध्यात्मिक जीवन को लेकर न तो आपको शास्त्र और पुराण देखने की आवश्यकता होगी और न ही आध्यात्मिक उपदेशकों से पूछताछ करने की। आप स्वयं इस बात का निर्णय करने में सक्षम होंगे कि यौन क्रिया अच्छी है अथवा बुरी, पापपूर्ण है अथवा पवित्र।

कर्म संन्यासी को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। यदि वह विवाहित है तथा उसका जीवन साथी मौजूद है, तो उसे स्वयं को अथवा अपने साथी को उस वस्तु से वंचित नहीं रखना चाहिए जो उसका धर्म तथा

कर्त्तव्य है। गुरु के मार्गदर्शन में यौनक्रिया उसमें प्रवृत्त व्यक्तियों को पूर्ण तृप्ति के बिन्दु तक पहुँचाती है, जहाँ वह आध्यात्मिक जागृति अथवा उच्च अनुभव के रूप में परिणत होती है। इस प्रकार यौन क्रिया एक पवित्र कृत्य होती है जहाँ दो व्यक्तियों का दिव्य मिलन होता है, जिससे उनके जीवन में आनन्द और सामंजस्य की वृद्धि होती है; जो उनके व्यक्तिगत चरित्र और व्यवहार में झलकता है। इसके परिणामस्वरूप जो बच्चे होते हैं वे भी विलक्षण, प्रतिभावान, मानसिक रूप से सन्तुलित तथा तेज संपन्न होते हैं। इस प्रकार जिस ऊर्जा को निम्न वासनाओं की पूर्ति में व्यय किया जाता है उसका रूपांतरण होता है तथा वह महान् आध्यात्मिक अनुभव का स्रोत बनती है।



क्या ब्रह्मचर्य अनिवार्य है?

ब्रह्मचर्य का प्रश्न तब उठता है जब आप कर्म संन्यास लेकर अपनी जीवन-शैली को नई दिशा में मोड़ना चाहते हैं। भारत में ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ ब्रह्म में रमने वाला होता है, अर्थात् वह व्यक्ति जो ब्रह्म में रमता है। यह ध्यान देने की बात है कि ब्रह्मचर्य की व्याख्या में कहीं भी यौन क्रिया का उल्लेख नहीं मिलता है। वेद घोषणापूर्वक कहते हैं कि वह जो निरन्तर ब्रह्म में युक्त रहता है, ब्रह्मचारी कहलाता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य में इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि दृढ़ निश्चय के साथ ब्रह्मरत रहा जाये।

बताइये आपकी दृष्टि में कौन बड़ा होगा, वह जो जोर-जोर से यौन इच्छा के परित्याग की घोषणा करता है, परन्तु मन-ही-मन उसके लिये लालायित रहता है अथवा वह जो यौन क्रिया में हिस्सा तो लेता है, परन्तु अपना हृदय हमेशा ईश्वर में लगाये रहता है। इस विषय में पाखण्ड करने की क्या जरूरत है, क्योंकि ऐसा करने से आप अपने को ही धोखा देते हैं। एक दृष्टांत कथा से आप इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं–

एक मंदिर में एक पवित्र पुजारी रहता था। संयोगवश उस मंदिर के सामने एक वेश्या रहती थी, जिसके यहाँ लोगों के आने-जाने का ताँता लगा रहता था। एक दिन पुजारी ने वेश्या को बुला कर कहा– "तुम बड़ी पापी हो, रात-दिन पाप कर्म में लिप्त रहती हो। तुम्हारी वासना कभी तृप्त नहीं होती। ईश्वर तुम्हें कभी माफ नहीं करेगा। कोशिश करो और मेरी तरह पवित्र बनो। मैं स्वयं कभी भी ऐसे पाप कर्म में लिप्त नहीं होता।"

वेश्या अपने दुष्कर्मों के लिये पश्चाताप के आँसू बहाने लगी। उसके हृदय में प्रभु के लिये सच्चा प्रेम जागा। उसने सच्चे मन से क्षमा याचना के लिये प्रभु से प्रार्थना की। परन्तु, चूँकि वेश्यावृत्ति उसकी जीविका का साधन

थी, जब भी वह तथाकथित पाप कर्म में लिप्त होती, अपना मन प्रभु के चरणों में लगाये रहती तथा उनकी पवित्र उपस्थिति का अनुभव करती थी। वह मंदिर में होने वाली प्रार्थना तथा प्रभु नाम संकीर्तन ध्यानपूर्वक सुनती और अपने पेशे के बावजूद उस दिन की प्रतीक्षा करती जब वह पवित्र होकर ईश्वर के आवास में जाने की पात्र होगी। दूसरी तरफ मंदिर के निकट वेश्यालय होने के कारण पुजारी बड़ा व्यथित रहता था। वह जब भी ध्यान अथवा प्रार्थना करता, उसका मन और विचार वेश्यालय के बाहर-भीतर मंडराता रहता था। वहाँ क्या कुछ हो रहा है, इसकी कल्पना में वह हमेशा डूबा रहता था।

इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये। एक दिन वेश्या मर गई। इसे इत्तफाक ही कहेंगे कि उसी दिन पुजारी भी मरा। ईश दूत वेश्या की आत्मा को स्वर्ग ले गये। परन्तु यमदूत पुजारी की आत्मा को अधोलोक ले गये। पुजारी ने चीखकर भगवान से पूछा– "क्या यही तुम्हारा न्याय है? मैंने अपना पूरा जीवन ब्रह्मचर्य के पालन और प्रभु चिन्तन में लगाया था। क्या इसीलिये मुझे इस नरक में लाया गया है? क्या इस वेश्या को यावज्जीवन पाप-कर्म के पुरस्कार स्वरूप स्वर्ग ले जाया जा रहा है?" उसी समय आकाशवाणी हुई। ईश्वर ने पुजारी से कहा– "तुम बड़े मूर्ख हो। तुमने अपना पूरा जीवन ब्रह्मचर्य और प्रार्थना में लगाया अवश्य, परन्तु तुम्हारा मन निरन्तर वेश्या के शयनागार की चहार-दीवारी के भीतर मंडराता रहा, जबकि भले ही वेश्या का शरीर पाप कर्म में लगा रहा, तथापि उसका मन निरन्तर मुझमें लगा रहता था।"

इस दृष्टांत कथा से यह सीख मिलती है कि बुराई शरीर और उसके बाहरी कार्यकलापों में नहीं, बल्कि मन में होती है। खतरा पाप-कर्म में उतना नहीं होता, जितना उसके मानसिक चिन्तन और मन-ही-मन उसके पीछे भागने में होता है। यदि मन पवित्र हो, किन्तु शरीर पाप कर्म में लगा हो तो समझिये आपने आधी लड़ाई जीत ली है। इस बात में क्या रखा है कि हम दमन द्वारा शरीर को उसकी स्वाभाविक जरूरतों से वंचित रखें और मन में कल्पना की उड़ाने भरें। विचार में बड़ी शक्ति होती है। विचार ही कार्य का बीज होता है। वह सूक्ष्म रूप से हमारे मन में विद्यमान रहता है। यह बात उतनी ही यथार्थ होती है जितना भौतिक तल पर हमारे स्थूल कार्य यथार्थ हैं। इसलिये कभी विचारों की शक्ति को कम आंकने की गलती न करें। अंत में हम इतना कहेंगे कि आपके विचार ही आपको नष्ट कर सकते हैं। कहा भी गया है, "जो जैसा सोचता है वह वैसा ही बन जाता है।"

अत: उपर्युक्त आलोक में ब्रह्मचर्य को समझने का प्रयास कीजिये। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य यौन क्रिया से परहेज मात्र नहीं होता, बल्कि उसका तात्पर्य मन, वचन और कर्म की पवित्रता से है। ब्रह्मचर्य धार्मिक, नैतिक विश्वासों, वर्जनाओं आदि का गट्ठर नहीं है, जिसे बाहर से आपके सिर पर लाद दिया जाय। वह तो आपकी आत्मा के निरन्तर ब्रह्म में रत रहने के परिणामस्वरूप सहज उत्पन्न ओज और आलोक की अभिव्यक्ति होता है। यदि शारीरिक तल पर ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल यौन क्रिया का परित्याग हो, परन्तु उसके विचार और वासनायें आपके मानसिक तल को विषाक्त कर दें तो ब्रह्मचर्य का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा।

ब्रह्मचर्य का अभ्यास आपके नियंत्रण से बाहर नहीं होना चाहिये। इससे आपके समूचे मन, प्राण और शरीर पर बड़ा शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। ब्रह्मचर्य आपके आध्यात्मिक जीवन के लिये भी बड़ा प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है। परन्तु वह आप पर बाहर से न थोपा गया हो। उसके पीछे दमन, मजबूरी, अपराध की भावना अथवा आत्म प्रवंचना न हो। वह सहज स्वाभाविक ढंग से जीवन की एक आवश्यकता के रूप में ग्रहण किया गया हो। इसके विपरीत यदि ब्रह्मचर्य दमन द्वारा मजबूरीवश धारण किया जाये तो उसके बड़े घातक परिणाम हो सकते हैं। मन संकीर्ण और कुंठित तथा विचार और दृष्टिकोण बड़े संकुचित हो जाते हैं। आप विपरीत लिंग वालों को बुरा, घृणित तथा राक्षसों जैसा मानते हैं तथा दूसरों से प्यार करने की आपकी क्षमता कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में आप ईश्वर से भी प्रेम नहीं कर सकते। सच तो है कि जब आप खुदा के बंदों से प्यार नहीं कर सकते तो फिर उससे कैसे कर पायेंगे? इस पर भी यदि आप खुदा से प्यार का दम भरें तो इसे मात्र विरोधाभास अथवा पाखण्ड ही कहा जायेगा।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने जीवन के अनेक वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन किया था। उन्होंने ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित अनेक प्रयोगों के बारे में विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका ब्रह्मचर्य अपने विचारों तथा विश्वासों का प्रतिफल था, न कि विपरीत लिंगियों के प्रति उनकी घृणा का। वह अपनी पत्नी को निकटस्थ मित्र तथा साथी की दृष्टि से देखते तथा उसे अपने ब्रह्मचर्यव्रत का साधन तथा सहायक मानते थे।

ब्रह्मचर्य कोई अनुशासन नहीं है, अपितु वह अपने भीतर की ऊर्जा के रूपांतरण का परिणाम होता है। आप अपनी समस्त ऊर्जा को आध्यात्मिक

साधना में प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार यौन-व्यापार के लिये आपके पास कोई ऊर्जा बचती ही नहीं। सामान्य जीवन में भी यह बात लागू होती है। किसी महान् चित्रकार, गायक, नर्तकी अथवा कलाकार को ही लीजिये। जब वह अपनी कला को अभिव्यक्ति प्रदान करने में तन्मय रहता है तब उसके मन में यौन सम्बन्धी विचारों के लिए कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि उसकी समस्त ऊर्जा उसकी कला की अभिव्यक्ति में ही खर्च होती है। जब आपके भीतर आपार ऊर्जा हिलोरें लेती है तब यौन क्रिया उसके निष्कासन के लिये सेफ्टी वॉल्व की तरह कार्य करती है। इस प्रकार यौन क्रिया अतिरिक्त ऊर्जा के निकास का माध्यम बनती है। यदि ऐसा न हो तो ऊर्जा का घातक विस्फोट होता है। अब यदि आप इस ऊर्जा को दबाने की कोशिश करें तो संभवत: कामयाब न हो सकेंगे। इस विस्फोट से रक्षा के दो ही उपाय हैं–पहला, इसे यौन क्रिया के रास्ते बाहर आने दीजिये तथा दूसरा, इसका आध्यात्मिक ऊर्जा में रूपांतरण कीजिये।

यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य कोई ऊपर से थोपी गयी चीज नहीं है। उसे वर्तमान अथवा पूर्व जीवन के अनुभवों पर आधारित स्वत: स्फूर्त ढंग से आना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति यह कल्पना करे कि बिना सहजानुभूति के ब्रह्मचर्य को अपना सकता है, तो निश्चय जानिये कि वह भयानक भूल कर रहा है। कोई भी व्यक्ति जिसे पूर्ण अनुभव अथवा ज्ञानालोक की उपलब्धि हो, यौन से पूरी तरह छुटकारा पा सकता है। फिर उसके स्वप्न और कल्पना में भी सेक्स के विचार नहीं उठ सकते। नियम तो यह है कि आप किसी निम्न वासना से केवल तभी मुक्ति पा सकते हैं जब आप उसके विपरीत उच्च वासना को ग्रहण करें। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय है भी नहीं। निम्न वासना शिराओं की मात्र उत्तेजना होती है जिसका संभोग में अनुभव होता है। जबकि उच्च वासना वह उच्च आनन्द प्रदान करती है जिसका अनुभव गहरे ध्यान की अवस्था में होता है।

सही अर्थों में ब्रह्मचारी बनने के लिये आपको शारीरिक प्रक्रियाओं का अच्छा ज्ञान होना चाहिये। प्रत्येक जीवित प्राणी में सहज मूल ऊर्जा विद्यमान होती है।

आपको उसके अन्यान्य प्रभावों को वश में करना आना चाहिये। या तो आप उस ऊर्जा को यौन क्रिया द्वारा बाहर निकालिये अथवा आध्यात्मिक ऊर्जा के रूप में इस प्रकार बदलना सीखिये कि आपके शरीर, मन अथवा भावनाओं

को किसी प्रकार की क्षति न हो। निश्चय ही यह समूची प्रक्रिया समय साध्य होती है, जिसके लिये धैर्य, साहस और अभ्यास आवश्यक होते हैं।

योग में ऐसी अनेक शारीरिक और मानसिक युक्तियाँ पाई जाती हैं जिनकी सहायता से इस महान् ऊर्जा को नियंत्रित तथा रूपांतरित किया जा सकता है। इनके बिना आप यौन वासना का अतिक्रमण कतई नहीं कर सकते। आपके शरीर में जो हार्मोन बनते हैं वे ही शरीर की यौन सम्बन्धी माँग के लिये उत्तरदायी होते हैं। अब इन हार्मोनों का निर्माण और शरीर में भ्रमण आपके वश में तो नहीं है। भले ही आप निश्चयपूर्वक अथवा बलपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करें, हार्मोन तो बनेंगे ही।

अब इन्हें निष्प्रभावी करने के लिये आपको कुछ-न-कुछ शारीरिक अभ्यास करने होंगे, ताकि जो हार्मोन और ऊर्जा यौन क्रिया के रास्ते खर्च होती हैं उन्हें आध्यात्मिक अनुभव के लिये प्रयुक्त किया जा सके। इस कार्य में मानसिक प्रक्रियाओं का भी सहारा लिया जा सकता है ताकि यह ऊर्जा ध्यान की साधना में लगाई जा सके।

जब तक आप अभ्यास द्वारा योग की गहराई में नहीं उतरते, आप ब्रह्मचर्य को प्राप्त नहीं कर सकते। प्रजनन हार्मोनों को नियंत्रित करने के लिये आपको आहार के विषय में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त निद्रा और अन्य बातों में भी सावधानी रखना आवश्यक है। इस प्रकार धीरे-धीरे ऊर्जा को दिशांतरित कर उसे अपने स्रोत में वापस भेजा जा सकता है। यहाँ मैं एक उदाहरण द्वारा इसे अच्छी तरह समझाने का प्रयास करूँगा।

एक ऐसी ऊर्ध्वाकार नली की कल्पना कीजिये जो दोनों सिरों पर खुली हो। उसका ऊपरी सिरा ऊर्जा के अक्षय भंडार से जुड़ा है और निचला सिरा खुला है। उस नली में ऊर्जा का नीचे की ओर प्रवाह अपने आप होता है, क्योंकि ऊपर वाला ऊर्जा का भंडार अपने दबाव द्वारा नली में नीचे की ओर प्रवाहित होता है। जब यह प्रवाह अधिक होता है तब नली की दीवालें फैलती हैं। निचले सिरे से ऊर्जा कभी तो शांतिपूर्वक निकलती है और कभी धमाके के साथ।

आप अनुभव करते हैं कि इस ऊर्जा का उपयोग होना चाहिये। इसलिये आप नली के निचले सिरे को किसी यंत्र से जोड़ देते हैं। ऊर्जा बहते-बहते काफी खर्च हो जाती है। इसके सिवाय आपके पास एक विकल्प और बचता है। आप चाहें तो ऊर्जा को नली में आने ही न दें और इस प्रकार उसे

बिखरने और नष्ट होने से बचा लें। कुछ ऐसी तकनीकें हैं जिनके द्वारा इस ऊर्जा को उल्टी दिशा में प्रवाहित कर ऊपर उसके भंडार में वापस भेजा जा सकता है। इस प्रकार ऊर्जा नष्ट होने से बचती है तथा अधिक प्रभावशाली बन जाती है।

यह प्रक्रिया मानव शरीर में भी घटित होती है। मस्तिष्क में एक छोटी-सी ग्रंथि रेतस उत्पन्न कर उसे शरीर के निम्न भाग में पहुँचाती है। मणिपुर चक्र में यह ऊर्जा प्राणशक्ति में परिवर्तित होती है जो शरीर के विभिन्न अंगों के पोषण में व्यय होती है। फिर यह ऊर्जा मणिपुर से मूलाधार चक्र में पहुँचती है, जहाँ प्रजनन अंगों को उत्तेजित करती है। इसी से शुक्राणु और डिम्ब निर्मित होते हैं। योग की कुछ क्रियायें इस यौन ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण कर इसे अपने स्रोत में वापस भेजती हैं, जहाँ यह पुन: रूपांतरित होकर शरीर में प्रजनन हार्मोनों को नियंत्रित करती है। जब यौन ऊर्जा आध्यात्मिक ऊर्जा में बदलती है तब अमृत बन जाती है और ध्यान की अवस्था में उच्च अनुभव प्राप्त कराती है।

यौन ऊर्जा तथा आध्यात्मिक ऊर्जा अलग नहीं हैं। वे एक ही ऊर्जा के दो रूप हैं, परन्तु इन दोनों रूपों में जमीन-आसमान का अन्तर है। जब ऊर्जा का अनुभव शरीर के निम्न केन्द्रों में होता है तब उसे यौन अनुभव कहते हैं और जब उसे दिशांतरित कर मस्तिष्क में स्थित उसके भंडार में वापस भेज दिया जाता है और उच्च केन्द्रों में उसका आंतरिक अनुभव होता है तब उस अनुभव को आध्यात्मिक अनुभव तथा आध्यात्मिक ऊर्जा कहा जाता है।

इतिहास में कुछ एक विरले ही महान् व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने ऐसी उच्च अवस्था प्राप्त की थी। ये लोग लाखों में एक दिव्य आलोक और प्रतिभासंपन्न महापुरुष थे, जो अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा मानवता को प्रभावित करते तथा उसे मार्गदर्शन प्रदान करते थे। परन्तु यहाँ हमारी चर्चा का विषय सामान्य आदमी है जो अपने शरीर तथा मन में स्थित ऊर्जा को सफलतापूर्वक नियंत्रित नहीं कर पाता, जो निम्न वासनाओं के वशीभूत है और जल्दी ही उनसे प्रभावित होता है। यदि वह शरीर और मन की प्रक्रियाओं तथा ऊर्जा के रूपांतरण की विधि नहीं जानता है और यदि वह यौनानन्द को ही सब कुछ मानने की भूल करता है तो वह इस मूल प्रवृत्ति का अतिक्रमण करने का विचार भी मन में नहीं ला सकता।

पारिवारिक जीवन

परिवार की इकाई, उसमें रहने वाले व्यक्तियों की सुरक्षा और स्थिरता के लिये निर्मित की गई थी। परिवार के सदस्य एक-दूसरे की शक्ति और सुरक्षा होते हैं। वे जानते हैं कि मुसीबत के समय प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे की सहायता करेगा। इसके अतिरिक्त माता-पिता भी सन्तान के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझते हैं। वे अपने बच्चों की कठिनाई के समय आर्थिक सहायता करते हैं और उनके सुरक्षित भविष्य के लिये उत्तराधिकार के रूप में कुछ धन-संपत्ति छोड़ जाते हैं। बच्चा विरासत में माता-पिता से जो कुछ प्राप्त करता है वह उसके भविष्य को सुरक्षित करता है।

परिवार के निर्माण का यही एकमात्र उद्‌देश्य था। पत्नी, जो अपने पति से गर्भधारण करती है, अपने और बच्चे की देखभाल के लिये पति से आश्वासन-स्वरूप कुछ माँग करती है। आर्थिक सहारे के अतिरिक्त मनुष्य भावनात्मक तथा मानसिक सहारा भी चाहता है। यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। प्रत्येक व्यक्ति सुरक्षा, प्रेम तथा देखभाल चाहता है। हम खड़े होने के लिये एक आधार चाहते हैं, जिसे हम माता-पिता से पाने की आशा करते हैं। बचपन में हमें जो प्यार मिलता है उससे हमारा व्यक्तित्व और व्यवहार निर्मित होता है। आगे चलकर यही हमें दूसरों के साथ सन्तुलित व्यवहार करना सिखाता है।

यद्यपि परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई है तथापि आधुनिक परिवार बिखर रहा है। बेटा माँ-बाप की चिन्ता नहीं करता जो स्वयं आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे अकेलापन अनुभव करते हैं और जैसे-जैसे बड़े होते हैं एक-दूसरे के लिये अजनबी होने लगते हैं। माता-पिता बच्चों से सम्मान नहीं पाते और उनका विश्वास प्राप्त नहीं कर पाते। जैसे-जैसे मनुष्य का दूसरों तथा अपने आस-पास के वातावरण के साथ तालमेल टूटता

है, उनके बीच एक प्रकार का बाहरी दिखावा ही रह जाता है। अन्ततोगत्वा यह बिखराव समाज को भी प्रभावित करता है और अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है।

अपनी निम्न प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिये आपको दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को समझना और स्वीकारना होगा। यह कृतज्ञता आपके परिवार को टूटने से बचायेगी, क्योंकि आप जिन्हें चाहते हैं वे आपके इस कार्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। यदि आपका परिवार से विशेष लगाव है तो आप भटकेंगे नहीं, कोई ऐसी गलती नहीं करेंगे जो आपके लिये, आपके परिवार के लिये और समाज के लिए घातक हो सकती है। इसके विपरीत यदि आप में परिवार के प्रति लगाव नहीं है, और यदि आप समझते हैं कि आपके कार्यों से केवल आप ही प्रभावित हो सकते हैं, तो निश्चय जानिये कि आप परिवार सहित मुसीबत में पड़ेंगे।

चूँकि कर्म संन्यासी परिवार में रहता है, अत: उसे परिवार में अपनी भूमिका को ठीक ढंग से समझना चाहिए कि उसके आध्यात्मिक जीवन में परिवार बिल्कुल बाधक नहीं है। पति-पत्नी, बच्चे, माता-पिता और सास-ससुर सबके सब उसकी समग्र यात्रा के अंग हैं। वह अध्यात्म में अपनी बढ़ती रुचि के कारण स्वयं को उनसे अलग नहीं कर सकता। परिवार में रहते हुए ही उसे इन सब अनुभवों से गुजरना है। उसे तो परिवार से तटस्थ होना है और परिस्थितियों का दास बनकर नहीं रहना है, बल्कि उसे पारिवारिक कार्यकलापों में भाग लेकर परिस्थितियों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहिये।

यदि आपका जीवनसाथी आप जैसे ही विचारों वाला है और बच्चे भी आपके कर्म संन्यास में सहयोग देते हैं, तो इससे बढ़कर अच्छी बात दूसरी नहीं हो सकती। परन्तु यदि आपकी पारिवारिक स्थिति भिन्न हो, यदि आपका जीवन साथी आपके योगाभ्यास की आलोचना करता है, यदि बच्चे समझते हैं कि आप सनकी हो रहे हैं तो ऐसी स्थिति में आप क्या करेंगे?

पारिवारिक विरोध तथा आलोचना का सामना करना मुश्किल कार्य है। विशेष रूप से उस समय जब आपका मजाक उड़ाया जाये। अक्सर पति कर्म संन्यासी बन नियमित योगाभ्यास करना चाहता है, परन्तु पत्नी उसकी इन बातों का विरोध करती है, तो कभी पति, पत्नी का विरोध करता है, कभी सन्तान कर्म संन्यास लेना चाहती है, परन्तु माता-पिता उसके विचार से सहमत नहीं होते, जिसका परिणाम पारिवारिक कलह, तनाव और दु:ख होता है। यदि

आपके समक्ष ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाये तो आपको उससे भागने की अपेक्षा उसका सफलतापूर्वक सामना करना आना चाहिये। परिवार छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सर्वप्रथम तो परिवार के किसी भी सदस्य पर अपने विचार न थोपें। स्वयं को श्रेष्ठ समझने तथा उनसे यह कहने की भूल न कीजिये कि वे कुछ नहीं जानते। जैसी भी परिस्थिति आये, उसके साथ सामंजस्य स्थापित कीजिये। भले ही आपने परिवार के सदस्यों को उनकी नासमझी के लिये बुरा-भला कहा हो, परन्तु उनके विचारों तथा सोचने के स्तर के अनुरूप स्वयं समायोजन कीजिये। यदि आपका साथी उस समय टेलीविजन देखना चाहे अथवा रेडियो सुनना चाहे, जब आप स्वाध्याय अथवा ध्यान करना चाहते हों तब भी उनके साथ सहयोग कीजिए। योग तथा ध्यान के लाभों तथा टेलिविजन देखने की हानियों पर उनको प्रवचन न दीजिये। अपने विश्वासों तथा मान्यताओं का न तो दिखावा कीजिये और न ही उन पर अपनी आस्थाओं को थोपिये।

इसके बदले स्वयं को अच्छा बनाकर उनके सामने उदाहरण पेश कीजिये, जिससे परिवार के लोग शिक्षित हों। परिवार वाले स्वयं देखें तथा अनुभव करें कि अब आप एक अच्छे व्यक्ति बन रहे हैं तथा आप पहले से कहीं अधिक शालीन, सहिष्णु बनिये। कटुता जीवन को विषमय बना देती है। परन्तु धैर्य और शान्ति के साथ व्यवहार करने से इसके लाभ उन्हें दिखलाई देंगे और आप विजयी होंगे। यदि आप घर में प्रतिकूल परिस्थिति में रहें तो उसे अपनी साधना का ही एक अंग मानिये, उससे कुछ सीखिये, ग्रहण कीजिये। यदि आपने सुखपूर्वक रहना सीखा है तो दु:ख में भी रहना सीखिये। यदि जीवन हमेशा सुखी और मजामौज से ही भरा रहे तो आप सुस्त और जो जैसा है उससे संतुष्ट हो जायेंगे। कठिनाइयों में ही जीवन शक्ति ग्रहण करता है। आपमें हर परिस्थिति के अनुसार स्वयं को ढालने की क्षमता विकसित होती है।

हर व्यक्ति जीवनभर सुख की कामना करता है। क्या आपने कभी ऐसे व्यक्ति का नाम सुना है जिसने दु:ख-दर्द और विपत्तियों की कल्पना की हो? नहीं, परन्तु जो आदमी इन बातों की कामना करता है वह पागल नहीं है। वह ऐसा व्यक्ति होता है जो दु:ख के महत्त्व को मानता और जानता है। ऐसा व्यक्ति महात्मा ईसा, बुद्ध अथवा महावीर हो सकता है। इन महापुरुषों ने अपनी निम्न चेतना को उच्चता प्रदान करने के उद्देश्य से अकल्पनीय दु:ख

और पीड़ा को झेला था। दु:ख और विपत्ति में ही उच्च चेतना का अवतरण होता है। स्वयं तथा दूसरों के प्रति गहरी संवेदनशीलता और जीवन के रहस्यों को समझने की क्षमता आती है।

दु:ख और विपत्ति आपको मजबूत और दृढ़ निश्चयी बनाते हैं, जबकि सुख आपको सुस्त बनाता है, आपमें पहल करने की क्षमता समाप्त हो जाती है। कदाचित् आप मेरी इन बातों से सहमत न हों तो स्वयं इन दोनों परिस्थितियों में पड़कर अनुभव कीजिये, अन्तर आपकी समझ में आ जायेगा। जीवन में आगे बढ़ने तथा विकसित होने के लिये समय-समय पर सुख और दु:ख की खुराकें जरूरी होती हैं। जिस प्रकार दीवार घड़ी का दोलक एक ओर से दूसरी ओर डोलता रहता है, उसी प्रकार आपको भी सुख-दु:ख की परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करना आना चाहिये।

सुख में तो सभी जी लेते हैं, परन्तु जो दु:खों को जीकर उनके पार हो जाता है वही सफल मनुष्य कहलाता है, वह जीवन से कुछ सीखता है। बचपन से ही गलत शिक्षा द्वारा आपके मन में सुख की लालसा जगा दी जाती है तथा दु:ख से भागने की मनोवृत्ति भर दी जाती है। जब दु:ख तथा विपत्तियाँ आती हैं तब आप असुरक्षित, हिम्मतपस्त और भयभीत होने लगते हैं। आपको यह सीखना और समझना होगा कि जैसा आप चाहते हैं जीवन में सदा वैसा नहीं होता, उसके विपरीत भी होता है। आप कर्म संन्यासी बनना, योगाभ्यास तथा ध्यान करना, स्वाध्याय करना तथा आश्रम जाना चाहते हों, परन्तु हो सकता है आपके परिवार वालों को आपकी इन बातों से चिढ़ हो, वे विरोध करें। वे स्वयं पिकनिक पार्टी, सिनेमा तथा दूरदर्शन का आनन्द उठाना चाहें तो ऐसी स्थिति में आप क्या करेंगे?

क्या आप उनका विरोध करेंगे, झगड़ा करेंगे अथवा शोर-शराबा मचायेंगे? इससे तो समस्या जैसी की तैसी बनी रहेगी, अथवा आप उनकी माँग और चाहत के साथ तालमेल स्थापित करने का प्रयास करेंगे, उन्हें जतायेंगे कि आप उन्हें चाहते हैं, उनकी जरूरतों का ख्याल रखते तथा समझौता करते हैं, भले ही वे स्वयं चाहे जैसे विचार रखतें हों? यह भी तो एक प्रकार ही साधना ही है। यदि आप इसे सीख लें, तो इससे आपको शक्ति और आत्मबल प्राप्त होगा। आपके परिवारजन भी आपकी जरूरतों को महसूस कर आपको सहयोग प्रदान करेंगे। जब उन्हें विश्वास हो जायेगा कि आप उनका ख्याल रखते हैं, उनके कल्याण के लिये निष्ठापूर्वक समर्पित हैं, भले ही आपकी रुचि, विश्वास और

मान्यताएँ उनसे अलग ही क्यों न हों, तो निश्चय ही वे भी आपको अपना पूरा सहयोग प्रदान करेंगे।

दूसरों की पसन्द तथा जरूरतों के साथ समायोजन तथा अनुकूलन की क्षमता आपके व्यक्तित्व के नये आयाम खोलती है, जिसे त्याग कहते हैं। दूसरों के लिये त्याग तथा बलिदान करना कमजोरी नहीं, बल्कि व्यक्तित्व का महान् गुण कहलाता है। इससे आपको बेहतर आनन्द और संतोष मिलेगा, परिवार में लड़ाई, विरोध और तनाव घटेंगे तथा आपकी आध्यात्मिक साधना में परिवार-जनों का सहयोग तथा समर्थन मिलेगा।

जहाँ प्रेम है वहाँ त्याग है और जहाँ प्रेम का अभाव है वहाँ क्लेश तथा कलह होती है। लचीले बनिये तथा परिवार की भावनाओं एवं जरूरतों का ख्याल रखिये। जब आप ऐसा करेंगे तो वे भी आपको सहयोग प्रदान करेंगे, आपका समर्थन करेंगे। कुछ पाने के लिये कुछ देना जरूरी होता है। याद रखिये, कर्म संन्यासी की साधना घर से ही प्रारम्भ होती है।



बच्चे

कर्म संन्यासी के रूप में अपने बच्चों के प्रति आपकी मन:स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। जीवन का आनन्द बच्चे होते हैं। हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। परन्तु उनकी समझदारी के प्रति एक प्रकार से अंधे हो जाते हैं। हम उन पर अपने विचार और मान्यताएँ थोपते हैं। जब वे इनका विरोध करते हैं तो हम लाल-पीले होने लगते हैं। हम बच्चों को भी अपनी धन-दौलत मानने की गलती करते हैं। जिस प्रकार हम बचपन में खिलौने से खेलते तथा स्वयं को उनका स्वामी मानते थे, बहुत कुछ ऐसा ही सन्तान के बारे में भी सोचते हैं। खिलौने और गुड्डे-गुड़िया हमारा विरोध नहीं करते थे। जब हम बड़े होते हैं तो खेल-खिलौने तो पीछे छूट जाते हैं, परन्तु आदत और मनोवृत्ति नहीं बदलती। जब हमारे बच्चे होते हैं तो यह प्रक्रिया पुन: नये सिरे से स्वयं को दोहराती है। बस, यहीं से हमारी मुश्किलें प्रारम्भ होती हैं।

हमारी जो भी महत्त्वाकांक्षाएँ अधूरी रह जाती हैं, उन्हें हम बच्चों द्वारा पूरा करने का स्वप्न देखते हैं। यदि हम डॉक्टर, पायलट अथवा वकील बनना चाहते थे, परन्तु किन्हीं कारणवश इनमें से कुछ भी न बन पाये हों तो हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे यह बने, अथवा हम अपने जीवन में जो कुछ बन सके अथवा प्राप्त कर सके, वही हमारे बच्चे भी करें। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हम चाहते हैं कि जो हम नहीं कर पाये, जो हम नहीं बन पाये, हमारे बच्चे वही सब कुछ करें तथा बने।

बच्चे का भी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है। उसकी भी इच्छाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं। हो सकता है वे ठीक वैसी न हों जैसी हमारी हैं। परन्तु हम इसे अपना अधिकार मानते हैं कि वह भी उसी साँचे में ढले जिसमें हम नहीं ढल पाये। जब सन्तान हमारा विरोध करती है तो हममें कटुता और क्रोध

सुलगने लगते हैं। हम सोचते हैं कि हमने सन्तान के लिये जो भी त्याग किया, कष्ट उठाया उसका प्रतिफल हमें उनकी बगावत के रूप में मिल रहा है। हमने उसे पढ़ाया, पाला-पोसा और अब वह हमारी बात ही नहीं सुनता।

माता-पिता के रूप में हमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान देना ही होगा। भले ही बच्चा हमारे रक्त-मांस से जन्म ले, परन्तु मन और आत्मा तो उसके अपने होते हैं। वह अपना प्रारब्ध और भाग्य लेकर आता है। अब हम भले ही चाहे जो कहें अथवा करें, वह अपने कर्मों के अनुरूप ही व्यवहार करेगा। वह एकदम सफाचट स्लेट तो होता नहीं जिस पर हम चाहे जो लिख दें। हम ऐसे माध्यम होते हैं जिनके द्वारा वह संसार में आकर अपने कर्मफल भोगता है। अब चूँकि सन्तान के साथ हमारे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध होते हैं जो कभी टूट नहीं सकते, परन्तु इस पर भी इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि उसका अपना प्रारब्ध होता है। इसलिए हमें कभी भी अपनी इच्छाएँ अथवा विचार उस पर थोपने की भूल नहीं करनी चाहिये।

बच्चे के जन्म लेने के बाद यह सोचना कि वह क्या और कैसा बने, समय निकल जाने के बाद सोचने जैसा होता है। वह अपने साथ पूर्वजन्म के कर्म लेकर आया है; वह उन कर्मों के आवश्यकतानुरूप ही जियेगा तथा उन्हें निःशेष करेगा। बच्चे के गुण, स्वभाव तथा उसके स्तर के बारे में उसके गर्भ में आने के पूर्व ही सोचा जाना चाहिये। उसी समय हम पूजा, प्रार्थना द्वारा महान् आत्माओं को अपने परिवार में जन्म लेने के लिये आमंत्रित कर सकते हैं। उनका आवाहन कर सकते हैं।

माता-पिता का चुनाव करने की स्वतंत्रता केवल महान् आत्माओं को रहती है। यदि माता-पिता का स्वभाव, आध्यात्मिक स्तर तथा पारिवारिक वातावरण उन महान् आत्माओं के आध्यात्मिक स्तर के अनुरूप हुआ तो ही वे उस परिवार में अवतरित होती हैं। जिस प्रकार एक उच्च स्तर का सुसंस्कृत व्यक्ति ऐसे-वैसे लोगों के घर नहीं जाता, उनसे दूरी बनाये रखता है, महान् आत्माएँ भी ऐसे माता-पिता तथा परिवार को अपने आगामी जन्म के लिये नहीं चुनती जहाँ का वातावरण उन्हें अपने अनुकूल नहीं लगता। अब यदि आप चाहते हैं कि महान् आत्माएँ आपके परिवार में जन्म लें तो आपको अपना तथा अपने परिवार का चेतनात्मक स्तर सुधारना होगा। कर्म संन्यासी का यह परम कर्त्तव्य होता है कि वह अपने तथा परिवार के माध्यम से महान् आत्माओं को इस धरती पर लाये।

जब बच्चा परिवार में जन्म लेता है तब हमें उस पर अपने विचार, मान्यताएँ तथा अपूर्ण महत्त्वाकाक्षाएँ थोपने की बजाय उसे सभी जरूरी साधन, सुविधाएँ तथा वातावरण प्रदान करना चाहिये, जो उसके सर्वांगीण विकास के लिये जरूरी होता है। बच्चों से चिपकिये नहीं, उन पर अनावश्यक अधिकार न जताइये, साक्षीरूप से उन्हें देखिये तथा उनकी सभी आवश्यकताएँ पूरी कीजिये। यदि वे आपकी सहायता चाहें तो अवश्य प्रदान कीजिये। परन्तु यदि उन्हें आपकी सहायता तथा मार्गदर्शन की आवश्यकता न हो तो जबरदस्ती उसे न परोसिये। याद रखिये, आपमें बच्चे का विश्वास, उसके प्रति आपकी मनोवृत्ति पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। यदि आप उसे नासमझ तथा गैर जिम्मेदार समझने की भूल करेंगे तो निश्चय ही वह आपका विरोध करेगा। आप पर से उसका विश्वास उठ जायेगा। भले ही वह आपको चाहता हो, परन्तु समय आने पर वह स्वयं को आपसे से पृथक् कर लेगा। क्यों न हो, बच्चे का जीवन उसका अपना होता है, आप तो मात्र उसके संरक्षक होते हैं।

उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि आप छुट्‌टी के दिन पिकनिक मनाने जाते हैं और बच्चे को किसी मित्र के घर छोड़ देते हैं। अब वह मित्र बच्चे को खाना देता, उसके साथ खेलता तथा मदद करता है। परन्तु स्वयं अपने विचार एवं मान्यताएँ उस पर थोपता नहीं, क्योंकि आपका मित्र आपके बच्चे पर अपना स्वामित्व नहीं जताता।

समस्या उसी वक्त सिर उठाती है जब आप बच्चे पर अपना हक तथा स्वामित्व जताते हैं। उसके जीवन को मनचाहा मोड़ देना चाहते हैं, मानो आप कुम्हार हैं जो मिट्‌टी के बर्तनों को चाहे जैसा रूपाकार दे सकता है। परन्तु यह गलत है। जहाँ तक आपका उसे जन्म देने का सवाल है, वह आपका है। परन्तु उसका व्यक्तित्व तो अलग है। यह बात अच्छी तरह समझने की जरूरत है।

जब तक बच्चा छोटा रहता है, उसे आपके संरक्षण तथा सहायता की आवश्यकता होती है। परन्तु जब वह बड़ा हो जाता है, वह स्वतंत्र आत्मनिर्भर होता है तथा उसकी आवश्यकताएँ भी भिन्न होती हैं। आपको उसकी जरूरतों के अनुरूप तालमेल स्थापित करना होता है, न कि आप उसको मजबूर करें कि वह स्वयं को आपकी सनक के अनुकूल ढाले। चार वर्ष के बच्चे को स्नान करने, कपड़े पहनने तथा खाना खाने में आपकी मदद की आवश्यकता होती है। परन्तु जब वह दस वर्ष का होता है तो इन कार्यों में उसे आपकी सहायता की आवश्यकता नहीं होती है। पुनः जब वही बालक पन्द्रह वर्ष का किशोर

होता है तो उसकी आवश्यकताएँ बदल जाती हैं। आपको भी अपने बच्चे के साथ-साथ बढ़ना तथा उसकी आवश्यकताओं को समझना चाहिए।

कभी भी बच्चे पर अपने विचार तथा मूल्य थोपने की भूल न करें। उसे स्वतंत्र वातावरण में बढ़ने दीजिये। हो सकता है कि बलात् कहीं आप अपनी कमियाँ और त्रुटियाँ भी बालक में भर दें। ऐसा तो हो नहीं सकता कि अकेले आप ही मानव जाति की सभी अच्छाइयों के पुँज हों। हममें से प्रत्येक में कोई-न-कोई कमी है। हमारे अपने पूर्वाग्रह होते हैं। हम इन्हें भी जाने-अजनाने अपने बच्चों पर थोपने से बाज नहीं आते।

आश्रम में बच्चों को मुक्त वातावरण में विकसित होने का पूरा अवसर दिया जाता है। बड़ों की तरफ से उनके कार्यकलापों में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली जाती। यह सच है कि उनके खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा सुरक्षा की पूरी व्यवस्था रहती है। परन्तु उन्हें अलग-अलग व्यक्तित्व माना जाता है। हम उन्हें माता-पिता की कार्बन कॉपी मात्र नहीं मानते। हमने यह देखा तथा अनुभव किया है कि जब बच्चों को पूरी स्वतंत्रता दी जाती है तो उनमें उत्तरदायित्व की भावना आती है, आत्मविश्वास बढ़ता है और वे अपने से बड़ों का मान-सम्मान करना सीखते हैं। हर बच्चे में जन्म-जात कुछ-न-कुछ विलक्षण प्रतिभा होती है। उसकी इस प्रतिभा को रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये जरूरी है कि आप उसे वह सभी सहूलियतें दें जो इसके लिये आवश्यक हों।

बच्चे में निहित अपार क्षमता को विकसित करने के पूर्व आपको उसके बारे में अपने विचारों को बदलना होगा। उसे उस साँचे में ढालने का प्रयास मत कीजिये जिसे आप उसके लिये सर्वोत्तम मानते हैं। इसके बदले यह पता लगाइये कि वह स्वयं क्या बनना चाहता है, क्या पाना चाहता है। जीवन सम्बन्धी अपने आदर्शों तथा विचारों को उसमें न ठूँसिये, उसे दिग्भ्रमित न कीजिये। हो सकता है आपके विचार आपकी सफलता-विफलता तथा पूर्वाग्रहों से रंगे हों। आप तो मात्र बच्चे के संरक्षक की भूमिका निबाहिये। जब वह चाहे तभी सामने आइये। पक्षी अपने बच्चों को उड़ना नहीं सिखाता, मछली अपने बच्चों को तैरना नहीं सिखाती। वह तो उन्हें केवल आश्रय और संरक्षण प्रदान करता है। जब वे बड़े होते हैं तो खुद ही अपनी देखभाल करने लगते हैं। हमें इनसे सीखना चाहिये तथा अपने बच्चों को सभी जरूरी सुविधाएँ, संरक्षण तथा सहायता प्रदान करनी चाहिए ताकि एक दिन वे भी विकसित पक्षी की तरह पंख फैलाकर मुक्त आकाश में उड़ान भर सकें।

आहार

आजकल शाकाहार और मांसाहार पर बड़ा विवाद चल रहा है। यहाँ मैं इनमें से किसी की भी वकालत करने के पक्ष में नहीं हूँ। परन्तु व्यक्ति के जीवन पर उसकी खुराक का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसलिए इस विषय पर गहराई से चिंतन करने की जरूरत है। जो आहार आप लेते हैं वह आपके शरीर और मन की दशा निश्चित करता है। इस दृष्टि से खुराक आपके जीवनानन्द को या तो बढ़ाती या उसे नष्ट कर सकती है।

यदि आपने पशुओं की यौन सम्बन्धी आदतों का अवलोकन किया हो तो आपने देखा होगा कि शाकाहारी पशुओं की यौन क्रिया अपेक्षाकृत लंबे समय तक चलती है। कुछ में तो यह क्रिया अनेक दिनों तक जारी रहती है, जबकि मांसाहारी पशुओं में ऐसा नहीं पाया जाता। उनमें यह क्रिया थोड़े ही समय में समाप्त हो जाती है। कुत्ते, शेर, सिंह तथा अन्य पशुओं में, जो कि केवल मांसाहार करते हैं, यौन क्रिया बड़ी अल्पकालीन होती है। इसके विपरीत हाथी, बकरे, भैंसे तथा गायों में यौन उत्तेजना वास्तविक मैथुन के घंटों पूर्व तीव्र बनी रहती है। हाल के अन्वेषणों में पाया गया है कि यौन दुर्बलता अथवा असमर्थता का प्रमुख कारण मांसाहार होता है। यदि स्त्री अथवा पुरुष कोई भी संभोग द्वारा पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो पाता है तो उसके व्यक्तित्व में तनाव तथा क्रोध घर करने लगते हैं, विवाह का प्रमुख उद्देश्य अपूर्ण रहता है तथा पारिवारिक जीवन में बिखराव के लक्षण दिखने लगते हैं।

अमेरिका में अधिकतर लोगों का आहार मांसाहार होता है। वहाँ जब भी कोई जोड़ा यौन सम्बन्धों को लेकर असंतुष्ट होता तथा विवाह बन्धनों को तोड़ने का निर्णय लेता है, तो उनके कानूनी तथा विवाह सलाहकार उन्हें अधिक प्रोटीन युक्त मांसाहार कम करने तथा शाकाहारी खुराक बढ़ाने की राय देते हैं।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से स्त्री में पुरुष की अपेक्षा यौन उत्तेजना देरी से आती है। इसलिये दोनों के पूरी तरह संतुष्ट होने तथा यौन सम्बन्धी असन्तुलन और असामंजस्य को टालने के उद्देश्य से उन्हें ऐसा आहार लेना चाहिये जो संभोग को लंबी अवधि तक जारी रखने में सहायक हो, साथ-ही वह यौन उत्तेजना को सन्तुलित ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान करने में भी सहायक होना चाहिये।

संक्षेप में, स्पष्टतापूर्वक यह कहा जा सकता है कि संभोग की लंबाई और गहराई स्त्री-पुरुष की शारीरिक क्षमता पर निर्भर रहती है। यदि जल्दी ही यौन उत्तेजना का तूफान उठता है तो उसका मुख्य कारण मांसाहार है। इसके विपरीत धीमी, सन्तुलित, नियंत्रित और लंबे समय तक टिकने वाली यौन उत्तेजना का प्रमुख कारण शाकाहार होता है। शाकाहार और मांसाहार में, कौन-सा आपके स्वभाव और आवश्यकता के अनुकूल है, इसका चुनाव स्वयं आपको करना चाहिये।

आप लोगों में यह भ्रांत धारणा पाई जाती है कि मांसाहार से प्राप्त होने वाला प्रोटीन ही पुरुष के लिये पर्याप्त होता है। परन्तु यह गलत है। सच यह है कि मांस में बहुत प्रोटीन पाया जाता है, परन्तु यह भी सच है कि अनाज और दालों से शरीर जो प्रोटीन आत्मसात् करता है वह मांस से मिलने वाले प्रोटीन से कहीं अधिक होता है। इसलिये मांस से आप जितना प्रोटीन प्राप्त करते हैं, हो सकता है, आपका शरीर उसे हजम न कर सके, परन्तु अनाजों से प्राप्त होने वाला उतनी ही मात्रा में प्रोटीन आपका शरीर ग्रहण कर ले।

आजकल जिन विधियों से पशुओं को खिलाया-पिलाया और हलाल किया जाता है, कभी-कभी उससे प्राप्त होने वाला मांस इतना दूषित और हानिकारक रसायनों से युक्त होता है कि उससे शरीर को पोषण प्राप्त होना तो दूर, नुकसान अधिक होता है। पशुओं को इंजेक्शन द्वारा या आहार द्वारा अनेक हार्मोन, कृमिनाशक द्रव्य तथा टीके दिये जाते हैं। इनका प्रभाव उनके गोश्त में पाया जाता है। उपभोक्ता उसे नि:शंक ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह विषाक्त तत्त्व खाने वाले के शरीर में पहुँचकर कैंसर, ट्यूमर और अन्य अनेक रोग पैदा करता है।

इसके अतिरिक्त मांस को अनेक वैज्ञानिक विधियों द्वारा सुरक्षित रखने के बावजूद उसमें अनेक प्रकार के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। ये उस समय बड़ी हानि पहुँचाते हैं जब मांस को अच्छी तरह नहीं पकाया जाता। सुअर के मांस में एक विचित्र प्रकार का विषाणु (वायरस) पाया जाता है जो उसे उच्च ताप

पर पकाने के बाद भी नष्ट नहीं होता। जब यह विषाणु शरीर में पहुँचता है तो आँतों की दीवारों में चिपक जाता है। वहाँ इसका विस्तार होता है जो मस्तिष्क को प्रभावित करता है। स्मृतिनाश, चक्कर आना और काले धब्बे दिखाई देने का प्रमुख कारण यह वायरस होता है। यदि सुअर के मांस को उसमें पाये जाने वाले विषाणु के नष्ट होने तक न पकाया जाये तो वह हमारे शरीर को अकल्पनीय हानि पहुँचा सकता है।

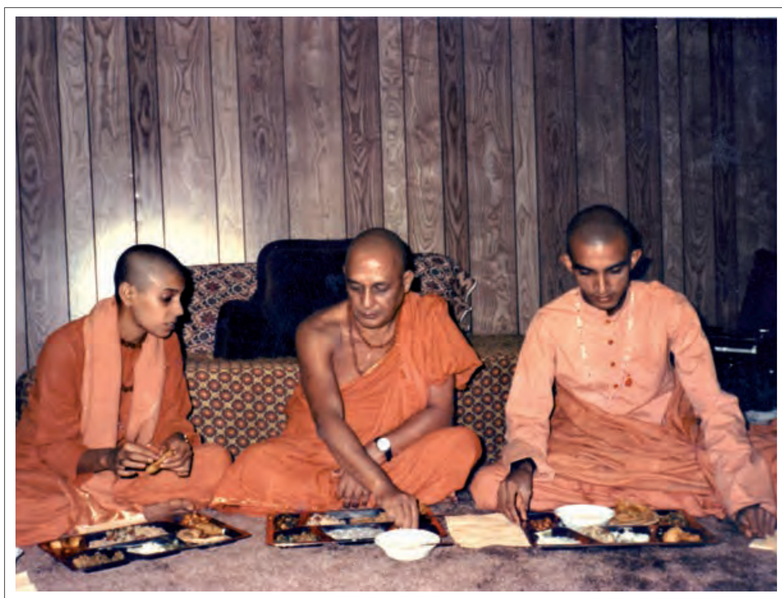
अनेक बीमारियों का प्रमुख कारण मांसाहार है। इनमें हृदयाघात तथा तनाव प्रमुख हैं। आप जो मांस खाते हैं उसमें एड्रिनलिन नामक हार्मोन बड़ी मात्रा में पाया जाता है। आपतकाल में यह हार्मोन हमारे रक्त प्रवाह में मिलकर तीव्र उत्तेजना प्रदान करता है। हम सभी जानते हैं कि भय की दशा में यह हार्मोन बड़ी मात्रा में निकलता है। जिस समय पशु को हलाल किया जाता है, वह बड़ा भयभीत होजाता है। बड़ी मात्रा में यह हार्मोन उसके रक्त में मिलता है। यह मांस के ऊतकों में मौजूद रहता है। इस प्रकार यह उस मांस को खाने वाले के शरीर में पहुँच जाता है। जब भी थोड़ा भय या तनाव की स्थिति आती है, शरीर में उपस्थित यह अतिरिक्त एड्रिनलिन बहुत अधिक उत्तेजना प्रदान करता है।

यदि आपने मानव शरीर-रचना का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है तो आपने देखा होगा कि मनुष्य के दाँतों की रचना ऐसी होती है कि वह मांस को अच्छी तरह काट-कुतर और चबा नहीं सकता। मांसाहारी पशुओं के दाँत बड़े और पैने होते हैं। वह मनुष्य की अपेक्षा कहीं बेहतर ढंग से मांस को काट, फाड़ और चबा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मांसाहारी पशुओं की आँतों की लम्बाई मनुष्य की आँतों की लम्बाई से कम होती है। इसलिए वे मांस जल्दी पचा लेते हैं। इसके विपरीत चूँकि मनुष्य की आँतें अधिक लंबी होती हैं, मांस पेट में अधिक समय तक रहता है। उसमें सड़न और दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप पाचन क्रिया और मल निष्कासन अनियमित और असंतुलित होता है।

यह तो आहार के शरीर पर होने वाले प्रभाव हैं। इसके अतिरिक्त आहार का प्रभाव मन पर भी पड़ता है। हमने अनुभवपूर्वक यह देखा है कि शाकाहारी लोगों का मन और भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक शान्त और सन्तुलित होती हैं। इसका मतलब यह नहीं कि यदि आप शुद्ध शाकाहारी खुराक लें तो अपने आप शान्त और स्थिर हो जायेंगे। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि यदि आप उपयुक्त आहार लें तो आपका जीवन सहज-स्वाभाविक होगा। इससे आपके शरीर और

मन में स्थिरता और सन्तुलन के विकास में मदद मिलेगी। ऐसा न सोचिये कि साधक अथवा कर्म संन्यासी बनने के लिये आपको अनिवार्य रूप से शाकाहारी बनना ही होगा। यह सच नहीं है, भले ही शाकाहार आपके लिये कितना ही लाभदायक क्यों न हो, चुनाव केवल आपको करना है।

कर्म संन्यासी का मूल लक्ष्य मानसिक चेतना और संवेदनशीलता का उच्च विकास है। इससे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है, शरीर तनावरहित रहता है, साधना सहज ढंग से होती है। युगों-युगों से यह तथ्य सही पाया गया है। शाकाहार के पक्ष में इतना कुछ कहने के बावजूद मैं यह जोर देकर कहना चाहूँगा कि यदि आप किसी भी हालत में मांसाहार त्यागने में असमर्थ हैं तो इससे भयभीत होने की जरा भी आवश्यकता नहीं है। मांसाहार न तो उच्च चेतना की प्राप्ति में बाधक है और न ही अध्यात्म विरोधी है। क्या खाएँ, क्या न खाएँ, इसका निर्णय आप स्वयं अपने विवेक से कीजिये। महाराज मनु ने, जिन्होंने नियम-कायदों के महान् ग्रंथ 'मनुस्मृति' की रचना की थी, इस विषय पर स्पष्ट लिखा है – "मांस खाना अथवा शराब पीना न तो गलत है और न बुरा। यह शरीर की मांग है। परन्तु यदि आप इनसे परहेज करें, तो आपको कहीं बेहतर परिणाम मिलेंगे।"



धन-सम्पत्ति

भारत में धन की कल्पना एक रूपवती युवती देवी के रूप में की गई है, जिसे लक्ष्मी कहते हैं। भारत में अनेक लोग इस देवी को प्रसन्न करने के लिये बड़ी पूजा-आराधना करते हैं। प्रति वर्ष कार्तिक माह की अमावस्या के दिन दीपावली मनाई जाती है और बड़ी धूमधाम से लक्ष्मी-पूजन किया जाता है। यह दीपमालिका प्रकाश का पर्व होता है। लोग अपने घरों की भीतर-बाहर से सफाई, लिपाइ-पोताई तथा रंग-रोगन करते हैं। इस पर्व में घर में नये वस्त्र, बर्त्तन और अन्य वस्तुएँ खरीदी जाती हैं। रातभर घी के दीपक जलाकर, जागरण करते और दरवाजों को खुला रखते हैं, ताकि धन की देवी उनके यहाँ पधारने के लिये आकृष्ट हो।

लक्ष्मी वैभव और संपन्नता का पर्याय है तथा घर में उसके आगमन को बड़ा शुभ और पवित्र माना जाता है। जिनके यहाँ वह आती है, वे स्वयं को बड़ा किस्मत वाला मानते हैं। यद्यपि लक्ष्मी थोड़े समय के लिये आपके घर आने के लिये आकृष्ट हो सकती है तथापि भारतीयों का यह विश्वास है कि उसे स्थायी रूप से अपने यहाँ बनाये रखना एक बड़ा कठिन कार्य है। उसकी कृपा पाने के लिये उसकी शर्तों को कबूल करना और धन-दौलत के प्रति एक सन्तुलित दृष्टिकोण बनाये रखना आवश्यक है।

हमें हमेशा यह बताया जाता है कि धन एक बुराई है और यदि कोई सर्वथा दोषमुक्त रहना और पवित्र उद्‌देश्यों को बनाये रखना चाहे तो जरूरी है कि वह लक्ष्मी को दूर से ही नमस्कार कर ले। धन के अपने बड़े खतरे भी हैं, परन्तु जीवन-व्यवस्था को चलाने के लिये धन जरूरी भी है। जीवन में आनन्द और ऐश्वर्य के उपभोग के लिये धन जरूरी होता है। धन स्वयं में बुरा नहीं है, अपितु उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण और मनोवृत्ति उसे अच्छा अथवा बुरा बनाते हैं।

मनुष्य की एक बड़ी कमी तथा मानसिक बनावट ऐसी है कि वह जो कुछ पाता है उससे अधिक की कामना करता है। उसकी धन की भूख कभी शान्त नहीं होती। कभी-कभी धन के पीछे उसका पागलपन उसके विवेक को भोथरा कर देता है। वह धन की मदिरा के नशे में अपने होश-हवास खो देता है। वह अपने आस-पास कल्पना का एक झूठा दायरा निर्मित कर स्वयं को इतना महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली मानने लगता है कि यथार्थ से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। धन के प्रति दीवानापन उसमें लोभ, ईर्ष्या, घृणा और घातक महत्त्वाकांक्षा को जन्म देता है। प्राय: यह देखा गया है कि जब व्यक्ति के पास धन बरसने लगता है तो उसमें अच्छाई, मानवता, उदारता जैसे सद्‌गुणों का लोप हो जाता है। चौबीसों घंटे उसे अपने धन की सुरक्षा की चिन्ता सताती है और उसे लगता है कि हर कोई उसे धोखा देकर उसके धन का अपहरण करना चाहता है। इस कारण उसका जीवन धन को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिये संघर्षशील हो जाता है। वह जीवन के मजामौज और आनन्द से वंचित हो जाता है।

मनुष्य के दु:ख और अपयश का कारण उसकी अपनी धन पिपासा को संयत करने की असमर्थता होती है। धन स्वयं में बुरा नहीं है, अपितु उसके प्रति आपकी मनोवृत्ति यह निर्धारित करती है कि उसका आप पर विधायक प्रभाव पड़ता है अथवा घातक। निसर्ग ने धन और विलासिता के अन्यान्य साधन इसलिये निर्मित किये कि उससे मनुष्य का जीवन सहज आनन्दमय और उल्लासपूर्ण बने। मनुष्य धन को उसके सही अर्थों में ग्रहण करने के विपरीत उसका गुलाम बनता है, उसके नशे में चूर हो अनुचित व्यवहार करने लगता है। धन से अपनी तथा दूसरों की जरूरतें पूरी करना तो दूर रहा, अधिक से अधिक धन संचय का पागलपन उसे अवास्तविक और उद्‌देश्यच्युत कर देता है। वह धन का स्वामी नहीं, बल्कि उसका गुलाम और चौकीदार मात्र रह जाता है। उसका जीवन आशंकित और भयाक्रांत हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप वह चिन्तित, परेशान रहता, रक्तचाप, अनिद्रा, क्षुधानाश, अपच, आन्त्रक्षत् जैसी भयानक बीमारियों के चक्कर में पड़ जाता है। अब धन उसे आनन्द और आरोग्य नहीं दे पाता। वह स्व-निर्मित जाल में फँस जाता है।

धन के प्रति आपका स्वस्थ सन्तुलित दृष्टिकोण कैसा हो यह सीखने के लिये विश्व के महान् संत-महात्माओं के जीवन पर दृष्टि डालिये। हालाँकि वे

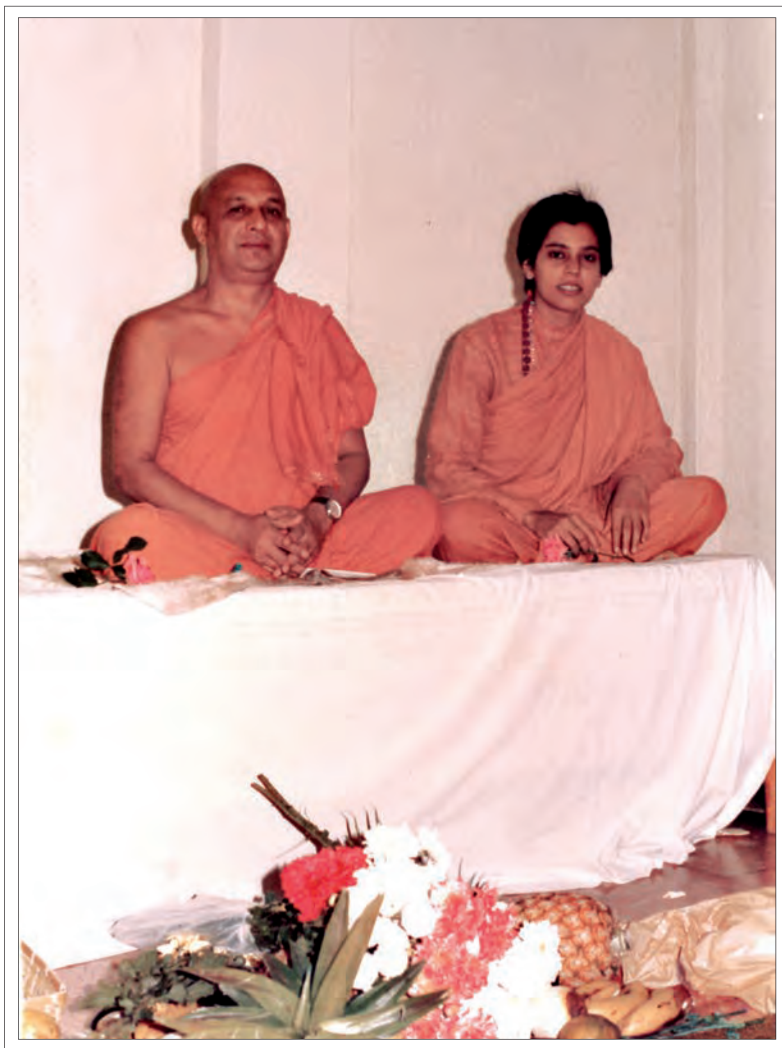
अपार धन-सम्पत्ति हासिल करते हैं, परन्तु कभी भी उसे अपना नहीं मानते। जो कुछ भी उन्हें मिलता है उसका अधिकतम अच्छे-से-अच्छा उपयोग करते हैं। इसके लिये रात-दिन स्वयं को चिन्ता और परेशानी में डालने की गलती नहीं करते। धन के बारे में उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यावहारिक होता है। वे धन को अपने महान् उद्देश्यों की उपलब्धि का साधन मानते हैं। इसके सिवाय उनके जीवन में धन का जरा भी महत्त्व नहीं होता। वे सुख, शान्ति और आनन्द के लिये धन को कतई आवश्यक नहीं मानते। कदाचित् उनकी सारी धन-सम्पत्ति उनसे छीन ली जाये तो भी वे उतनी ही शान्ति और मस्ती में जीते हैं जितना धन प्राप्ति से पूर्व रहते थे।

धन एक चंचल नारी की तरह होता है। आप जितना उसके पीछे भागें, वह आपको तरसाती तथा ललचाती है। धन का उपयोग तो कीजिये, परन्तु स्वयं न तो उस पर निर्भर होइये और न ही उसका दास बनिये। धन से जो आनन्द और आराम मिलता है उसके प्रति उदासीन रहना सीखिये, तब आपको महसूस होगा कि आपका धन के पीछे दौड़ना बेकार था और यह भी कि धन-सम्पत्ति के बिना भी जीवन में सुख और आनन्द प्राप्त हो सकते हैं। जब आप स्वयं को धन की पकड़ से मुक्त रख पायेंगे तभी धन के द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द का अधिकतम उपभोग कर सकेंगे।

एक कर्म संन्यासी को अपने जीवन में सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त अपनाना चाहिए। आप संचय के लिए जो श्रम और समय खर्च करते हैं वह अनावश्यक है, क्योंकि जितना कुछ आप एकत्र करते हैं, उसके गुलाम बन जाते हैं। यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता और एक दिन आपकी धन-सम्पत्ति ही आपका सूत्रधार बन जाती है। ऐसे ही समय लक्ष्मी आपको छोड़कर जाने का निर्णय करती है। यह आघात आपको विचलित और संज्ञाशून्य कर देता है। आप टूट जाते हैं, बिखर जाते हैं। धन उस चंचल नारी की तरह है जो आज मेरे पास है तो कल आपके पास और परसों किसी तीसरे के पास चली जाती है। जो व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता की कीमत पर धन से लगाव रखता है वह अंततोगत्वा पागल हो जाता है। वह धन पर इतना अधिक आश्रित रहने लगता है कि उसकी निहित शक्ति और क्षमता समाप्त हो जाती है।

कर्म संन्यासी के रूप में धन का विधायक ढंग से उपयोग करना सीखिये। उसके प्रति अपने दृष्टिकोण में आमूल-चूल परिवर्तन कीजिये। धन के प्रति

व्यावहारिक, सन्तुलित और संयत दृष्टिकोण अपनाइये। स्वयं तथा परिवार के लिये उसका अच्छे से अच्छा उपयोग कीजिये। सुख व आराम से रहने के लिये उसे खर्च कीजिये। परन्तु धन के लिये अपनी आत्मा और स्वतंत्रता गिरवी न रखिये, क्योंकि आत्मा और स्वतंत्रता संसार की समस्त दौलत से कहीं अधिक मूल्यवान् हैं।



उपसंहार

अर्वाचीन मानव का यह दृढ़ विश्वास है कि किसी अरुचिकर परिस्थिति में सुधार लाने का एकमात्र उपाय उसे बदल देने में है। यदि पत्नी आपके अनुकूल न हो, आप उससे असंतुष्ट हों तो उसे हटाकर दूसरी पत्नी ले आयें, यदि आपका व्यवसाय आपमें तनाव और द्वन्द्व का कारण है तो उसे छोड़कर दूसरा अपना लें। यदि आपका मकान और कार पुराने हो गये हों तो उन्हें बदलकर नये प्राप्त कर लें। जीवन में स्थायी कुछ भी नहीं रह गया है, यहाँ तक कि मनुष्य अपना धर्म, सामाजिक और राजनैतिक विचारधारा बदल कर भी सुखी होने के लिये तत्पर है। ऐसी विचारधारा उसमें कूट-कूट कर भर दी गई।

इन बातों का परिणाम यह हुआ है कि आधुनिक मानव का जीवन-स्तर बहुत ऊँचा उठ गया है। वह सुविधा संपन्न विशाल घरों में रहता है, आधुनिक वस्त्र पहनता है, वातानुकूलित कारों में चलता है। उसके मजामौज के साधन बड़े रोमांचक हो गये हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इन सब बातों से उसका असंतोष, असामंजस्य और बेचैनी दूर हो सके हैं? आज का मनुष्य अपने समाज से कोई तालमेल नहीं बैठा पा रहा है, वह प्रवाह के प्रतिकूल चल रहा है।

याद रखिये, अपने अनुभव के स्तर में सुधार लाने के लिये यह जरूरी है कि पहले हम अपने मन को सुधारें, चेतना को सुधारें। जब तक हम अपने दृष्टिकोण में सुधार नहीं करते, बाह्य जीवन की तड़क-भड़क, भोग-विलास और समृद्धि का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता। आप भले ही पति, पत्नी, व्यवसाय, कार, मकान, धर्म और दर्शन बदलते चले जायें, लेकिन यदि आपका मन तथा चेतना जरा भी न बदले तो इन बाहरी परिवर्तनों का

कोई प्रभाव होने वाला नहीं है, क्योंकि आप भीतर से जैसे थे वैसे ही बने रहेंगे और समस्त बाहरी परिवर्तनों और अपने आस-पास के वातावरण को दूषित, त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण से देखते रहेंगे।

आंतरिक चेतना और समझ-बूझ में सुधार ही वह एकमात्र उपाय है जिससे जीवन में गुणात्मक सुधार लाया जा सकता है। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि प्रारम्भ कहाँ से करें। आपने अनेक द्वार खटखटाए, परन्तु खुला एक भी नहीं, केवल निराशा हाथ लगी, यहाँ तक कि धर्मान्तरण भी आपके अनुभवों को सुधार नहीं पाया। चूँकि अपने धर्म में मनुष्य को जो अटल आस्था होती है वह व्यक्तिगत अनुभवों से होती है। यह आस्था तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवार, समाज और संस्कृति से, जिसमें हम जनमते, पलते और बढ़ते हैं, प्राप्त होती है।

सच्ची आस्था में वह शक्ति होती है जो व्यक्ति को बदल सकती है। परन्तु यह आस्था जीवन्त हो, मुर्दा न हो। इसके फलने-फूलने के लिये व्यक्तिगत अनुभव भी आवश्यक है, क्योंकि उसी से हम में विश्वास, निष्ठा और समर्पण दृढ़मूल होते हैं।

आइये इस समस्या पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करें। आजकल अधिकतर लोग नास्तिक और संशयी होते हैं। आस्था के माध्यम से उनमें कोई परिवर्तन लाना कठिन है। उन्हें व्यावहारिक मार्गदर्शन की आज कहीं अधिक आवश्यकता है ताकि वे अपने मन के गुणात्मक सुधार के लिये कुछ प्रयत्न कर सकें। इसके बाद ही उनमें, उनके मन और चेतना में कुछ सुधार आयेगा, जिससे उन्हें स्थायी सुख और शान्ति मिलने की संभावना बढ़ेगी।

जीवन के अन्यान्य द्वन्द्व, जैसे, सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, जिनका हमें आये दिन अनुभव होता रहता है, मात्र प्रेरक होते हैं। इनका उद्देश्य आपके भीतर जो कुछ छुपा-भरा पड़ा है उसे ऊपर लाना होता है। यदि आप ऐसा समझते हैं कि आपके दुःख और पीड़ा का कारण आपकी पत्नी है तो यह गलत है। यदि आप उसे हटाकर दूसरी पत्नी लाने का प्रयत्न करते हैं तो क्या यह संभावना नहीं कि पुनः ऐसे ही अनुभव हों? पूरे संसार में लोग इसी समस्या से जूझ रहे हैं। हर परिवार और हर व्यक्ति के सामने कमोबेश यही कठिनाई है। कहीं पति शराबी है, परिवार की जरा भी परवाह नहीं करता, तो कहीं पति-पत्नी में जरा भी तालमेल और समझबूझ नहीं पाई जाती। दोनों के अपने-अपने अलग सम्बन्ध होते

हैं, जो पारिवारिक कलह और विघटन का कारण होते हैं। किसी परिवार में बच्चे बागी होते हैं, नशा करते हैं और उद्दंड व्यवहार करते हैं तो कहीं गरीबी और बेरोजगारी दु:ख और कलह का कारण होती है। सम्पन्न धनी परिवारों में भी दु:ख पीड़ा और असंतोष की भरमार है।

हमने कई रूपों में जीवन पर प्रयोग करके देख लिया है। धन, वैभव और संपन्नता द्वारा अपने जीवन-स्तर को ऊँचाई के कीर्तिमान तक ले जा सके हैं, परन्तु इस अंधी दौड़ में हम अपने उद्देश्य से भटक गये हैं। स्थायी सुख-शान्ति की मृग मरीचिका के पीछे भागते रहे हैं। केवल असफलता ही हमारे हाथ लग पाई। यदि निम्नतम जीवन में शोक, दु:ख और अशान्ति है तो ऐश्वर्यमय जीवन में भी उनकी कमी नहीं है, बीमारी, दु:ख और बुढ़ापा हर एक का दरवाजा खटखटाते हैं। जीवन में धन, पद और ऐश्वर्य थोड़े समय के लिये आते हैं। उनसे आपको केवल उतना ही आनन्द मिल सकता है जितनी आपकी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्षमता होती है।

सुख की खोज एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया होती है। परन्तु विडंबना यह है कि यह खोज गलत दिशा में चल रही है। याद रखिये, बाह्य जीवन आंतरिक विकास का मात्र उत्प्रेरक होता है। अंत में आपकी अर्जित आंतरिक शक्ति ही जीवन में आपकी सफलता अथवा असफलता निर्धारित करती है। यदि आप अपनी आंतरिक क्षमता विकसित कर सकें तो आपका जीवन सहज ढंग से बदल सकता है और आपके लिये स्थायी आनन्द का अजस्र स्रोत बन सकता है।

जीवन में सर्वांगीण विकास के लिये व्यक्ति के भीतरी और बाहरी विकास में समानता होनी चाहिये। यद्यपि मनुष्य के उत्थान के लिये बाह्य जीवन में विकास आवश्यक है; तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अनुभव में गुणात्मक सुधार का आधार हमारा अपना आंतरिक जीवन होता है। कर्म संन्यास दीक्षा इसी आवश्यकता को प्रतिपादित करती है। यह कोई सूक्ष्म जटिल दर्शन नहीं, अपितु गतिशील व्यावहारिक जीवन की कुंजी है।

यह ग्रंथ कर्म संन्यासी के जीवन के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डालता है। परन्तु हमारी बातों की सचाई के अनुभव के लिये आपको छलाँग तो लगानी ही होगी। यह छलाँग लगाने का समय और अवसर बस आ ही गया है। जीवन और अनुभव में गुणात्मक सुधार के दृढ़ निश्चय पर तत्काल अमल कीजिये। इसे उस समय के लिये स्थगित रखने की भूल कतई न करें, जब आप सब

ओर से टूट जायें, थक जायें। जीवन की घटनाओं को एक सूत्र में पिरोइये। जीवन को एक नया ढाँचा, रूपाकार, सौंदर्य एवं उद्‌देश्य प्रदान कीजिये। उठिये, समय न गँवाईये, जल्दी कीजिये।

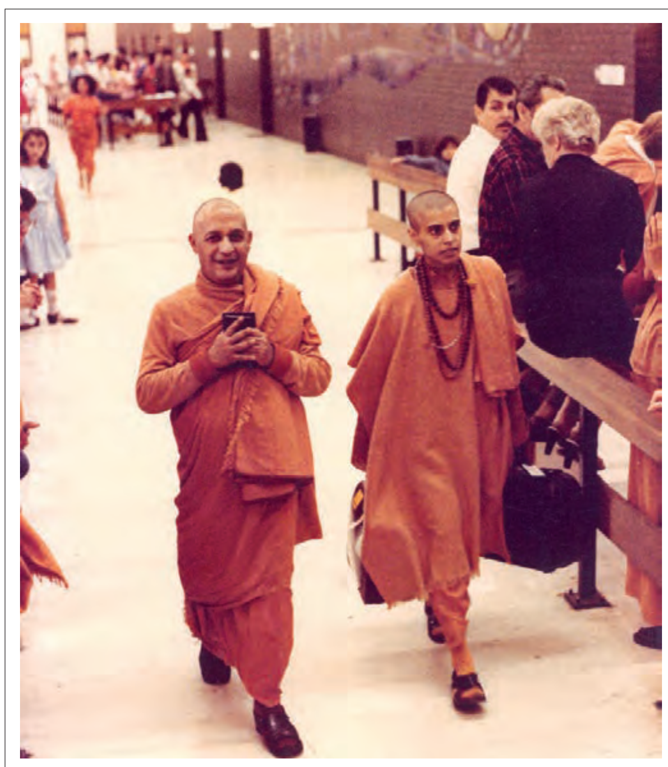
आपको खोना कुछ भी नहीं है, बल्कि पाना ही पाना है, क्योंकि अज्ञान और दु:ख के बन्धनों के अतिरिक्त आपके पास है ही क्या? उसे तोड़ने में हानि की अपेक्षा लाभ-ही-लाभ है। मुश्किल तो यह है कि लोग अज्ञान से भी उसी तरह चिपके रहते हैं जैसे धन-दौलत से। वे इन बन्धनों को भी धन-सम्पत्ति की तरह सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। अब यदि कोई उन्हें इस जंजाल से मुक्ति दिलाने का प्रयास करता अथवा उपदेश देता है तो वे उसे शक की नजर से देखते हैं। वे शंका, अविश्वास और विरोध के रोड़े अटकाना प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हें दु:ख और अभाव से मुक्ति, मुक्ति नहीं लगती, बल्कि वे जीवन में उनके बिना एक प्रकार का रीतापन अनुभव करने लगते हैं। इसलिये वे उनसे चिपके रहने का हर सम्भव प्रयास करते हैं।

अब इन दोनों के बीच चुनाव के लिये आप स्वतंत्र हैं। आप चाहें तो अपने शेष जीवनभर दु:ख-दर्द और अभावों से चिपके रहें। धन-दौलत की तरह इनकी देखभाल और सुरक्षा करते रहें। अपने दु:ख के लिये हर किसी को दोषी माने अथवा अपने शरीर, मन, चेतना और भावनाओं में आमूलचूल परिवर्तन लायें। जीवन के हर कार्यकलाप में सक्रिय भूमिका निभाएँ। तो आइये, आज ही कर्म संन्यास दीक्षा और उसके सफल मार्गदर्शन में आप उन समस्याओं का समाधान पाने में निश्चय ही सफल होंगे जो अब तक आपसे आँख-मिचौली करती थी।

बिना गुरु के अवलंब के इस मार्ग पर बढ़ने की गलती न करें। विश्व इतिहास में ऐसे व्यक्ति विरले ही मिलते हैं जिन्होंने गुरु के मार्गदर्शन बिना अकेले ही आध्यात्मिक यात्रा पूरी की हो। ऐसे लोग उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। यह उदाहरण आप स्वयं पर लागू नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे लोगों में कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो सामान्य जनों में नहीं मिलतीं। यदि आप भी गुरु के बिना आध्यात्मिक यात्रा पूरी करना चाहें तो सबसे पहले अपने में उन गुणों को विकसित कीजिये जो उनमें थे। अपने शरीर, मन और आध्यात्मिक स्तर में गुणात्मक सुधार लाइये। यदि आप ऐसा कर पाने में खुद को असमर्थ पायें तो अपनी सीमाओं और असमर्थता को स्वीकारते हुए स्वयं को समर्थ, अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन के लिये खुला

छोड़ दीजिये। यदि आप गुरु की बातों को सुने, समझें और उसके अनुसार आचरण करें तो वह आपका मार्गदर्शन करने और आपको स्वीकार करने के लिये सहर्ष तैयार होंगे।

हो सकता है ये बातें आज आपकी समझ में न आयें। परन्तु किसी दिन आप इन्हें अवश्य समझेंगे। यदि कोई व्यक्ति सोया हो तो वर्तमान और भविष्य गुजर जाते हैं। इसका उसे पता ही नहीं लगता और वह हमेशा ही भूतकाल में सोया रहता है। वह कारण की उधेड़बुन में ही खोया रहता है। कार्य का उसके जीवन में क्या प्रभाव पड़ रहा है, इससे वह बेखबर रहता है। परन्तु जो व्यक्ति वर्तमान और भविष्य के प्रति सचेत रहता है वह अपने जीवन को नयी परिस्थिति में ढालने का प्रयास करता है, वह जीवन में अधिक सफल होता है। अवसर आपके सामने है, आपको केवल सचेत होकर उसका उपयोग करने के लिये तत्पर होना चाहिये। केवल तभी आप कर्म संन्यास के महत्त्व को समझ पायेंगे।



द्वितीय भाग

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के प्रवचनों का संकलन

जीवन का नया दृष्टिकोण

कर्म संन्यास व्यवस्था मेरे द्वारा स्थापित नहीं है। यह ऋषि-मुनियों द्वारा रची गई थी तथा युगों-युगों से चली आ रही है। कर्म संन्यास का उद्देश्य उन लोगों के लिये वास्तविक संन्यास तथा उच्च आध्यात्मिक जीवन का अनुभव उपलब्ध कराना है जो गृहस्थ जीवन में रह रहे हैं।

संन्यास, विकास का चरम बिन्दु माना जाता है। इसमें आप आत्मसाक्षात्कार के लिये स्वयं को पूरी तरह समर्पित करते हैं। परन्तु ऐसा कर पाना सबके लिये संभव नहीं है; क्योंकि आप समाज में रहते हैं, आपका अपना परिवार होता है। परिवार, समाज और देश के प्रति आपके कुछ उत्तरदायित्व होते हैं। इन सबके बीच रहते हुए अनेक बार आप जीवन का उद्देश्य जानने के लिए छटपटाते हैं। यह छटपटाहट हर किसी में नहीं पायी जाती। परन्तु जो आध्यात्मिक, दार्शनिक अथवा विश्लेषणात्मक स्वभाव के होते हैं वे अस्तित्व के अर्थ और उद्देश्य को जानने की जिज्ञासा रखते हैं।

आप यह जानने में समर्थ नहीं होते कि मैं जीवित क्यों हूँ, काम क्यों करता हूँ। जब आप जीवन की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हैं, तो इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि किसी भी बात में कोई तुक नहीं है, कोई अर्थ ही नहीं है, सब कुछ बेकार है। मानो आप चलते चले जा रहे हैं, परंतु आपको यह नहीं मालूम कि आपको किधर जाना है, और जिस रास्ते पर आप जा रहे हैं वह कहाँ समाप्त होगा। जीवन आपको दिशाहीन लगता है, जिसमें खाना, पीना, सोना और मजामौज ही सब कुछ होता है। कभी-कभी आप स्वयं से पूछते हैं, "मैं कहाँ जा रहा हूँ"। इसके बाद ही आप सही रास्ते की खोज प्रारंभ करते हैं और अंधकार से बाहर निकल पाते हैं। गृहस्थ के रूप में आपको यह कभी नहीं बताया गया कि आप क्यों जीवित हैं, जबकि बचपन से ही आपको यह अच्छी

तरह समझाया जाता था कि मनुष्य के अस्तित्व का क्या तात्पर्य होता है। यही कारण है कि आगे चलकर आपको असंतोष और अधूरेपन का अनुभव हुआ। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि गृहस्थ जीवन अधूरा होता है, क्योंकि हर व्यक्ति स्वयं में पूर्ण होता है। परन्तु आपने इसे महसूस नहीं किया, क्योंकि आपको कभी यह बताया ही नहीं गया।

एक उदाहरण द्वारा इसे समझ सकते हैं। मान लो आप सड़क पर चले जा रहे हैं, कोई आपसे कहता है, चलते चले जाओ, परन्तु आप जानते ही नहीं कि आपको कहाँ जाना है। यह तो आपके पथ प्रदर्शक को चलना प्रारंभ करने के पूर्व ही बता देना चाहिए था कि आप बंबई, दिल्ली, कलकत्ता अथवा समुद्र की ओर जा रहे हैं। परन्तु चूँकि उन्हें स्वयं ही मानव गंतव्य की जानकारी नहीं थी, वे आपको कैसे बताते। कहीं अंधा अंधे का मार्गदर्शन कर सकता है? उनमें मौलिक ज्ञान की कमी थी अथवा प्रकृति के उद्देश्य की जानकारी का अभाव था।

प्रकृति का अपना उद्देश्य होता है। यहाँ प्रकृति से मेरा तात्पर्य नदी, पहाड़ और जंगलों से नहीं है। भले ही यह सब कुछ आपकी प्रकृति की परिभाषा में सम्मिलित हो। परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकृति एक महान् नियम है जो सृष्टि, उसकी वृद्धि और रूपांतरण से संबंधित होती है। एक सार्वभौम नियम होता है जो प्रत्येक कण की उत्पत्ति, विकास और रूपांतरण को नियमित करता है। इसे प्राकृतिक नियम कहते हैं। वनस्पति जगत् के स्वभाव, रासायनिक द्रव्यों के गुण, चुंबकीय तथा विद्युत चुंबकीय तरंगों के व्यवहार तथा उनके अस्तित्व का नियमन इस प्राकृतिक नियम के अधीन होता है।

इस नियामक शक्ति का नाम ही प्रकृति है जिसके आठ घटक होते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, अहं, मन और बुद्धि–यही आठ व्यष्टि और समष्टि प्रकृति का निर्माण करते हैं। यह प्रकृति पिंड में, ब्रह्माण्ड और विराट् विश्व (त्रिभुवन) में पाई जाती है। जहाँ तक विराट् ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध है, यह अनगिनत आकाशगंगाओं, लाखों सूर्यों और उनके सौर मंडलों तथा अन्य अनेक वस्तुओं को नियमित करती है। जहाँ तक पिंड अथवा व्यष्टि प्रकृति का सम्बन्ध है, यह हर व्यक्तिगत बात को नियमित करती है। यही कारण है कि हर व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र प्रकृति होती है जो अपने मौलिक नियमों द्वारा न केवल व्यक्ति के प्रारब्ध और हलचलों को नियमित करती है, बल्कि उसके समूचे अस्तित्व को ही अपने ढंग से

चलाती है। यही शक्ति उसके पाचन, श्वसन तथा रक्त-संचार आदि समस्त प्रक्रियाओं को संचालित करती है।

आपको सार्वभौम दर्शन की जानकारी कभी नहीं दी गई। इसके बदले आपको यह बताया गया कि एक ईश्वर है जिसने समस्त सृष्टि की रचना की है। परन्तु जब आप ईश्वर की धारणा को तर्क की कसौटी पर कसते हैं तो आपकी समझ में कुछ भी नहीं आता है, उसे स्वीकार करना तो दूर रहा। मैं जानता हूँ कि सृष्टि प्रकृति का गुण है, चेतना का नहीं। पुरुष का अर्थ सर्वोच्च चेतना होता है। वह अचल और अविकसित होता है, उसका नाम अथवा रूप कुछ भी नहीं होता। हम उसके लिये जो भी नाम प्रयुक्त करते हैं, वह मात्र हमारी सुविधा के लिये होता है। कोई उसे ईश्वर कहता है तो कोई आत्मा। उस सर्वोच्च सत्ता के अनगिनत नाम हैं। इसके बाद भी उसका न कोई नाम है न पता। यदि आप प्रार्थना करें तो क्या उसे ईश्वर के नाम ब्रह्माण्ड के द्वारा भेजेंगे अथवा चर्च अथवा किसी संत-महात्मा के नाम से संबोधित करेंगे।

नहीं! यह कुछ भी सही नहीं है, ईश्वर स्रष्टा, पोषक, विनाशक, माँ अथवा बाप कुछ भी नहीं है। वह पिंड और ब्रह्माण्ड में घटित हर घटना का मूक दर्शक होता है। यह समूचा जादू और नाटक प्रकृति और उसकी शक्तियों का है। अत: आधुनिक वैज्ञानिक की तरह मैं दार्शनिक द्वैतवाद में विश्वास रखता हूँ। याद रखिये, दो शाश्वत शक्तियाँ होती हैं। यह वैज्ञानिक द्वैत ही सत्य है।

दो शाश्वत सत्य और प्रक्रियाएँ होती हैं, जिन्हें पुरुष और प्रकृति कहते हैं। प्रकृति हमें जन्म देती और अनुशासित रखती है। दुर्भाग्यवश, चूँकि ये बातें आपको नहीं बताई गयीं, इसलिये आपको जीवन अर्थहीन लगता है। मानो आप अंधकार में भटक रहे हैं। जब भी आप गंभीरतापूर्वक जीवन का विश्लेषण करते हैं तो आपको सब कुछ व्यर्थ लगता है। इसलिये आपको अपने अस्तित्व का उद्देश्य ज्ञात नहीं हो पाता।

ऐसे ही भूले-भटके गृहस्थों के लिये कर्म संन्यास महत्त्वपूर्ण है। कर्म संन्यास आपको गृहस्थी की जिम्मेदारियों से दूर नहीं करता। जो जैसा है, जहाँ है वहीं बना रहता है। कर्म संन्यास पति-पत्नी को या बच्चों को एक-दूसरे से दूर नहीं करता। जीवन जैसा चल रहा था, कर्म संन्यास के बाद भी वैसा ही चलता है। आपको अपनी यात्रा के उद्देश्य और गंतव्य का पता मिल जाता है। आप कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं, इन सब बातों की जानकारी कर्म संन्यास से मिलती है।

बस, इसलिए मैं गृहस्थों को कर्म संन्यास में दीक्षित करता हूँ। मैं जानता हूँ कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो पूर्ण संन्यास ले सकते हैं। यदि सभी संन्यासी बन जायें तो एक विकट समस्या उठ खड़ी होगी–विकास की प्रक्रिया थम जायेगी। यदि सभी लड़के-लड़कियाँ सीधे विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर कक्षाओं में प्रवेश ले लें तो सोचिये कितनी घोर अव्यवस्था होगी।

पूर्ण संन्यास सबके लिये नहीं होता और न ही सबमें उसकी पात्रता होती है, क्योंकि विकास के पथ पर सब कभी भी एक बिन्दु पर नहीं होते; किसी में राग तो किसी में वैराग्य प्रधान होता है। किसी का मन पवित्र तो किसी का दूषित होता है। कोई दृढ़ निश्चयपूर्वक आगे बढ़ता है तो कोई लड़खड़ाकर बैठ जाता है।

गृहस्थों को यह जानना चाहिए कि प्रकृति का उद्देश्य हर व्यक्ति के जीवन में आत्मसाक्षात्कार के उच्च अनुभव को जगाना है। परन्तु यह एकाध दिन की प्रक्रिया तो है नहीं। यह महान् अनुभवों का निचोड़ होता है। सामान्य जीवन में इच्छाओं की पूर्ति, लोभ, वासनाएँ, हताशा, निराशा, क्रोध, उदासी, दुःख, पीड़ा, शोक आदि की प्रक्रियाएँ अंततोगत्वा आपको विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचाने में सहायक होती हैं।

दैनिक जीवन में आपसे अथवा दूसरों से संबंधित जो भी अनुभव आपको होते हैं वे सबके सब इस महान् प्रक्रिया के अंग होते हैं। उन्हें बुरा अथवा अवांछनीय न कहिये। वे आपके आध्यात्मिक विकास में रोड़े कतई नहीं होते, बल्कि उन्हें आपके विकास के उत्प्रेरक तत्त्व कहा जा सकता है। अतः जब जीवन में आपका इन अनुभवों से सामना हो तो सहसा इस निर्णय पर पहुँचने की भूल न कीजिये कि जीवन अर्थहीन, व्यर्थ की बकवास मात्र है। जब जीवन में सब कुछ आपके इच्छानुकूल होता है तो उसमें आपको अर्थ और उद्देश्य दिखता है। इसके विपरीत जीवन आपको अर्थहीन लगता है। परन्तु यथार्थ में देखा जाये तो इसमें जरा भी सचाई नहीं होती।

जीवन के पग-पग पर आपको प्रकृति के आक्रमणों को झेलना है। यही बात धर्म और आधुनिक संस्कृति सिखाती भी है। इन बातों पर क्रोध करना व्यर्थ है। अपनी वासनाओं को संयत करना सीखिये, ईर्ष्या मत कीजिये और न ही भयभीत होइये। क्यों? इसलिए कि इनका सामना करने के सिवाय कोई अन्य उपाय है भी नहीं। कर्म संन्यासियों को तो भूलना ही नहीं चाहिये कि

उन्हें इन अनुभवों से गुजरना ही होगा। प्रकृति के क्रूर आक्रमणों को स्वीकारना और झेलना ही पड़ेगा।

भय आता कहाँ से है? बाहर से? नहीं! वह मात्र आपकी अपनी अभिव्यक्ति है। आपके भीतर भय, शोक, क्रोध आदि अनेक चीजें भरी पड़ी हैं। इसीलिये आपको उनका अनुभव होता है। अब यदि आप उनसे डरें अथवा उनका सामना करने से कतरायें तो वे अपनी अभिव्यक्ति के लिये कोई दूसरा मार्ग अपनायेंगे। अब यह व्रण, कैंसर, मानसिक विघटन, अपराध, आत्मघात, हत्या, चोरी आदि विभिन्न रूपों में बाहर निकलेंगे, जो संभवतया अधिक बुरा और असह्य होगा। आप प्रकृति को बाँध तो नहीं सकते हैं। जब तक आप अस्तित्व में हैं, ये बातें तो उभरेंगी ही।

आप जहाँ भी हैं, जो भी हैं, अथवा जिन लोगों के साथ रहते हैं, वे सबके सब आपको अपनी प्रकृति की खोज तथा उसकी अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। उन्हें बाधक मानने की भूल मत कीजिये। गृहस्थ का जीवन वह मंच है जहाँ उसे स्वयं को शुद्ध करने का अवसर मिलता है। यह अवसर धार्मिक कर्मकांडों द्वारा नहीं, बल्कि अपने आंतरिक स्वभाव को अभिव्यक्त करके ही मिलता है। इसलिये कर्म संन्यासियों को किसी से भी घृणा नहीं करनी चाहिये, स्वयं से भी नहीं। इसके सिवाय उन्हें अपने पारिवारिक जीवन में भी परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अनेक लोग अनेक गलत धारणाएँ लेकर कर्म संन्यास के लिये आते हैं। मान लीजिये आप स्वयं इसके लिये आते हैं। अब आप जब घर लौटते हैं तो अपने पति या पत्नी से कहते हैं, "मैं आज से कर्म संन्यासी बन गया।" वे पूछते हैं कि आपका यह कहने का मतलब क्या है? आप उत्तर देते हैं, "ओह, मुझे तुम लोगों से आज से कुछ लेना-देना नहीं है। मैं आज से वैराग्य साधने जा रहा हूँ। भले ही बाहरी रूप से हमलोग एक साथ रहते हैं, परन्तु मानसिक रूप से मैं तुम लोगों से अलग रहूँगा।" देखिये, ये सब गलत बातें हैं। जीवन को हर स्थिति में पूरी तरह जीयो तो वैराग्य धीरे-धीरे स्वयं आयेगा। इसके विपरीत यदि आप आधे-अधूरे रूप में जीयें, तो वैराग्य तो दूर, ममता के बंधन और अधिक मजबूत होंगे।

अब यह प्रश्न उठता है कि समग्र जीवन किसे कहते हैं। आपको अपने मन के प्रत्येक रूप का प्रकृति तथा अपने अस्तित्व का अनुभव करना आना चाहिए, आदर्शवादी मत बनिये। जीवन की ठोस यथार्थता का डटकर

मुकाबला कीजिये। मैं जानता हूँ कि कुछ लोग परिवार के बीच रहते हुए भी उच्च भावातीत जीवन बिता सकते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या अत्यन्त कम होती है। फिर यह हर किसी के लिये संभव भी नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि आप ढंग से नहीं जी सकते तो अपना गृहस्थ जीवन तो बिगाड़ेंगे ही, आपका आध्यात्मिक जीवन भी इससे अस्त-व्यस्त हो जायेगा। कर्म संन्यास दीक्षा के बाद आप एक नई समझबूझ के साथ घर लौटते हैं। आपका अपने प्रति तथा परिवार के सदस्यों के प्रति सम्बन्ध और दृष्टिकोण सुधरेगा।

प्रश्नोत्तर

आपने कर्म संन्यास किस तरह प्रचलित किया?

विद्वानों के अनुसार मानव जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वानप्रस्थ संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है 'जंगल में जाकर रहना'। परन्तु आजकल ऐसा संभव नहीं है। इसलिये मैंने वानप्रस्थ के लिए दूसरा नाम सुझाया जिसे कर्म संन्यास कहते हैं। वानप्रस्थ आश्रम तथा कर्म संन्यास, दोनों एक ही चीज है, क्योंकि कर्म संन्यास में आप कर्मों तथा उनकी फलाकांक्षा का त्याग करने का प्रयास करते हैं, ताकि उनके संस्कार संचित न हो सकें।

संन्यास, जीवन का चौथा और अंतिम पड़ाव है, जहाँ आप आत्मसाक्षात्कार की उच्च साधना में लीन होते हैं। परन्तु कर्म संन्यास में आपके पति, पत्नी, बच्चों, मित्रों, संबन्धियों तथा समाज आदि के साथ कुछ-न-कुछ सम्बन्ध और उत्तरदायित्व शेष रहते हैं। आपको उनके बीच रहना होता है। संन्यास आश्रम में आपको इच्छाओं, माया-मोह तथा मैं, मेरा जैसी सूक्ष्म भावनाओं से नाता तोड़ना अनिवार्य होता है।

मैं तो लोगों को कर्म संन्यास प्रदान करने के पक्ष में नहीं था, हालाँकि बहुत दिनों से वे इसके लिये मुझसे आग्रह कर रहे थे। आपने ख्याल किया होगा, कि मैं स्वयं पुराणपंथी नहीं हूँ। परन्तु मैं एक चीज से बड़ा डरता हूँ कि जब कोई पंथ, सम्प्रदाय अथवा व्यवस्था गैरजिम्मेदार लोगों के हाथ पड़ती है तब वह दूषित होकर बिखर जाती है, उसका पवित्र उद्देश्य पराजित हो जाता है। कर्म संन्यास ऐसा कोई पंथ अथवा सम्प्रदाय नहीं है। परन्तु यदि ऐसे लोगों को कर्म संन्यास प्रदान किया जाये, जिन्होंने जीवन तथा उसके लक्ष्यों पर मनन

चिन्तन न किया हो, तो निश्चय ही वह समय आयेगा जब यह व्यवस्था भी लक्ष्यच्युत हो बिखर जायेगी।

जब मैं 1968 में यूरोप प्रवास पर था तो मेरे अनेक पाश्चात्य शिष्यों ने मुझसे इस विषय पर विचार-विमर्श किया। उस समय भी उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि पूर्ण संन्यास की तैयारी के रूप में मैं कर्म संन्यास की परम्परा प्रारंभ करूँ। प्रारंभ में मैं इसके लिये तैयार नहीं हुआ। फिर 1983 में प्रथम बार मैंने एक फ्रेंच युगल को कर्म संन्यास में दीक्षित किया।

प्राचीन ग्रंथों में कर्म संन्यासी को 'श्रमक' कहा गया है, जिसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से होता है जो स्वयं को साधने का संकल्प लेता है। इस प्रकार कर्म संन्यास की परम्परा प्रारंभ हुई। आज भारत तथा पश्चिम के देशों में अनेक लोग उत्साहपूर्वक कर्म संन्यास ग्रहण कर रहे हैं। जिस प्रकार मैं आज भी अपने शिष्यों से सम्बन्ध बनाये हुए हूँ, उन्हें भी परिवार तथा समाज से जुड़े रहना चाहिए। परन्तु आसक्ति से स्वयं को दूर रखना चाहिए। आंतरिक तल पर अनासक्ति के भाव को बढ़ाना तथा दृढ़ करते रहना चाहिए।

कर्म संन्यास के पीछे प्रेरक सिद्धान्त क्या है?

आध्यात्मिक विकास के लिये दीक्षा के अनेक प्रकार होते हैं। इनमें से एक मंत्र दीक्षा होती है, जिसमें गुरु शिष्य को मंत्र प्रदान करते हैं, जो प्रत्येक जिज्ञासु के लिए होती है। जिसमें थोड़ी-सी आध्यात्मिक प्यास होती है उससे बहुत अधिक निष्ठा और समर्पण की अपेक्षा नहीं रखी जाती। यदि शिष्य में थोड़ा मानसिक झुकाव और अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ने की ललक हो, तो उसे मंत्र दीक्षा दी जा सकती है। बिना किसी भेदभाव के यह सबको मिल सकती है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो दृढ़ निश्चय के साथ भिन्न प्रकार का जीवन जीना चाहते हैं। उनमें आस्था और विश्वास अपेक्षाकृत दृढ़ होते हैं। उनका अपना जीवनदर्शन और जीने का ढंग होता है। वे दूसरों पर न तो अधिक आश्रित होते हैं और न ही भावनाओं में बहते हैं। उन्हें बहुत अधिक सुरक्षा की चाह भी नहीं होती है। ऐसे लोग सब कुछ त्याग कर संन्यास ग्रहण करते हैं, परन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होती है। यहाँ मेरी चर्चा में ऐसे लोग शामिल नहीं है।

तीसरी श्रेणी में ऐसे लोग आते हैं जिन्होंने जीवन के अर्थ, उसके उद्देश्य, आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता तथा आत्मसाक्षात्कार आदि विषयों पर

अच्छी तरह सोच-विचार किया है। उन्होंने इस बात को अच्छी तरह समझा है कि भले ही हम माया के बंधनों में बंधे हुए हैं, इच्छाओं, वासनाओं के पीछे दौड़ रहे हैं, परन्तु इसके बावजूद हम उच्च आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। अपने बाह्य जीवन को बदले बिना भी, कुछ न त्याग कर भी वे अपने अंतर में छलांग लगा सकते हैं, स्वयं को जान सकते हैं। ऐसे लोगों के लिये कर्म संन्यास दीक्षा का प्रावधान रखा गया है।

कर्म संन्यास गृहस्थों के लिये है जो जीवन की भाग-दौड़ में लगे हैं, जिनके परिवार और पारिवारिक उत्तरदायित्व हैं, जिनमें इच्छा, वासना, लोभ, घृणा तथा महत्त्वाकांक्षा है, जिनको नौकरी, उद्योग, व्यवसाय और बड़े बैंक खाते हैं उनके लिये कर्म संन्यास के दरवाजे खुले हैं। परन्तु ऐसे लोगों में उच्च आंतरिक अनुभव विकसित करने की ललक अवश्य होनी चाहिये।

गीता में शिष्य गुरु से पूछता है, "त्याग क्या है, उसका तात्पर्य क्या होता है?" गुरु कहते हैं, कुछ लोग जीवन को ही त्याग देते हैं, दूसरे प्रकार के लोग कर्मों को त्याग देते हैं, जीवन को नहीं, परन्तु तीसरे प्रकार के लोग कर्मफल का त्याग करते हैं, कर्म का नहीं। लोगों की एक चौथी श्रेणी भी होती है जो न तो कर्मों का त्याग करते हैं और न उनके फल का। ऐसे लोग किसका त्याग करते हैं? वे कर्त्तापन का त्याग करते हैं। इसे अहं का विसर्जन भी कह सकते हैं, जो जीवन के हर क्षेत्र में छाया हुआ है।

एक गृहस्थ के जीवन में इस अहंकार के त्याग का बड़ा महत्त्व होता है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में हम अनेक अनुभवों से गुजरते हैं। हमें सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-हानि, सफलता-विफलता और आशा-निराशा के द्वन्द्वों का सामना करना होता है। इनमें से प्रत्येक का अनुभव हमारी बुनियाद को हिला देता है। कभी-कभी तो हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। कुछ लोग तो मानसिक विघटन की कगार पर पहुँचकर भयंकर भूलें कर बैठते हैं, जिनके घातक परिणाम होते हैं। कभी-कभी तो हम आत्मघात तक कर बैठते हैं, कभी दूसरों की हत्या तो कभी जीवन से भाग खड़े होते हैं।

ये अनुभव हमारे व्यक्तित्व को ही विचलित कर देते हैं। हमारा व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। परन्तु यदि इन अवस्थाओं में हम स्वयं को अपने अहं से पृथक् करना सीख लें, तो भले ही कड़वे-मीठे अनुभवों का सम्मिश्रण क्यों न हो, हम उनसे अप्रभावित रह सकते हैं। यदि आप अपने दैनिक जीवन में नियमित योगाभ्यास या कोई दूसरी आध्यात्मिक साधना करें तो निश्चय ही

अहं को अपने और अपने कार्यों एवं अनुभवों के बीच नहीं आने देंगे। इस दिशा में आत्मनिरीक्षण और विश्लेषण भी आपकी बड़ी सहायता कर सकते हैं। अत: कर्म संन्यास उन लोगों के लिये है जो संन्यासी भी है और साथ-ही-साथ जीवन के पीछे दौड़ भी रहे हैं।

कर्म संन्यास में गुरु की क्या भूमिका होती है?

कर्म संन्यास में गुरु की भूमिका शिष्य के कर्म और प्रारब्ध को जानने और तदनुसार उसे उचित मार्गदर्शन प्रदान करने की होती है। इसके पूर्व कि गुरु उसे कुछ करने का उपदेश दें, उन्हें शिष्य के विकास के स्तर को अच्छी तरह जाँचना-परखना होता है। उन्हें यह भी देखना होता है कि शिष्य किस सीमा तक माया-मोह और राग-द्वेष से जकड़ा है और किस सीमा तक वह उनके पार जा सकता है। बस, शिष्य के जीवन में गुरु की यही भूमिका होती है। जिस प्रकार एक रत्नपारखी रत्न के गुणावगुणों की जाँच-परख करता है, गुरु भी शिष्य के समग्र कर्म, प्रारब्ध, विकास के स्तर, स्वभाव, क्षमता तथा संभावनाओं का पता लगाते हैं।

इसके बाद शिष्य गुरु को अपने अहं को टटोलने की इजाजत देता है। यदि आप मुझे अपने अहं पर कार्य करने दें तो मैं आपको यह बता सकता हूँ कि उससे छुटकारा पाने के लिये आपको क्या कुछ करना चाहिए। यदि आप मुझसे स्वयं को बंद रखें तो मैं कुछ भी नहीं कर पाऊँगा, क्योंकि अहं का बाह्य आवरण इतना कठोर होता है कि उसे भेद पाना बड़ा कठिन होता है। आपके व्यक्तित्व का अधिष्ठान आपका अपना अहं होता है। उसी के कारण आप मुझ से भिन्न हैं। यदि आप अहं को परे कर दें तो आपके और मेरे बीच कोई भेद नहीं रह जायेगा। आप मेरे और मैं आपका आत्मस्वरूप हो जाऊँगा। कभी-कभी व्यक्ति के भीतर दो प्रकार का अहं पाया जाता है। ऐसी अवस्था में आप कभी भी अपने अथवा किसी के साथ समझौता नहीं कर पाते। अब यदि मेरा अपना और आपका अपना पृथक् अहं हो, तो हम अलग-अलग दो व्यक्ति होंगे। एकरूप कभी हो ही नहीं सकते।

शिष्य को सर्वप्रथम अपने अहं कर परित्याग करना चाहिए। तभी गुरु उसे समझ सकेंगे। इसके बिना गुरु-शिष्य के बीच तालमेल बैठा पाना मुश्किल होगा। अब यदि आप चारों ओर से बंद हों, अहं के कठोर दायरे में स्वयं को गुरु से छिपाये रहें तो बताइये गुरु किस प्रकार आपके भीतर झाँक

सकेंगे? इसलिये आध्यात्मिक जीवन अथवा कर्म संन्यास में गुरु शिष्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध न केवल आवश्यक है, बल्कि वही एकमात्र अनिवार्य आवश्यकता है जिसके इर्द-गर्द आध्यात्मिक विकास और आत्मसाक्षात्कार का चक्र घूमता है।

क्या आप तांत्रिक शिष्य पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे?

तांत्रिक शिष्य एक अत्यंत विकसित आत्मा होता है। उसने पूर्व जन्म में ही अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली होती हैं। अब वह कच्चा अथवा आधा-अधूरा सफाचट स्लेट नहीं होता। वह शिष्य इसलिये बनता है कि गुरु की अपार आध्यात्मिक ऊर्जा का माध्यम बन सके। जिस प्रकार विद्युत तारों, खंभों और स्विच आदि के माध्यम से विद्युत ऊर्जा दूर-दराज के स्थानों तक पहुँचती है, ठीक उसी प्रकार तांत्रिक शिष्य के माध्यम से गुरु का ज्ञान और ऊर्जा विश्व के कोने-कोने में पहुँचती है।



द्वार के पार

याद रखिये, हम विकास के दो स्तरों के प्रवेश द्वार पर खड़े हैं। मानव शरीर में हम पशुस्तर के विकास के चरम बिन्दु तथा आध्यात्मिक विकास के प्रस्थान बिन्दु पर खड़े हैं। यह दो विभिन्न विकासों का मिलन बिन्दु है। इसे अपने दैनिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान देना अत्यन्त आवश्यक है।

दैनिक जीवन के अनिवार्य कार्य-कलापों में भाग लेना अत्यन्त आवश्यक है। आप अपने जीवन साथी, बच्चों, संबंधियों, मित्रों आदि के साथ रहते, नौकरी, उद्योग, व्यवसाय चलाते, रेडियो, दूरदर्शन देखते, धन-संपत्ति अर्जित करते, खेलकूद और अनेक आमोद-प्रमोद में हिस्सा लेते हैं। आपमें इच्छाएँ, वासनाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि होते हैं। इस जीवन को आप अच्छी तरह जानते-समझते हैं, क्योंकि यहाँ आप आध्यात्मिक जीवन के प्रस्थान बिन्दु पर खड़े हैं। आप पशु जीवन के अंतिम विकास बिन्दु पर पहुँचने के बाद अब आध्यात्मिक विकास की दहलीज पर कदम रखने के लिये तत्पर खड़े हैं। अभी आप स्थूल स्तर पर खड़े हैं।

जब कुछ लोग चेतना के स्थूल स्तर को लांघने में सफल हो जाते हैं तो बात दूसरी हो जाती है। तब आप कर्मयोग छोड़ भक्ति, राज अथवा ज्ञानयोग, किसी की भी साधना कर सकते हैं। परन्तु जब तक आप भौतिक स्थूल तथा इन्द्रिगत वस्तुओं के प्रति सचेत हैं, आपकी चेतना बिखरी हुई है, आपको कर्मयोग अवश्य करते रहना चाहिए।

जिस जीवन को आप समझते हैं, जो आपकी पकड़ के भीतर है, जो आपकी समझ और पहुँच के परे नहीं है, उसकी समस्त गतिविधियों में पूरी हिस्सेदारी निभाइये। कर्मयोग के द्वारा आप न केवल कर्म की सृष्टि करते हैं, अपितु कर्मों को निःशेष भी करते हैं, क्योंकि जब आप बीज बोते हैं

तो पौधे का निर्माण भी करते हैं तथा साथ-ही-साथ बीज को समाप्त भी तो करते हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मानव मस्तिष्क में जन्म-जन्म के अरबों-खरबों संस्कार भरे पड़े हैं जो उसने मानव अस्तित्व में आने के पूर्व की योनियों में हाथी, घोड़े, कुत्ते, बंदरों आदि पुरखों से विरासत में प्राप्त किये हैं। वे बीजरूप में कर्मों के संस्कारों को निर्मित करते रहे हैं, जो आदतों और अनुभवों के रूप में आज हममें दिखलाई पड़ते हैं। यह संस्कार जीवनरूपी जलाशय में लहरें उत्पन्न करते हैं। जब कुत्ता भौंकता है तो वह भी लहरें उत्पन्न करता है। इसी प्रकार हाथी, घोड़े, बंदर भी इन लहरों की संख्या में निरंतर वृद्धि करते रहते हैं। यह हलचल ही तो सृष्टि कहलाती है।

कर्मों का सम्बन्ध मनुष्यों से ही नहीं होता। सृष्टि का हर चेतन और अचेतन घटक कर्म के नियम से अनिवार्य रूप से बंधा है। कर्म का जीवन की हर गतिविधि से सम्बन्ध है। चाहे यह गतिविधि मानव जीवन से संबंधित हो अथवा पशु जगत् से अथवा वनस्पति जगत् से। परन्तु इन समस्त गतिविधियों का नियामक, कर्म-सिद्धान्त होता है। जहाँ कारण होगा वहाँ कार्य होगा। न तो कार्य अंतिम होता है और न ही कोई कारण। कहीं कार्य कारण बनता है तो कहीं कारण किसी कार्य के फलस्वरूप कार्य का रूप लेता है। इस प्रकार कार्य-कारण की इस शृंखला का सृष्टि के हर घटक से अनिवार्य सम्बन्ध रहता है। कहीं यह सम्बन्ध स्थूल तो कहीं सूक्ष्म रहता है। परन्तु रहता अवश्य है।

जो वस्तुएँ आँखों से दिखलाई पड़ती हैं, स्थूल कहलाती हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त अनेक वस्तुएँ सूक्ष्म होती हैं, जिन्हें हम देख नहीं पाते। अब ये अनदेखी वस्तुएँ, घटनाएँ भी तो सृष्टि का अंग होती हैं जिनका कर्म के निर्माण में अपना योगदान रहता है। इनके संस्कार अत्यंत सूक्ष्म बीजरूप में संचित होते रहते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि आपके मस्तिष्क के भीतर अरबों-खरबों संस्कार अत्यंत सूक्ष्म बीजरूप में भरे पड़े हैं। संस्कारों का यह पुंज हमारे कर्मों तथा अनुभवों द्वारा निर्मित होता है। यह इन अनगिनत योगियों की बीजस्मृति है जिनसे आप गुजर चुके हैं। हो सकता है इस समय आप इसे न समझ पायें।

मानव योनि में तो आप एक रूपांतरित वस्तु हैं, परन्तु यह रूपांतरण इसके पूर्व की योनियों में तो नहीं था, क्योंकि लाखों-करोड़ों वर्षों से भिन्न रूपाकार में आपका अस्तित्व रहा है। इसे किसी भी तरह नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि

वैज्ञानिक अध्ययन और गवेषणाओं का सार इसी सत्य की ओर संकेत करता है। मैं यहाँ कोई धर्म चर्चा नहीं कर रहा हूँ। इसका दर्शनशास्त्र से भी कुछ लेना-देना नहीं है। निष्कर्ष यह कि सुदूर अतीत से आज तक आपका अस्तित्व विद्यामान है। रूपांतरण की यह प्रक्रिया, जिसे एक योनि से अन्य बेहतर योनि में संक्रमण कहते हैं, सृष्टि के नियम के अधीन होती है।

सृष्टि जड़ नहीं है। उसमें गत्यात्मकता पाई जाती है। वृक्ष हमेशा वृक्ष ही नहीं रहते, मनुष्य सदा मनुष्य नहीं रहते। इसी प्रकार पत्थर भी हमेशा पत्थर ही बने रहेंगे, यह कहना भारी भूल है। आप पूछेंगे कि यह कैसे संभव होता है। देखिये, ब्रह्माण्ड न कभी गति शून्य रहा है और न ही गतिशून्य होगा। इसी प्रकार ऊर्जा में भी हलचल और गति पाई जाती है। अब आप सृष्टि को कैसे मृत वस्तु कह सकते हैं। वह तो एक हलचल, एक बल अथवा गति है। जहाँ भी सृष्टि है वहाँ ऊर्जा होगी ही। अब जहाँ सृष्टि होगी वहाँ रूपांतरण की प्रक्रिया भी होगी। विनाश और बिखराव, ये समस्त प्रक्रियाएँ मिलेंगी।

हम सभी अरबों, खरबों अनुभवों तथा संस्कारों का चलता फिरता-गोदाम हैं जो हमें अपनी पूर्व अनगिनत योनियों से विरासत में प्राप्त हुआ है। अब हम इस अकूत संचय का क्या करने जा रहे हैं? बताइये, आपके पास इसका कोई जबाब है? क्या गत बीस हजार वर्षों से आज तक कोई ऐसा धर्म हुआ है जिसके पास इस समस्या का कोई अचूक उपाय हो? धर्मों ने प्रार्थना का ढंग अवश्य सिखाया है। मैं हाथ जोड़ तथा आँखें बंद कर प्रार्थना के स्वर में कह सकता हूँ, 'हे परमेश्वर' मुझे क्षमा करना! परन्तु क्या मात्र इतना कहना पर्याप्त है। क्या कोई व्यवस्था, कोई ढंग ऐसा है जिससे हम संस्कारों की अटूट शृंखला से मुक्त हो सकते हैं, जो हमारे मन, चेतना तथा अस्तित्व पर अनेक परतों के रूप में जमे बैठे हैं।

इसी विशिष्ट प्रयोजन को लेकर मैं लोगों को योग सिखाता हूँ, क्योंकि जब आप पद्मासन में आँखें बंद कर ध्यान करने बैठते हैं, आपकी रीढ़ ऊर्ध्वाकार लंबरूप रहती तथा चेतना भ्रूमध्य में टिकती है तो मन के भीतर पिशाच मंडली का तांडव प्रारंभ हो जाता है। आप में से अनेक लोगों ने यह अनुभव किया होगा। मैं गलत तो नहीं बोल रहा हूँ? जब आप टेलिविजन देखते हैं तो मन अपेक्षाकृत अधिक शांत और स्थिर रहता है। कोई मानसिक समस्या नहीं रहती। जब आप किसी पर गुस्सा होते, किसी से घृणा करते हैं तब भी कोई समस्या नहीं उठ खड़ी होती।

परन्तु जैसे ही आप शांत और स्थिर होने का प्रयास प्रारम्भ करते हैं, अत्यधिक बेचैन होने लगते हैं। विचारों की रील तीव्र गति से चलने लगती है। अब यदि आपको इन पर नियंत्रण करना नहीं आता, आप इन्हें समाप्त नहीं होने देते तो यह निश्चित मानिये कि आप चाहे महीनों आँखें बंद कर बैठे रहें, आपको अपने मंत्र और प्रतीक की सुध नहीं आ सकती।

आप कोई तीव्र विरेचक लेते हैं तो जब तक पेट की पूरी सफाई नहीं हो जाती आपको बार-बार शौच जाना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जन्म-जन्मांतर के संस्कारों को समाप्त करने के लिए मंत्र रूपी विरेचक का सेवन करना होगा। मेरी राय में नियमित मंत्र साधना ही इस तीव्र विरेचक की भूमिका निभा सकती है। टेलिविजन देखने से तो बदहजमी ही होगी, क्योंकि वह तो मन में उठने वाले विचारों को दबाता है। आपको उनकी याद ही नहीं आने देता। परन्तु जैसे ही आप माला लेकर अपने मंत्र को दुहराना प्रारंभ करते हैं, भीतर का कूड़ा-करकट बाहर आना प्रारंभ हो जाता है।

जब आप जप करने बैठते हैं तो अनेक महत्त्वहीन बातें आपकी एकाग्रता को भंग करती हैं। आपको लगता है कि कहीं आप बत्ती बुझाना तो नहीं भूल गये, कहीं दरवाजा तो खुला नहीं छोड़ आये, कहीं बच्चा तो बाहर नहीं भाग गया। ऐसी अनेक छोटी महत्त्वहीन बातें मन में आती हैं। कभी-कभी आपको लगाता है कि इन बातों में कोई तुक है भी अथवा नहीं। जीवन में इनका कुछ महत्त्व है भी या नहीं। ये व्यर्थ की निरर्थक बातें हैं। परन्तु नहीं। इनका अपना महत्त्व होता है। हर अनुभव भले ही वह कितना ही नगण्य क्यों न हो, उसका अपना अलग महत्त्व होता है। इन सब अनुभवों का आना जरूरी है, इसीलिए तो शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं, स्वयं को पूरी तरह खाली करो।

अब स्वयं को भौतिक रूप से खाली करने के लिए आप विरेचक का सहारा लेते हैं। मन की सफाई के लिये आप जिस गोली का सेवन करते हैं उसे मंत्र साधना कहते हैं। मंत्र रूपी यह गोली आपको गुरु प्रदान करते हैं, जो कर्मों तथा उनके संस्कारों का समापन करती है। इसके सिवाय एक अन्य औषधि भी है जिसे कर्मयोग के नाम से जाना जाता है। कर्म का तात्पर्य काम से है। अपने दैनिक जीवन में आप जो भी अनिवार्य ऐच्छिक काम करते हैं उनका आपके विकास से गहरा सम्बन्ध होता है। इसलिए व्यक्ति का सत्तर प्रतिशत जीवन कर्मयोग प्रधान होना चाहिए।

परन्तु कर्मयोग है क्या? क्या हर कोई कर्मयोगी बन सकता है? नहीं। जीवन की घटनाओं तथा यथार्थ से निपटने की एक विशिष्ट शैली को ही कर्मयोग कहा जा सकता है, क्योंकि आप एक निपट गँवार की भाँति जीवन के कार्यों को नहीं निपटाते। जीवन से आपका एक सम्बन्ध होता है। इसे आप कहाँ तक निभाते हैं? आपके कार्यों की जीवन पर कैसी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है? इनके प्रति आपकी मनोवृत्ति कैसी रहती है? जीवन की सुखद-दु:खद घटनाओं से आपका कैसा सम्बन्ध रहे इन सभी बातों का बड़ा महत्त्व होता है।

प्रश्न यह है कि स्वयं के साथ किस ढंग से पेश आया जाये? यहाँ मेरा तात्पर्य आपका अपने पति, पत्नी, परिवार, बच्चों, उद्योग, व्यवसाय अथवा संपत्ति के साथ सम्बन्ध से नहीं है। प्रश्न यह है कि आप स्वयं से, अपने व्यक्तित्व से कैसे पेश आयेंगे? यदि आप विद्वान् हैं तो क्या अहंकारी बन जायेंगे? यदि मूर्ख हैं तो क्या हीन भावना से ग्रस्त होंगे? यदि आप में ईर्ष्या कूट-कूट कर भरी है तो क्या स्वयं से घृणा करेंगे? यदि आप वासनाओं से भरे, महत्त्वाकांक्षी अथवा निम्न स्वभाव के हैं तो क्या अपराध-भावना से जकड़ जायेंगे? यदि प्रेम करते हैं तो क्या आप में सुरक्षा की भावना तीव्र हो जायेगी? यदि बीमार हैं तो क्या हर क्षण मृत्यु का भय आप पर हावी होगा? संक्षेप में, यह पूछा जा सकता है कि आपका स्वयं अपने साथ कैसा सम्बन्ध रहना चाहिये?

उपर्युक्त प्रश्न कर्मयोग के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। आत्मनिरीक्षण और स्व की सजगता कर्म संन्यास के बाद ही आपमें बढ़ सकती है। व्यक्ति ही तो कर्म संन्यासी होता है। मूर्ख, विद्वान्, महत्त्वाकांक्षी सबके सब कर्म करते हैं। फिर उनमें अंतर कहाँ होता है? अंतर आपके कर्म दर्शन में, उसके गुण में होता है। आप कहाँ तक, किस ढंग से किसी खास काम में लगते हैं? कहाँ तक स्वयं को उससे संबंधित करते हैं?

मान लीजिये, मुझे बहुत क्रोध आता है। यह क्रोध पत्नी, बच्चों अथवा किसी पर भी हो सकता है। एक घंटे बाद मैं बड़ा उदास और बुझा-बुझा अनुभव करता हूँ। मुझे अपने क्रोध पर अफसोस होता है, पश्चाताप होता है। यहाँ मैं स्वयं से निपट रहा हूँ। एक कर्म संन्यासी को किस तरह अपने से व्यवहार करना चाहिए? मेरा व्यवसाय ठप्प पड़ गया है, मैं दिवालिया हो गया हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि अब मेरी पत्नी तथा बच्चे मुझे सम्मान नहीं

देंगे, मुझ पर गर्व नहीं करेंगे। हो सकता है बच्चे मुझे छोड़ कर चले जायें, पत्नी भी चली जाये। ऐसे समय पर मेरा स्वयं अपने साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये।

मेरा उद्योग व्यवसाय फल-फूल रहा है। मैं बड़ा पूँजीपति बन गया हूँ। अनेक उद्योगों में मेरे हिस्से हैं। मैं उनका प्रमुख हिस्सेदार और प्रबंध संचालक हूँ। अब इन परिस्थितियों में मेरा स्वयं के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए? इन सब कामों से मुझे स्वयं कहाँ तक बंधना चाहिए? क्या मैं गर्व से अकड़कर चला करूँ, क्योंकि अब तो मैं प्रभावशाली उद्योगपतियों की शीर्ष पंक्ति में बैठा हूँ? अब मैं चाहे जो कुछ कर सकता हूँ, क्योंकि मैं सामर्थ्यवान् हूँ? अब अपने आश्रितों को विदेश भ्रमण के लिये भेज सकता हूँ।

देखा आपने, हम किस तरह जीवन के मकड़ जाल में स्वयं को फँसाते हैं। हम जीवन को नहीं, बल्कि जीवन हमें जकड़ लेता है। एक दिन हम पाते हैं कि हम बुरी तरह प्रारब्ध की जकड़ में हैं। हम प्रारब्ध को नियंत्रित नहीं कर पाते, क्योंकि हम स्वयं उसकी पकड़ में रहते हैं। जीवन हमें नियंत्रित करने लगता है। जब जीवन के आघात के थपेड़ों में हम दीवाल घड़ी के दोलक की भाँति एक सिरे से दूसरे सिरे के बीच डोलते हैं तो हृदयाघात, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप तथा कैंसर जैसी जानलेवा बीमारियों के शिकार बनते हैं। इसलिए कर्म संन्यासी वह पुरुष अथवा स्त्री होती है जो जीवन के इन उतार-चढ़ावों से भली-भाँति परिचित होती है। वह हरदम इस बात से चौकस रहता है कि जीवन में सद्गुणों से कहीं उसका सम्बन्ध विच्छेद न हो जाये। हमें उस विषाणु से हर क्षण सावधान रहना चाहिए जो स्वतंत्रता और सुविधापूर्वक इस आध्यात्मिक दहलीज से हमारे पार जाने में बाधा डाल सकता है।

बाघ और भेड़

हम सबके सब सर्वोच्च चेतना के घटक हैं। परन्तु हम मार्ग से हटकर इन्द्रियों के माया जगत् में भटक रहे हैं। हम अपने सही स्वरूप को ही भूल बैठे हैं। हम समझते हैं कि हम अमुक नामधारी, हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख, यहूदी, फ्रेंच, अंग्रेज, जर्मन अथवा रूसी हैं। परन्तु यह तो हमारे स्वरूप की असली पहचान नहीं हो सकती। हम केवल स्त्री या पुरुष भी नहीं हैं। हम वह कुछ भी नहीं हैं जो स्वयं को मानते और समझते हैं। हम ऐसा केवल इसलिये सोचते हैं कि हम इन्द्रियों के जगत् में जीते हैं। हमने सांसारिक वस्तुओं के साथ एक प्रकार का तादात्म्य स्थापित कर लिया है। एक दृष्टांत कथा द्वारा इस सत्य को समझा जा सकता है।

एक बार किसी गड़ेरिये ने बाघ के एक बच्चे को पकड़ लिया। अब अनेक वर्षों तक यह बच्चा गड़ेरिये के साथ रहा तथा भेड़ों के साथ जंगल में घूमता था। स्वाभाविक था कि वह स्वयं को भेड़ मानने तथा उन्हीं की तरह रहने लगा था। जब गड़ेरिया सीटी बजाता तो अन्य भेड़ों के साथ वह भी उसके पास दौड़ा चला आता था। भेड़ और वह बाघ का बच्चा, जो काफी बड़ा हो चुका था, एक साथ मिल-जुलकर रहते थे।

एक दिन एक दूसरे बाघ ने इस बाघ के बच्चे को अन्य भेड़ों के साथ घूमते देखा। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसने भेड़ों के साथ बाघ को कभी इस प्रकार रहते नहीं देखा था। उसने इस बाघनुमा भेड़ को अलग बुलाकर पूछा, तुम इन भेड़ों के साथ क्यों चरते फिर रहे हो? उसने कहा; क्यों, मैं भेड़ नहीं हूँ? जंगल का बाघ बोला, कहीं तुम पागल तो नहीं हो गये। अरे! तुम तो बाघ हो। अब इस बाघ ने कहा, मुझे धोखा देने की कोशिश न करो, तुम मुझे भ्रम में डाल रहे हो। मैं भेड़ हूँ और यह गड़ेरिया मेरा स्वामी है। ये जो भेड़ें

हैं न, ये सभी मेरे भाई-बहन हैं। आगंतुक बाघ उसे बार-बार यही समझाता रहा कि तुम भी मेरी तरह बाघ हो। तुम्हारे शरीर पर भी भूरे सुनहरे पट्टे हैं। हम दोनों के दाँत और पंजे भी एक जैसे हैं। दोनों की शरीर-रचना में कहीं भी कोई अंतर नहीं है।

परन्तु इतना सब कह चुकने पर भी बाघनुमा भेड़ किसी बात पर विश्वास करने के लिये तैयार नहीं हुआ। उसने कहा, नहीं, तुम मुझे धोखे में डाल रहे हो, मेरे गुरु बनना चाहते हो। मैं अब जा रहा हूँ। मुझे वापस न बुलाना। शायद तुम चाहते हो कि मैं बचपन से जिनके साथ रह रहा हूँ, उन्हें छोड़कर तुम्हारे साथ चला जाऊँ। नहीं, यह कतई संभव नहीं है।

अब तो आगंतुक बाघ बड़े चक्कर में पड़ गया। वह समझ ही नहीं पाया कि यह बाघ किस प्रकार गड़ेरिये और भेड़ों के बीच आ पड़ा और स्वयं को उन जैसा मानने लगा है। भले ही बकरी, गधा, घोड़ा अथवा अन्य कोई जानवर ऐसा करे तो विश्वास किया जा सकता है। परन्तु यह तो सचमुच बाघ है, फिर भी स्वयं को भेड़ कह रहा है। शेर और भेड़ के स्वभाव में तो बड़ा विरोधाभास होता है। एक शाकाहारी है तो दूसरा मांसाहारी होता है। एक के दाँत और पंजे नुकीले होते हैं तो दूसरे के भोथरे। एक निष्क्रिय तो दूसरा अत्यंत चंचल और खूँखार होता है। एक के खुर तो दूसरे के शक्तिशाली पंजे होते हैं। इन सबके बावजूद इन दोनों में समानता क्यों और कैसे आई, यह घोर आश्चर्य की बात है।

अब इस आगंतुक बाघ ने उसे अपने स्वरूप के दर्शन कराने का निश्चय किया। आगंतुक बाघ तनकर खड़ा हो गया। उसने जोर से दहाड़ लगाई, जंगल शांत हो गया। भेड़ें और गड़ेरिया सिर पर पाँव रख भाग खड़े हुए। परन्तु उनका साथी बाघ जहाँ था वहीं खड़ा रहा, भागा नहीं। बाघ ने दुबारा जोरदार दहाड़ लगाई। अब यह बाघनुमा भेड़ भी उसी तरह दहाड़ लगाने की इच्छा करने लगा।

यही बात बहुत कुछ अंशों में हम सब पर भी लागू होती है। बाघ (न कि भेड़) होने की वह चेतना कर्म संन्यास के साथ विकसित होती है। अब भेड़ होने का (बाघ होने का नहीं) विचार दिनों-दिन बढ़ना और दृढ़मूल होना ही आज धर्म के नाम से जाना जाता है, क्योंकि आज का हर धर्म कर्मकाण्ड तक ही सिमट कर रह गया है। आजकल धर्म में आडंबर, समारोह आदि इस तरह घर कर गये हैं कि व्यावहारिकता से उसका थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं रह गया है। आज का धर्म हमें मात्र विवाह, नामकरण तथा मुण्डन आदि के कर्मकाण्ड

ही सिखाता है। यदि आप किसी धर्माचार्य से पूछें, महाशय! मन के पार कैसे छलांग लगायें? तो उसके पास इसका कोई उत्तर नहीं होगा।

यदि धर्म आपको संयुक्त होने का ढंग सिखाये तो वही उसकी शास्त्रीय परिभाषा के अनुकूल होगा। तब वह योग होगा। परन्तु जब धर्म आपको मात्र विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न करने की विधि सिखाये तो उसे संप्रदाय अथवा मतदान से अधिक कुछ नहीं कह सकते। कोई कह सकता है कि शादी इस प्रकार की जाये, दूसरा कहेगा, नहीं! इस प्रकार की जाये। *"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना:।"* बस, इसी प्रकार संप्रदाय जन्म लेते हैं, जो सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। जब धर्म लक्ष्यच्युत होता है तो वह केवल पंथ बन कर रह जाता है, परन्तु जब वह आपको जुड़ना सिखाये तो उसे योग कहते हैं।

धर्म का सर्वोपरि कर्तव्य होता है कि वह अपने अनुयाइयों को आत्मसाक्षात्कार की युक्ति सिखाये। पूजा अर्चना के ये स्थल उच्च अनुभव प्रदान करने वाले बने तथा इनके धर्माध्यक्ष, पंडे, पुजारी उच्च आध्यात्मिक अनुभवों के धनी हों। केवल इसी प्रकार कोई भी धर्म आपको अपने सही स्वरूप की जानकारी प्राप्त कराने में सहायक तथा मार्गदर्शक बन सकता है।

प्रारंभ में जब महान् ऋषि-मुनियों ने धर्म की स्थापना की तो उनके जहन में धर्म का यही महान् प्रयोजन था, जिसकी मैं आज आपके समक्ष चर्चा कर रहा हूँ। ऋषि-मुनि धर्म का उपदेश नहीं करते। वे पंथों तथा मतवादों के पृष्ठपोषक नहीं होते। वे तो मात्र यथार्थता का उपदेश तथा प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। अत: एक कर्म संन्यासी के रूप में आप चाहें तो स्वयं को किसी धर्म से संबंधित कर सकते हैं अथवा उससे दूर भी रह सकते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आप अनिवार्यरूपेण स्वयं को किसी-न-किसी धर्म से बाँधे, उस पर विश्वास करें। महत्त्व इस बात का है कि किस प्रकार अपने दैनंदिन जीवन में आध्यात्मिक अनुभवों को, दर्शन को ठोस रूप दे सकें, उन्हें वास्तविकता प्रदान कर सकें, उनके साथ स्वयं का अधिक-से-अधिक तादात्म्य स्थापित कर सकें।

प्रश्नोत्तर

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने मानव चेतना के विकास को दृष्टि में रखकर जो चौरासी हजार आसनों की व्यवस्था दी थी उस पर थोड़ा विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने की कृपा करें।

ऋषियों ने कहा कि चौरासी हजार योनियाँ होती हैं। जैसे, चींटी, मेढ़क और अन्य पशु-पक्षी आदि। कहने का तात्पर्य यह कि मानव चेतना अपने वर्तमान रूप में आने के पूर्व चौरासी हजार योनियों से गुजर चुकी है। इसलिये इन योनियों को दर्शाने के उद्देश्य से चौरासी हजार आसनों की व्यवस्था की गयी है जो हर स्तर के विकास का सूचक है। अपने पूर्व जन्मों में हम जिन योनियों से गुजरे हैं उनसे संबंधित आसन कर चुके हैं।

मानव शरीर में आने पर भौतिक विकास अपनी पूर्णता के चरम बिन्दु तक पहुँच जाता है। यहाँ से पुनः आध्यात्मिक विकास की यात्रा प्रारंभ होती है। आदमी हमेशा आदमी की योनि में ही जन्म लेता है। किन्तु हर आगामी जन्म में उसकी आध्यात्मिक चेतना अधिक-से-अधिक विकसित होगी। एक बार मानव रूप में जन्म लेने के उपरांत उसका यह चेतनात्मक विकास इन्द्रियों, मन, बुद्धि, भावना, चित्त आदि तलों से बढ़ते-बढ़ते आत्मिक विकास के तल तक पहुँचता है।

मनुष्य का जैविक विकास तो प्राकृतिक नियमों के अधीन होता है। इस विकास पर किसी का कोई वश नहीं होता। परन्तु एक बार आप मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं तो चूँकि आपके पास मन होता है, आप अपने आध्यात्मिक विकास को नियंत्रित कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य को प्रकृति की दया पर निर्भर होने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अपने विकास को गति प्रदान कर उसे पूर्णता के बिन्दु तक ले जा सकता है। यदि वह चाहे और प्रयत्न करे तो वह एक ही जीवन में विकास की अंतिम मंजिल तक पहुँच सकता है। पशु-पक्षियों को इसके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है। परन्तु मनुष्य के लिये, यदि वह प्रयास करे तो प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती।

मानवीय चेतना के विकास के साथ एक विशेष बात जो प्रकाश में आई है, वह यह कि मनुष्य की स्व-चेतना का देशकाल से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब आपको डर लगता है तो आप यह जानते हैं कि आपको डर लग रहा है। आपको यह भी मालूम होता है कि आपको डर लग रहा है। उसे स्व की चेतना अथवा संस्कृत में ज्ञान कहा जाता है। आदमी सोच सकता है तथा वह यह जानता है कि वह सोच रहा है। कभी-कभी बंदर भी सोचता है। परन्तु वह नहीं जानता कि वह सोच रहा है।

ज्ञान को अधिक-से-अधिक विकसित करने की आवश्यकता है कि आप जानते हैं कि आप सोच रहे हैं, देख रहे हैं, चल रहे हैं। आपको यह भी जानना

चाहिए कि इसके परे भी कुछ है। पशु ईश्वर में आस्था नहीं रखते। कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिन्हें ईश्वर पर विश्वास नहीं होता है। परन्तु इन दोनों के अविश्वास में अंतर रहता है। मनुष्य जानता है कि उसे ईश्वर पर विश्वास नहीं है। परन्तु पशु अपने इस अविश्वास से अनभिज्ञ रहता है। मनुष्य यदि अपने अविश्वास का कारण नहीं जानता है तो उसकी खोज करता है। सत्य का पता लगाने का प्रयत्न करता है।

ऋषि-मुनि कहते हैं कि मानव योनि में जन्म अंतिम होता है। वे मानव जन्म को एक दुर्लभ अवसर मानते तथा उपदेश करते हैं कि यदि हम ज्ञान का अधिकतम उपयोग करें तो तेजी से विकास कर सकते हैं। हो सकता है, हम एक ही जीवन में विकास के सर्वोच्च बिन्दु तक पहुँचने में सफल हो जायें। अत: हमें चौरासी लाख योनियों में भटकने के दु:ख से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। हम तो विश्वविद्यालय की अंतिम कक्षा में पहुँच ही चुके हैं। विकास की प्रक्रिया को गति देने के लिये योगाभ्यास की क्या जरूरत है? क्या यह प्रकृति के कार्य करने के ढंग के विरुद्ध नहीं है?

प्रकृति के नियम बड़े लचीले हैं। प्रकृति सैनिक तानाशाह की तरह नहीं होती। उसके कुछ खास नियम होते हैं, जिनका यदि आप पालन करें तो आपके विकास में तेजी आ सकती है। आपके पास साठ अथवा सौ वाट का विद्युत बल्ब है, परन्तु यदि आप उससे इस क्षमता से अधिक प्रकाश पाना चाहें तो क्या करेंगे? आप एक होल्डर और विद्युत तार लेंगे। परन्तु यदि आपके पास कोई भारी मशीन है जिसे चलाने के लिये तीन किलोवाट ऊर्जा की आवश्यकता है। अब यदि आप उसे इस कम क्षमता वाले होल्डर से जोड़ें तो आपके यहाँ सभी लाइने फ्यूज हो जायेंगी। इसी प्रकार प्रकृति के नियमों का उल्लंघन हानिकारक होता है। इसके विपरीत उनका पालन करने से फायदा ही फायदा होता है।

प्राकृति के नियमों का पालन करते हुए विकास की प्रक्रिया को तेज गति प्रदान की जा सकती है। इसका उदाहरण यूरेनियम को आणविक ऊर्जा में परिवर्तित करना है। यूरेनियम को आणविक ऊर्जा में बदलने के पूर्व रूपांतरण के अनेक स्तरों से गुजरना होता है। यदि आप उस प्रक्रिया को जानते-समझते हैं तो यूरेनियम को तत्काल अणु ऊर्जा में बदल सकते हैं। यूरेनियम एक पदार्थ है जिसके भीतर अपार ऊर्जा की संभावना छुपी रहती है, उसमें भी देश-काल, धनात्मक तथा ऋणात्मक ऊर्जा होती है। बीच में नाभिक होता है।

अब यदि आप यूरेनियम से आणविक ऊर्जा नहीं बनाते तो यह स्वाभाविक है कि कुछ खरब वर्षों पश्चात् वह अपने आप आणविक ऊर्जा विकसित करने लगे। यद्यपि मनुष्य यूरेनियम की इस क्षमता को जानता है तथा वह वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा उससे तत्काल अणु ऊर्जा प्राप्त कर सकता है। उसका ऐसा करना प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं, बल्कि सदुपयोग कहलाता है। ठीक इसी प्रकार आप योगाभ्यास द्वारा उस विकास की मंजिल को जल्दी प्राप्त कर सकते हैं जिसे योगाभ्यास के बिना भी आप लाखों वर्षों पश्चात् अवश्य पा लेंगे। आपका ऐसा करना प्रकृति के नियमों के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। यदि आप यह सोचकर हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें कि आपका चरम विकास प्रकृति द्वारा होगा ही, भले ही इसमें कितना ही समय क्यों न लगे तो मैं यही कहूँगा कि आप प्रकृति के नियमों से अनभिज्ञ हैं। अपने हित में उनका उपयोग नहीं करना चाहते।

क्या मानव विकास का कोई अंतिम पड़ाव भी होता है?

जिस प्रकार एक वृत्त अंतहीन होता है, मानव विकास की भी कोई सीमा नहीं होती। क्या आप किसी बिन्दु पर उँगली रखकर यह कह सकते हैं कि वृत्त यहाँ समाप्त हो जाता है। आइजेक बेन्टोह एक प्रख्यात वैज्ञानिक हुआ है, जिसने अनेक क्रांतिकारी खोजें की थीं। उसने एक ग्रंथ लिखा है, जिसका नाम 'राइडिंग द वाइल्ड पेंडुलम' है। इस ग्रंथ में वह मेरी उपर्युक्त धारणा से सहमत हो लिखता है कि मनुष्य विकास के अंतिम बिन्दु पर पहुँचकर मनुष्य नहीं रह जाता। वह स्वयं स्रष्टा हो जाता है।

ऐसे लोग ईश्वर के बाद पहले स्रष्टा होते हैं। गुरु भी कनिष्ठ स्रष्टा कहलाते हैं। वे भी विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचने के पश्चात् मानवों की सामान्य श्रेणी से बाहर आ जाते हैं। इसी प्रकार भौतिक जगत् में भी विकास की प्रक्रिया चलती है। जब कोई ऊर्जा विकास करती हुई किसी खास बिन्दु पर पहुँचती है तो वह अन्य ऊर्जा का सृजन करने लगती है। गुरु और अवतारों के पीछे यही सिद्धांत कार्य करता है।

जीवन इतने रहस्यों से भरा पड़ा है कि इस पीढ़ी में उन सब पर से परदा उठाना संभव नहीं लगता। हमें सर्वप्रथम रहस्यों के उद्घाटन के लिये अभिव्यक्ति के उपयुक्त माध्यम विकसित करने होंगे तथा उन्हें समझने की अपनी क्षमता बढ़ानी होगी।

एक बार अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसकी अनंतता की चेतना कैसे प्राप्त की जाये? व्यक्ति के साथ यह अनंतता किस प्रकार तालमेल स्थापित करती है और पुनर्जन्म से इसका क्या सम्बन्ध होता है?

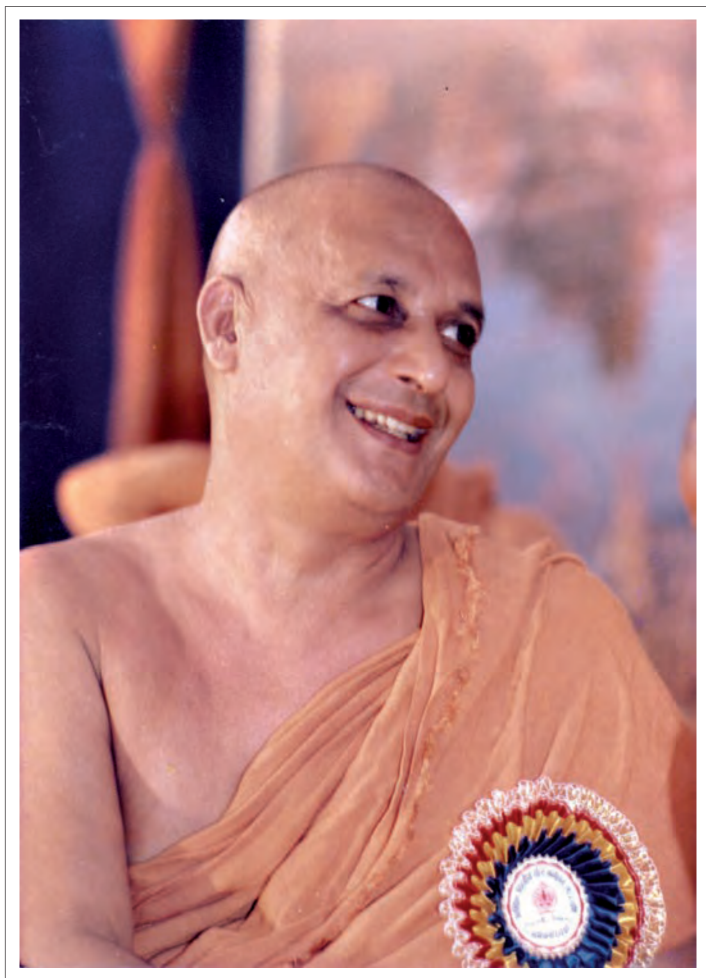
अनन्तता और व्यक्ति भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं। व्यक्तित्व अभिव्यक्ति का एक स्तर अथवा सोपान कहलाता है। बिजलीघर में आप बिजली पैदा करते हैं जो अनेक रूपों में हमारे सामने आती हैं। क्या इसे प्रकाश ऊर्जा कहेंगे? इसका उत्तर हाँ और नहीं, दोनों हो सकता है, क्योंकि प्रकाश ऊर्जा का एक रूप है, ठीक इसी प्रकार व्यक्तित्व भी अनन्तता की एक अभिव्यक्ति है। आपको समाधि में इसका अनुभव होता है। इसे समग्र अनुभव कहते हैं, परन्तु जब समाधि टूटती है तो आप संसार में लौटकर व्यक्ति मात्र रह जाते हैं। जब तक आपके कर्म शेष रहेंगे आपको बार-बार नीचे उतरना होगा। हर व्यक्ति अपने प्रारब्ध से बंधा होता है और उसे अपने प्रारब्ध को भोगना होता है। आपकी इच्छाएँ, वासनाएँ और कर्म होते हैं। भले ही समाधि में आपको अनंतता का अनुभव हो; जब तक कर्म और प्रारब्ध शेष रहेंगे, आपको व्यक्तियों के जगत् में आना पड़ेगा।

सबके साथ ऐसा ही होता है। जीवनमुक्त आत्माएँ बार-बार शरीर धारण कर पृथ्वी पर आती हैं और सामान्य जनों के बीच अति विकसित महान् आत्माओं की तरह विचरती हैं। परन्तु जब उनके भी कर्म नि:शेष हो जाते हैं तो वे फिर नहीं लौटतीं। इस अवस्था को मोक्ष कहते हैं। बौद्ध इसे निर्वाण कहते हैं।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जन्म और पुनर्जन्म हमेशा होते हैं। यह चक्र मोक्ष के साथ रुक जाता है। यदि आप किसी पुष्पबीज को बोते हैं तो एक पौधा उगता है और उसमें अनेक फूल खिलते हैं। पुन: उनके बीज जमीन पर गिरते हैं और फूलों की संख्या बढ़ती जाती है। इस क्रम को रोकने के लिए आप बीज को आग में सेंक देते हैं। अब बीज इस लायक नहीं रह जाता कि नये पौधों और फूलों को जन्म दे सके। जब कोई कर्म ही बाकी नहीं रह जाता तब जन्म-मरण का चक्र स्वयं ही थम जाता है।

हर इच्छा बीज के समान होती है। हर विचार शक्तिशाली होता है। इसी प्रकार वस्तु और व्यक्तियों से लगाव बड़ा बंधनकारक होता है। ये सबके सब हमें बार-बार इस पृथ्वी पर लाते हैं। आप रोज घर से दुकान

और दुकान से घर जाते हैं, क्योंकि आपको कुछ दायित्व पूरा करना होता है। यदि आपकी जिम्मेदारियाँ ही नहीं हों तो आप क्यों घर से दुकान और दुकान से घर बार-बार जायेंगे-आयेंगे? इसलिये जीवात्मा को अपने कर्मों के अनुरूप भोग भोगने के लिये बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमना पड़ता है।



आध्यात्मिक चेतना का प्रस्फुटन

गर्भ में जाने के क्षण से मृत्युपर्यन्त मनुष्य में आध्यात्मिकता अभिव्यक्त होती रहती है। जीवन का प्रथम सोपान उसकी शिक्षा, भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास होता है। जीवन के द्वितीय सोपान में वह अपनी इच्छाओं, वासनाओं, भय, पीड़ा और भावनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम से कर्मों को भोगता है जो बीज रूप में उसके मन की गहराई में डेरा जमाये रहते हैं। जीवन के तीसरे चरण में शरीर, मन और भावनाओं के परे आध्यात्मिक चेतना विकसित होती है। जब आध्यात्मिक विकास अपनी पूर्णता पर पहुँचकर स्थित हो जाता है तब वह जीवन के उन कार्यों से छुट्टी ले लेता है जो विगत पचास-साठ वर्षों से वह अनिवार्य रूप से करता रहा है, क्योंकि इन्हें किये बिना गुजारा भी नहीं था। इसके बाद वह आध्यात्मिक अनुभवों में गोते लगाना शुरू कर देता है।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जीवन को चार भागों में विभक्त कर इन्हें आश्रम घोषित किया था। जीवन के प्रथम चतुर्थांश को ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। यहाँ व्यक्ति अध्ययन करता, शरीर, मन, बुद्धि और भावनाओं का विकास कर पचीस वर्ष बिताता था। इसके बाद वह विवाह करता, संतान उत्पन्न करता और उद्योग-व्यवसाय द्वारा धनार्जन करता था, इसे गृहस्थाश्रम कहते थे। यहाँ वह अपनी इच्छाओं, वासनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के दरम्यान सुख-दुःख, आशा-निराशा, घृणा, भय तथा मान-अपमान का अनुभव करता, तमोगुण तथा रजोगुणों में जीवनयापन करता था।

सांसारिक विषयों के उपभोग द्वारा उसकी निम्न प्रकृति में सुधार होता था। सांसारिक कार्यों में भागीदारी द्वारा व्यक्तियों और घटनाओं के माध्यम से उसका अहम् और निम्न प्रकृति बाहर निकलते थे। यह ठीक उसी प्रकार होता था जैसे यदि आप कोई विरेचक लें, तो आपकी आँतों में संचित गंदगी बाहर निकल

आती है। गृहस्थाश्रम की व्यवस्था भी इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु की गई थी। इसीलिये आपको गृहस्थ जीवन से गुजरना पड़ता है ताकि आपके भीतर बीजरूप में संचित कर्मों के संस्कार बाहर आयें और आपकी चेतना परिष्कृत हो सके।

याद रखिये, अपने इन कर्मों को समाप्त किये बिना आप उस प्रकाश के दर्शन कतई नहीं कर सकते जो आपके भीतर छुपा है। सर्वप्रथम अपने दर्पण को मल-मलकर साफ कीजिये तभी उसमें आपको अपना चेहरा स्पष्ट दिखेगा। जब तक आप बत्ती के बाहरी काँच को साफ नहीं करेंगे, प्रकाश बाहर नहीं जायेगा। इसी प्रकार आदमी के भीतर भी बेशुमार गंदगी भरी पड़ी है, जिसकी सफाई के लिये गृहस्थाश्रम की व्यवस्था की गई है।

यदि आप में ईर्ष्या, द्वेष तथा घृणा हैं तो वे आपके भीतर हैं। वे कहीं बाहर से आपमें आये नहीं। वे आपके व्यक्तित्व के ही अभिन्न अंग हैं। आप तो उसे केवल अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे हैं। जिस प्रकार भीतर संचित गंदगी के फलस्वरूप शरीर में फोड़े-फुँसी निकलते हैं, समय आने पर घृणा, भय, क्रोध आदि भी बाहर निकलते हैं। अब इन मानसिक समस्याओं को लेकर डॉक्टर के पास जाने की क्या आवश्यकता है? वह आपसे उबाने वाले अनेक प्रश्न पूछेगा–क्या आपके माता-पिता हैं? आपका पेशा क्या है? आदि-आदि। भले ही आप अच्छे हों अथवा न हों, डॉक्टर भी कुछ समय बाद बीमार पड़ ही जायेगा, क्योंकि वही घिसे-पिटे प्रश्न वह अपने मरीजों से बार-बार पूछता रहता है।

नहीं। यह तो सही तरीका नहीं हुआ। जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे डॉक्टरी उपचार द्वारा ठीक किया जा सके। जो कुछ भी है उसे अभिव्यक्ति प्रदान करनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति की जरा कल्पना तो कीजिये जिसमें भय, ईर्ष्या, क्रोध तथा घृणा जैसी चीजों का लेशमात्र भी न हो। उसे आप जड़ नहीं तो और क्या कहेंगे? सात्त्विक अवस्था में ही आप निर्भय बनते तथा दूसरों में निर्भयता का संचार कर सकते हैं। उस अवस्था में न तो आपको किसी का भय होता है और न ही आप से किसी को भय होता। आप सबको प्रेम, दया और करुणा बाँटते हैं। आप अजातशत्रु हो जाते हैं।

यदि आप समाज में लोगों से यह कहें कि इस तरह व्यवहार करो, ऐसा न करो तो आप समाज में भ्रम पैदा करेंगे, क्योंकि ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं जो बिना दमन के समाज में व्यवहार करते हों। वे अपनी भावनाओं को दबाकर जो व्यवहार करते हैं, वस्तुत: वैसा करना नहीं चाहते। आपमें से ऐसे कितने लोग हैं जो साहसपूर्वक यह घोषित कर सकें कि मुझमें वासनाएँ तथा

महत्त्वाकांक्षाएँ जरा-भी नहीं है। अब जो बाकी के लोग हैं उनका क्या होगा? लोग उनका शोषण करेंगे, उन्हें जान से ही मार डालेंगे। मनुष्य को चेतना के विकास के संदर्भ में कर्मयोग के महत्त्व को समझने की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और वासनाएँ बुरी नहीं हैं। आपके आध्यात्मिक विकास के परिणामस्वरूप वे आपकी चेतना की अभिव्यक्तियाँ मात्र होती हैं। जब आप बच्चे थे तब तो आपकी दाढ़ी-मूँछ नहीं थी। परन्तु जब आप बड़े हुए तो वह भी विकसित हुई। इसी प्रकार इनकी अभिव्यक्ति के बारे में जरा भी चिंतित न होइये। ये तो व्यक्तित्व के विभिन्न तलों पर होने वाले अनुभव हैं। ये आपकी चेतना के विकास के संकेतक हैं। यदि आप इनकी अभिव्यक्ति के रास्ते में रोड़ा अटकायेंगे, इन्हें दबायेंगे तो निश्चय मानिये कि आप अपने आध्यात्मिक विकास को कुंठित करेंगे। यदि इन्हें अभिव्यक्ति की खुली छूट देंगे तो प्रगति के पथ पर तेजी से आगे बढ़ेंगे। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि वह सब कुछ कब तक ऐसे ही चलता रहेगा।

गृहस्थ के जीवन में एक समय ऐसा आता है जब ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और क्रोध आदि कमजोर होने लगते हैं। इनकी बार-बार तीव्र रूप में आवृत्ति नहीं होती। आपकी चेतना में कुछ ऐसा रूपांतरण आता है कि आप इनके परे छलांग लगाने के लिये तत्पर होते हैं। ये अभी भी आपके व्यक्तित्व में विद्यमान रहते हैं, आपके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग होते हैं। परन्तु इसी के साथ आपके व्यक्तित्व का दूसरा आयाम भी खुल चुका होता है। इसे 'स्व' की चेतना अथवा आत्मानुभूति कहते हैं। आत्मानुभूति का तात्पर्य आपके गहनतम सूक्ष्म तत्त्व (जो शरीर, मन और भावनाओं से कहीं अधिक सूक्ष्म होता है) के अनुभव से है।

जब आपको इस सूक्ष्म तत्त्व की, आत्मा की अनुभूति होने लगती है तब गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी आप भय, लोभ, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध से बाहर निकल आते हैं। जब तक आप इस अवस्था में नहीं पहुँचते, बहादुरी के साथ इनका सामना कीजिये। यदि गृहस्थ जीवन में आप इनके आवेगों को सह लेते हैं तो आगे आपकी आध्यात्मिक प्रगति में तेजी आयेगी।

अनेक बार यह देखने में आता है कि लोग शांत एकांत स्थान में आँखें बंद कर ध्यान के लिए बैठते हैं। परन्तु जैसे ही चेतना का अपकर्ष होता है उनके भीतर एक अज्ञात भय भर जाता है। इसका कारण यह है कि उनका बाह्य चेतना से संपर्क टूट जाता है। अनेक लोग तो भय के इस अनुभव से इस तरह डर जाते हैं कि वे ध्यान करना ही छोड़ देते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि जैसे

ही वे आँखें बंद करते हैं कोई पीछे खड़ा हो जाता है और उनमें भय का संचार होने लगता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन के इस पड़ाव पर आंतरिक चेतना विकसित होने लगती है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा तथा अन्य वासनाएँ उबाल में रहती हैं। यह बात आपको आध्यात्मिक साधकों में बहुधा देखने को मिलेगी। अनेक लोग मुझसे पूछते हैं, 'स्वामीजी, आध्यात्मिक जीवन प्रारंभ कर चुकने के बावजूद क्यों मुझमें पशु समान भय, क्रोध और ईर्ष्या आदि की भरमार हैं?' यह स्वाभाविक और जरूरी है, क्योंकि अभी तक आप इन सहज-स्वभाविक प्रवृत्तियों को बलात् दबाते रहे हैं।

एक बार जब आप इन सबसे बाहर आकर आध्यात्मिक जीवन में कदम रखते हैं तो आपके समक्ष व्यक्तित्व का एक अनोखा, अछूता आयाम खुलता है, जिसे आत्मा कहते हैं, स्वानुभूति कहते हैं। अब आपको अपने समूचे व्यक्तित्व को, जीवन को पुनर्व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आप पत्नी तथा बच्चों को छोड़ दें, आपको कुछ भी त्यागने की आवश्यकता नहीं होती, आपको जीवन की अन्यान्य गतिविधियों में अपनी भागीदारी तथा उनके पड़ने वाले संस्कारों के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलना चाहिए। इसे गृहस्थाश्रम में रहते हुए कर्म संन्यास युक्त जीवनयापन कह सकते हैं।

प्राचीनकाल में कर्म संन्यास की अवधारणा भिन्न थी। जब पति-पत्नी इस चेतनात्मक स्तर पर पहुँचते, तो घर-बार छोड़कर जंगल में चले जाते थे। वहाँ छोटी-सी पर्णकुटी बना आध्यात्मिक अनुशासन में रहते और साधना करते थे। परन्तु आजकल सबके लिये ऐसा कर पाना संभव नहीं है। सर्वप्रथम तो अब जंगलों का वातावरण ऐसा रह ही नहीं गया है कि वहाँ शांतिपूर्वक, निर्विघ्न रहकर साधना की जा सके। दूसरे अब तो जंगल एक पृथक् सरकारी महकमे की देखरेख और नियंत्रण में रहते हैं। इसलिये स्वाभाविक है कि आपको अपने आस-पास के वातावरण को ही वन जैसा बनाना होगा।

कर्म संन्यास के वर्तमान संदर्भों की अवधारणा आपके भीतर आध्यात्मिक चेतना के विकास की ओर संकेत करती है। गृहस्थ जीवन के झंझावातों में रहते हुए उच्च चेतना की झलक पाना और उसे आगे विकसित तथा स्थायी करना ही कर्म संन्यास का मूल प्रयोजन है। जिस प्रकार आपको शरीर, मन तथा उनकी समस्याओं का आये दिन अनुभव होता रहता है, दु:ख-सुख, पीड़ा आदि का अनुभव होता है, ठीक उसी तरह आपको अपने भीतर निहित आध्यात्मिक संभावनाओं का भी अनुभव होता है, उनकी यदाकदा झलक मिलती है। तात्पर्य

यह कि जब भी आप स्वयं को अध्यात्म में छलांग भरने के लिये तैयार पायें, जब भी आपमें आध्यात्मिक साधना की प्यास और ललक जागे, समझिये आपके लिये कर्म संन्यास में दीक्षित होने का अवसर आ गया है।

कार्य-कारण का नियम ही यह है कि प्रत्येक कर्म नये कर्म को जन्म देता है। जब आप जमीन में बीज बोयेंगे तो पौधा उगेगा ही। पुन: उसके बीज जमीन पर गिरेंगे और पुन: अनेक पौधे उगेंगे। यह क्रम अनन्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्म के नियम से अनिवार्य रूप से बंधा होता है, इससे केवल वही मुक्त रहता है जिसने अपने अहं का पूरी तरह अपकर्ष कर लिया है। कर्म संन्यास इसी सिद्धान्त पर आधारित है। अब जिस गृहस्थ को कर्म के इस सिद्धान्त का पता नहीं है वह तो कर्म करता और अन्य दूसरे कर्मों की सृष्टि करता चला जाता है। वह इनके घात-प्रतिघातों से बचता भी नहीं है। यह क्रम कभी थमता नहीं है। ऐसा क्यों? इसलिए कि उसकी गृहस्थी के विभिन्न कार्यों में भागीदारी के साथ-साथ उसका अहम् भी उपस्थित रहता है, वह छाया की तरह उसका पीछा नहीं छोड़ता। अब अहम् की उसके कार्यों में भागीदारी के फलस्वरूप उसके कर्म कार्य-कारण की अटूट श्रृंखला को जारी रखते हैं।

बात ऐसी नहीं है कि गृहस्थ इस अहम् को अपने कार्यों से पृथक् रखने का प्रयत्न नहीं करता है। वह घर में, कार्यालय में, आश्रम तथा कारखाने में काम करता है। वहाँ के कार्यों में अपनी संपूर्ण शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के साथ पूरी निष्ठा के साथ हिस्सा लेता है। परन्तु उसका अहम् उसके साथ चिपका रहता है। आपके कर्मों के संदर्भ में इस अहम् के सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व होता है। एक बार यदि आप अपने अहम् से 'हरि ॐ' कर लें तो फिर कर्म आपके अपने नहीं रह जाते। उन्हें निष्काम कर्म कहा जाता है।

आपमें से अनेक लोग हमारे आश्रम में आते हैं। वहाँ बगीचे, ऑफिस, पाकशाला, प्रेस आदि में काम करते हैं। अब यहाँ आप जो भी काम करते हैं, उनसे नये कर्मों की सृष्टि नहीं होती। क्यों? इसलिए कि यहाँ के कामों में आप तन, मन, बुद्धि, भावना और कौशल के साथ भाग तो लेते हैं, परन्तु आपका अहम् इनसे दूर रहता है। विभिन्न कार्यों में आप स्वयं तो हिस्सा लेते हैं, परन्तु आपका अहम् उनमें शामिल नहीं होता। इसलिए आपके इन कार्यों का जो फल होगा वह आपको नहीं लगेगा। चूँकि आप अहम् के साथ कर्म करते हैं, इसलिए उसका फल भोगते हैं। लाभ आपका, हानि आपकी, जन्म और मृत्यु भी आपकी, क्योंकि अपने समस्त कार्यों में आपने अहम् के साथ हिस्सा लिया था।

जीवन में कार्य और व्यवहार की दो शैलियाँ होती हैं, जो गीता का सार कही जा सकती हैं। इनमें से एक आसक्ति सहित तथा दूसरी आसक्तिरहित है। जब आप ममत्व अथवा लगावपूर्वक जीवन में कार्यों को अंजाम देते हैं तो उनमें आपका अहं पूरी तरह मौजूद रहता है, किन्तु अगर आसक्तिरहित होकर उन्हें करते हैं तो सब कुछ तो लगता है, परन्तु अहम् आपसे अलग रहता है। अत: अहम् ही कार्य-कारण की शृंखला के लिये उत्तरदायी होता है। यदि अहम् नहीं है, तो कर्म तो आपका होगा, परन्तु उसके परिणाम, उसका फल आपको प्रभावित नहीं करेगा।

गृहस्थ कर्म संन्यासी को इसके लिये तैयार रहना चाहिए। कर्मों को त्यागने के बदले, स्वजनों को त्यागने के बदले कर्त्तव्य, धन, जायदाद, प्रेम और वासनाओं को छोड़ने के बदले उसे अपने अहम् को विसर्जित करना चाहिए। यह एक सहज करणीय बात है। परन्तु कर्म संन्यासी के जीवन में इसका बड़ा महत्त्व है।

मैं आपको एक उदाहरण द्वारा यह बात अच्छी तरह समझाना चाहूँगा। मेरा एक मित्र था जो सरकारी खजाने में काम करता था। हर दिन वह लाखों-करोड़ों रुपयों का लेन-देन करता था। एक दिन सुबह जब वह कार्यालय पहुँचा तो उसे पता लगा कि रात में डाकुओं ने सेंध मारकर बीस हजार रुपये लूट लिये हैं। मैं कह नहीं सकता कि उस पर इस समाचार का क्या प्रभाव पड़ा होगा। हो सकता है, वह इससे जरा भी प्रभावित न हुआ हो, क्योंकि रुपया उसका अपना तो था नहीं। इस धन से उसका मात्र लेन-देन तक का ही सम्बन्ध था। अब जहाँ तक उसके हिसाब-किताब का सम्बन्ध था, यदि वह चुस्त-दुरुस्त था तो उसे जरा भी डरने की आवश्यकता नहीं थी। उसे इस बात से क्या लेना-देना था कि धन कौन ले गया था। शाम को जब वह घर लौटा तो थोड़ा परेशान था; बस, इससे अधिक और कोई बात नहीं थी।

कुछ समय बाद यही व्यक्ति पचीस रुपये लेकर खरीददारी के लिये बाजार गया। हुआ यह कि रास्ते में किसी ने उसके रुपयों पर हाथ साफ कर दिया। अब तो उसकी सोचने-समझने की शक्ति ही समाप्त हो गई, क्योंकि उसके पास यही पचीस रुपये थे। वह खाली हाथ घर लौट आया। रास्ते में वह जिस रिक्शे से आ रहा था उस पर खड़े होकर रिक्शेवाले को भला-बुरा कहने लगा कि तुम ठीक से रिक्शा क्यों नहीं चला रहे हो। घर पहुँचकर वह अपनी पत्नी पर बरस पड़ा, बच्चे भी उसके क्रोध की चपेट में आने से न बच सके। इस पूरे झमेले के पीछे मात्र पचीस रुपयों का नुकसान ही तो था। बीस हजार की बैंक डकैती तो नहीं थी, क्योंकि वह धन उसका अपना नहीं था।

दार्शनिक सम्बन्ध वह होता है जो अपनी मान्यताओं के अनुरूप हम व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ स्थापित करते हैं। पचीस रुपये उस व्यक्ति के अपने थे, बीस हजार अपने नहीं थे। इसलिए सरकारी बीस हजार रुपयों की हानि ने किसी कर्म को उत्पन्न नहीं किया। वह इस घटना से जरा भी विचलित नहीं हुआ, हालाँकि राशि बहुत बड़ी थी। परन्तु मात्र पचीस रुपयों के नुकसान ने उसे बुरी तरह झकझोर डाला। उसका रक्तचाप बढ़ गया। यदि वह बहुत कमजोर मन वाला होता, यदि राशि अधिक होती तो वह बुरी तरह टूट जाता, उसका पूर्ण मानसिक विघटन हो जाता।

देखा आपने! एक कर्म संन्यासी को तथा उस गृहस्थ को, जो कर्म संन्यास लेने की इच्छा रखता हो, स्वयं को इसके लिये किस तरह तैयार करना चाहिए। उसे उन समस्त व्यक्तियों तथा वस्तुओं के साथ, जिनके बीच वह रहता है, अपने सम्बन्धों को पुनर्व्यवस्थित करना चाहिए, उनमें आमूलचूल परिवर्तन करना चाहिए। पति-पत्नी के आपसी सम्बन्ध, बच्चों की असामयिक मृत्यु, लाभ-हानि, सामाजिक तथा राजनैतिक उतार-चढ़ाव जो आम जीवन में होते रहते हैं, कर्म संन्यासी को उनके प्रति अपनी सोच और दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना चाहिए। तभी वह सफल कर्म संन्यासी कहलायेगा तथा अपनी आध्यात्मिक साधना निर्विघ्न सम्पन्न कर सकेगा और केवल तभी उसकी चेतना के विकास में पंख लगेंगे।

प्रश्नोत्तर

किस प्रकार हम कर्मों तथा उनके संस्कारों को अपने अवचेतन और चेतन मन में जाने से रोक सकते हैं?

प्रयास कीजिये, समय नष्ट न कीजिये, आप केवल संस्कारों को हटायेंगे तो उनके बदले और कुछ आ जायेगा। यह तो रेलवे स्टेशन अथवा हवाई अड्डे जैसी बात हुई। जहाँ एक ट्रेन जाती है तो उसकी जगह दूसरी आ जाती है। एक हवाईजहाज उतरता है तो दूसरा उड़ान भरता है। संस्कारों के साथ भी यही बात सही उतरती है। आप आँखों को तो बंद नहीं कर सकते। जब तक आप मन, प्रकृति तथा अनुभवों से बँधे हैं, संस्कारों को आने से कैसे रोकेंगे?

संस्कारों को रोकने के बदले उनके निर्माण पर रोक लगाइये। परन्तु इसे आप रोक नहीं सकते। आपके जाने-अजनाने संस्कार तो बनेंगे ही। अब इन्हें

रोकने अथवा इनकी प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के बदले बेहतर होगा कि आप इनसे कहीं अधिक तीव्र और प्रभावशाली संस्कारों का निमार्ण करें। इस प्रकार विधायक संस्कार निषेधात्मक संस्कारों को अवक्रमित कर देंगे।

जब आप अपने भीतर आंतरिक अनुभवों का निर्माण करते हैं तो आप अधिक प्रभावी संस्कारों का निर्माण करते हैं। संस्कारों को क्षय करना संभव तो है, परन्तु अधिकतर लोगों के लिए ऐसा करना निरापद नहीं होता, क्योंकि कभी-कभी संस्कारों को निश्चित करने, हानिकारक संस्कारों को समाप्त करने की प्रक्रिया में आप अपने व्यक्तित्व को ही अव्यवस्थित कर डालते हैं। और तब आप बड़ा असामान्य व्यवहार करने लगते हैं।

मंत्र, यंत्र, तंत्र अथवा अन्य किसी आध्यात्मिक साधना द्वारा संस्कारों को जरा भी उत्तेजित करने की कोशिश न कीजिये, उनसे लड़िये नहीं। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपके भीतर जो अरबों-खरबों संस्कार, अनेक जन्मों से बीजरूप में विद्यमान हैं, अस्तव्यस्त हो सकते हैं। इसलिए अपने जीवन की इस बुनियाद को हिलाइये नहीं। उनके प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाइये। फिर आप यह भी तो नहीं जानते कि वहाँ संस्कार हैं भी या नहीं। हो सकता है आपको और कोई परिचालित कर रहा हो। क्या मोटरकार के अपने संस्कार होते हैं। उसे तो ड्राइवर चलाता है। हो सकता है आप पर भी यही बात लागू होती हो।

इसलिए सिर्फ आस्था और विश्वास का दामन पकड़कर न बढ़िये। सावधानी केवल यह रखिये कि आप कहीं कोई गंभीर गलती न कर बैठें। उसी राह पर चलिये जिसे आप अच्छी तरह जानते हों। निरापद रास्ते में वांछनीय विधायक संस्कार आपके पीछे दौड़ेंगे। अपने आधार को जरा भी क्षति पहुँचाने की आवश्यकता नहीं है। जो ऐसा करते हैं उन्हें आत्मघातियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। वासनाओं का नाश करो। मन के भीतर छुपी इच्छाओं, कामनाओं का दमन करो। संस्कारों को मिटाओ। यह कुछ भी संभव नहीं है। आप कर सकें तो जरा करके देखिये। मेरे लिये तो यह कतई संभव नहीं है। मैं तो इन्हीं राक्षसों, पिशाचों को साथ लेकर आगे बढ़ूँगा। आप अपनी जाने।

यदि कोई गृहस्थ निषेधात्मक प्रवृत्तियों, जैसे, ईर्ष्या, लोभ, घृणा आदि को निर्मूल कर दे तो क्या वह योगी कहलाता है? क्या मन को शुद्ध, पवित्र बनाने का यही एकमात्र मार्ग है अथवा इसके सिवाय अन्य भी कोई उपाय है?

जब आप नियमित योगाभ्यास करते हैं तो मन में एक रूपांतरण की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। यदि योगाभ्यास न करें तो कालांतरण में यह रूपान्तरण होता ही है। अनेक धर्म इन निषेधात्मक प्रवृत्तियों का निषेध करते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि जब तक ये प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, संसार में शांति स्थापित नहीं हो सकती। संसार में जितनी भी उठापटक हुई है उन सबके पीछे ये लोभ, भय, घृणा और ईर्ष्या कारण रहे हैं। इसलिए आवश्यक यह है कि मनुष्य की मानसिक बीमारियों का उपचार होना चाहिए, क्योंकि ये बीमारियाँ न केवल उसे, बल्कि समूची मानवता को ही प्रभावित करती हैं।

इस्लाम और बौद्ध धर्मों में भी इन प्रवृत्तियों को निरुत्साह किया गया है। अनेक अवतारों, सन्तों और महात्माओं ने भी इसके विरुद्ध मुहिम छेड़ रखी है। हम जब भी गृहस्थों के बीच जाते हैं तो उन्हें भी घृणा, द्वेष, लोभ, क्रोध आदि को त्यागने का उपदेश देते हैं। परन्तु सभी धर्मों के आदेश और उपदेश के बावजूद आप तद्नुसार आचरण नहीं कर पाते। धर्म की बातें आपके गले तो उतरती हैं, परन्तु न जाने वह कौन-सी मजबूरी होती है कि फिर भी आपमें ये प्रवृत्तियाँ डेरा जमाएँ रहती हैं। बस, यहीं जीवन में योग को अपनाने और इन निषेधात्मक प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करने की आवश्यकता पड़ती है। योग की सहायता से ही आप अपने में परिवर्तन ला सकते हैं। भले ही यह परिवर्तन मानसिक स्तर पर न हो, परन्तु व्यावहारिक स्तर पर तो हो ही सकता है।

कभी-कभी तो नलिकाविहीन ग्रंथियों के कार्यों में असंतुलन मन के पूरे स्वरूप को ही झकझोर देता है। शीर्ष और पीयूष ग्रंथियों के बीच तालमेल और संतुलन हमारे सोचने की प्रक्रिया में सुधार लाता तथा हमें परिपक्व बनाता है। कभी-कभी मानसिक तरंगों में कोई परिवर्तन हमें शांति तथा स्थिरता प्रदान करने वाला होता है। इसलिये इन निषेधात्मक प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने के लिये हमें हर संभव उपाय करना चाहिए, भले ही यह योग हो अथवा अन्य कोई आध्यात्मिक साधना। महत्त्व साधन का नहीं, उसके हितकारी प्रभाव का है। यदि धर्म आपको यह दे सके तो वह बुरा नहीं है। परन्तु जब कभी आप धार्मिक गुत्थियों को न सुलझा पायें, असमंजस की हालत में हों तो अपनी दिनचर्या में योगाभ्यास अवश्य जोड़ लें।

क्या एक गृहस्थ सात्त्विक हो सकता है?

एक गृहस्थ कुछ सीमा तक सात्त्विक हो सकता है, परन्तु शत-प्रतिशत नहीं। मन त्रिगुणों द्वारा नियंत्रित होता है। जब आप शांत, स्थिर और संतुलित हों तो

सतोगुण प्रधान होता है। जब आप चंचल, आक्रामक तथा महत्त्वाकांक्षी होते हैं तो उस समय रजोगुण प्रधान होता है तथा जब आप सुस्त, निष्क्रिय, आलसी होते हैं तो उस समय तमोगुण प्रधान होता है। सत, रज और तम, ये मन की तीन अवस्थाएँ होती हैं।

मन के विकास की पाँच अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था जड़, दूसरी विक्षिप्त, तीसरी चंचल, चौथी एकाग्र और पाँचवीं निरुद्ध, यही विकास क्रम है। संयत और एकाग्र मन सात्त्विक मन होता है। ऐसा मनुष्य सात्त्विक कहलाता है। अब यह जरूरी नहीं कि वह संन्यासी ही हो। वह एक गृहस्थ भी हो सकता है।

मन की विक्षिप्त और चंचल अवस्थाएँ रजोगुण के अंतर्गत आती हैं। यहाँ मन विभक्त रहता है। उसमें द्वन्द्व उठते हैं। मन घड़ी के दोलक की भाँति निर्णय और अनिर्णय के बीच डोलता रहता है। ऐसा व्यक्ति रजोगुण प्रधान माना जाता है।

मन की सुस्त निष्क्रिय अवस्था तमोगुण प्रधान होती है। ऐसी अवस्था में यदि आप ध्यान करने बैठें तो सो जायेंगे। अब यदि मैं आपसे ईश्वर, ज्ञान, भक्ति और राजयोग की चर्चा करूँ तो आपकी नाक खर्राटों का राग सप्तक छेड़ देगी। इसके विपरीत मैं सिनेमा, दूरदर्शन और मौज-मजे की बातें करूँ तो आपकी आँखें खुल जायेंगी और कान मेरी बातें सुनने लगेंगे। इसे ही सुस्त बुझा मन कहते हैं। अब ऐसा मन हमेशा ज्ञान, विज्ञान और ईश्वर भक्ति की बातों के प्रति उदासीन रहता है। जहाँ आमोद-प्रमोद की चर्चा आई नहीं कि वह सचेत और सक्रिय हो जाता है। ऐसे लोग हमेशा भूतकाल में ही खोये रहते हैं, वर्तमान से उन्हें शिकायत ही शिकायत रहती है।

गृहस्थ सात्त्विक तो हो सकता है, परन्तु पूरी तरह सात्त्विक नहीं हो सकता। इसका कारण उसका मन और उसकी कमजोरियाँ होती हैं। उसे अन्य गुणों के प्रहार तथा उनके अनुरूप परिवर्तनों को झेलना होता है। उसे परिवार तथा समाज में रहना तथा उनसे व्यवहार करना होता है, द्वन्द्वों का सामना करना होता है। इसके साथ-ही-साथ अपने आध्यात्मिक योग-क्षेम को भी देखना होता है। अब यह स्वाभाविक है कि वह पूरी तरह सात्त्विक कैसे हो सकता है। भले ही वह जीवनमुक्त क्यों न हो, संसार और परिवार में रहते हुए उसे माया के झटके तो खाने पड़ेंगे।

दीक्षा दिवस

जिस क्षण आप माँ के पेट से बाहर आते हैं, श्वास लेते हैं, आपका शारीरिक विकास प्रारंभ हो जाता है। अनेक लोगों का जीवन में केवल एक बार जन्म होता है। साठ या अस्सी वर्षों के बाद वे इस भौतिक शरीर को त्याग देते हैं, जो उनकी मृत्यु कहलाती है। इस तरह अनेक लोगों का भौतिक जन्म और मृत्यु होती है। आपमें से प्रत्येक ने दुबारा जन्म लेने तथा दुबारा मरने का निश्चय किया है, इसे भौतिक तथा आध्यात्मिक जन्म, तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक मरण कहेंगे

अपने दैनिक जीवन के स्तर को विकसित करने के उद्देश्य से महान् संकल्प के साथ कर्म संन्यास ग्रहण करना आपका आध्यात्मिक पुनर्जन्म कहलायेगा। आज आध्यात्मिक शिशु का जन्मदिन है। इसके बाद गहन निर्विघ्न ध्यान के उन क्षणों में जब आपको समाधि की उपलब्धि होगी, आपकी दूसरी मृत्यु होगी, जिसके बाद तो आप अमर ही हो जायेंगे। शायद इसलिए पवित्र बाइबिल में संत पॉल शपथपूर्वक कहते हैं, "मैं प्रतिदिन मरता हूँ।"

क्या हम भी प्रतिदिन मरते हैं? नहीं, हम केवल एक बार मरते और एक बार जन्म लेते हैं। परन्तु पुनर्जन्म लेने वाला आध्यात्मिक शिशु बिन्दु से भी छोटा होता है। वह अत्यल्प चेतना के रूप में सबमें विद्यमान होता है। यही आपके आगामी अस्तित्व का, आध्यात्मिक जीवन का नाभिक कहलाता है। जब भी शिशु का जन्म होता है वह एकाएक बच्चा या नवयुवक नहीं बन जाता। उसके पूर्ण विकास में लंबा समय लगता है। ठीक इसी प्रकार आपके द्वारा आज लिया गया यह संकल्प काफी समय बाद पूर्ण विकास को प्राप्त करेगा।

अभी तक आप जिस मार्ग पर चलते रहे हैं वह फूल-काँटों, इच्छाओं, वासनाओं, भाव तथा अभावों से भरा था। परन्तु अब आपको जिस मार्ग पर

चलना है वह तलवार की धार पर चलने की तरह कठिन होगा। यह मार्ग केवल मजा-मौज से भरा नहीं है। यद्यपि आप इसी शरीर में रहेंगे, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करेंगे, आपका घर-परिवार, समाज तथा राष्ट्रीयता नहीं बदलेगी, परन्तु अब आपका आध्यात्मिक व्यक्तित्व बदल जायेगा। दिव्यालोक के जिस स्फुल्लिंग ने आज आपके भीतर जन्म लिया है, उसे पूरी तरह विकसित होने के लिये लंबा समय लगेगा। हो सकता है, इसके लिये आपको अनेक जन्म लेने पड़ें। इसलिये चिंतित या परेशान होने की जरा भी आवश्यकता नहीं है। जब तक आप नियमित रहेंगे, जब तक आपका संकल्प तरोताजा रहेगा, आपका आध्यात्मिक विकास उत्तरोत्तर होता रहेगा।

हमारा मन बड़ा चंचल होता है। वह हर क्षण बदलता रहता है, कभी-कभी हमारे मन पर संशय के घने बादल छाये रहते हैं तो कभी श्रद्धा का सूर्य अपने पूरे तेज के साथ चमकता है। कभी-कभी मन की यह स्थिरता आपको आदिम युग के स्तर तक घसीट ले जाती है। परन्तु हर ऐसे अवसर पर आप अपने मन का विश्लेषण करें, गहराई के साथ सोचे-विचारें, तो इसमें कोई शक नहीं कि आपकी प्रेरणा और संकल्प अधिक दृढ़ होंगे। याद रखिये, जो भी वस्तु आध्यात्मिक होती है उसका कभी पूर्ण विनाश नहीं होता। आध्यात्मिक प्रेरणा तो अमर होती है। हो सकता है उसे कभी-कभी राहु-केतु पकड़ लें। वह थोड़े समय के लिये आपकी आँखों से ओझल हो जाये। कुछ समय के लिए समाप्त होने जैसी लगे। परन्तु पुनः याद रखिये, उसका अस्तित्व कभी समाप्त होने वाला नहीं है।

माया और अविद्या मनुष्य के पीछे छाया की तरह लगी रहती हैं। कभी-कभी मनुष्य इनसे बुरी तरह आक्रांत हो जाता है। अनेक महान् आत्माएँ भी, जो आध्यात्मिक जीवन जीती हैं, जिनकी चेतना और दिव्यता उच्च श्रेणी की होती है, अविद्या और माया का शिकार होती देखी गई हैं। एक बार जब भौतिक रूप से जन्म ले लेते हैं, तो प्राकृतिक नियमों से बँध जाते हैं। उनसे किसी भी प्रकार बच नहीं सकते। शरीर और उसके कर्म, मन और उसके कर्म, अस्तित्व और उसके कर्म हमें सब ओर से मजबूती से बाँध लेते हैं।

परन्तु इन बातों से हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं है। बहादुरों के लिये जीवन एक चुनौती होता है। हर साहसिक कार्य में अपनी अनोखी नवीनता होती है। हर दिन हम एक जैसे कार्यों की पुनरावृत्ति करते हैं। साल के तीन सौ पैंसठ दिन हम एक ही रसोई में खाते, एक ही कमरे में सोते, एक ही स्नानागार और शौचालय का उपयोग करते हैं। अब यदि मान लो हम अस्सी वर्ष जीते हैं, तो यह

क्रम भी लगातार एक जैसा ही चलता रहता है। इसलिए हम इस क्रम से बाहर आने का उपाय सोचते हैं, इस उबाऊ कार्यक्रम से छुट्टी पाना चाहते हैं।

अब आपके लिये अज्ञात में साहसपूर्वक छलांग लगाने का अवसर उपस्थित हुआ है। आप यह नहीं जानते कि आपको किस मार्ग से जाना है। कोई आपको यह बताने वाला है भी नहीं। आप उस जेट हवाईजहाज की तरह खाली आसमान में उड़ रहे हैं जो कोई भी दिशा पकड़ सकता है। इसी तरह आपकी व्यक्तिगत चेतना, जो मृगमारीचिका के पीछे भागते हिरण की तरह उड़ी चली जा रही थी, अब वह भीतर की ओर मुड़ने के लिए तैयार है। संभवत: आपको इसकी जानकारी न हो। चेतना का अज्ञात दिशा में, अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़ना स्वयं में एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य है।

इस जोखिम भरे अभियान में कुछ को तो इसी जन्म में मंजिल मिल जायेगी, परन्तु अनेक लोगों को मंजिल तक पहुँचने के लिये कई बार जन्म लेना होगा। अब यदि आप अपने आध्यात्मिक जीवन तथा साहसिक अभियान से संतुष्ट न हों तो गलती आपकी है। हर व्यक्ति निर्दोष पैदा होता है। मानव रूप में जन्म लेना कोई दंड नहीं है। यह प्रगति के लिये आपको मिला एक सुअवसर है। आप इस योनि में दिव्यलोक प्राप्त कर सकते हैं। यदि आप अपने आध्यात्मिक जीवन और विकास की कार्यशैली से संतुष्ट नहीं हैं, तो त्रुटि आपके सोचने-समझने के ढंग में है। प्रगति के तरीकों में कोई त्रुटि नहीं। असंतोष मन का गुण होता है। अब यदि यह आपका स्वभाव हो तो भले ही आप अध्यात्म के क्षेत्र में कितनी ही प्रगति क्यों न कर लें, असंतुष्ट ही रहेंगे।

आध्यात्मिक प्रगति को मापना, उसका लेखा-जोखा करना कोई आसान काम नहीं है। उसे मापने का आपके पास कौन-सा मापदंड है? आप कैसे कह सकते हैं कि अमुक समय में मैं इतना आगे बढ़ा हूँ? अनेक लोग अपने सामाजिक और आध्यात्मिक विश्वासों के अनुरूप आध्यात्मिक प्रगति को आँकते हैं। याद रखिये, कोई नैतिकता, धर्म, धन, पद, बुद्धि विश्वविद्यालय की उपाधियाँ और यहाँ तक कि नोबेल पुरस्कार भी इस प्रगति का मापदंड नहीं हो सकता।

अपने आंतरिक अस्तित्व की सतत् चेतना आध्यात्मिक प्रगति कहलाती है। यह बाह्य भौतिक चेतना से भिन्न होती है। रात्रि में जब आप स्वप्न देखते हैं तो आप पूरी तरह खोये रहते हैं। उस समय आपका 'मैं' और कहीं होता है। जब स्वप्न की अवस्था में यह हालत होती है तो कल्पना कीजिये उच्च आंतरिक अनुभवों के समय आपके इस बाह्य अहम् की क्या स्थिति हो सकती है?

आज आप सबका जन्मदिन है। आप सबको यह पता लगाना है कि आपकी माँ कौन है? आज आप कर्म संन्यास में दीक्षित हुए हैं। इसके साथ ही आपके जीवन मूल्यों, कार्य और अस्तित्व में परिवर्तन आयेगा। इसका मतलब यह नहीं कि आपका दैनिक जीवन, उसके कर्त्तव्य और अन्य दिनचर्या बदल जायेगी। परन्तु जीवन और अस्तित्व के मूल्य और दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य होगा।

हमेशा स्मरण रखिये कि आपने जीवन के लिये एक विशेष उद्देश्य का आज चुनाव किया गया है। जरूरी नहीं कि आप इस लक्ष्य को शीघ्र ही पा लें, क्योंकि भूतकाल में आपको जो भी अनुभव हुए हैं उनमें भी समय लगा था। परन्तु अब आपका लक्ष्य शारीरिक, मानसिक और भावनाओं के स्तर पर उत्तरोत्तर विकास का होना चाहिए। आप जैसे भी हैं, जहाँ भी हैं, अपनी दिनचर्या में नियमित योगाभ्यास को स्थान दीजिये। इसके साथ-ही-साथ इस बात का भी ख्याल रखिये कि जीवन में घटने वाली घटनाएँ आपके मन को गलत ढंग से प्रभावित न कर पायें। अभी तो आप आध्यात्मिक दृष्टिकोण से बच्चे हैं, परन्तु जैसे-जैसे बड़े होंगे, आप देखेंगे कि बहुत-सी बातें किस तरह मन को प्रभावित करती हैं। हर घटना मन पर अपना प्रभाव छोड़ती है। अनेक लोग तो इस कारण मानसिक रोगी हो जाते हैं। परन्तु कर्म संन्यासी को इन्हें अनुभव करने का ढंग आना चाहिए। उसे हर परिस्थिति में प्रसन्न रहना चाहिए।

आज का दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आज आपके मानव शरीर में सर्वोच्च चेतना ने जन्म लिया है। जब यह सर्वोच्च चेतना मानव शरीर में जन्म लेती है तो आप उसे 'क्राइस्ट कांशसनेस' कहते हैं। आपके भीतर भी आज इस क्राइस्ट कांशसनेस का जन्म हुआ है। इसलिए मेरी ओर से आप सबको जन्मदिन की अनेक बधाइयाँ।

प्रश्नोत्तर

मेरे व्यक्तिगत उत्तरदायित्व क्या हैं? कर्म संन्यास के बाद मेरे व्यक्तित्व, इच्छाशक्ति और स्वतंत्रता का लोप हो जायेगा। मैं आपसे दीक्षा लेने के लिये उत्सुक तो हूँ, पर मुझे डर भी लगता है। बताइये मुझे क्या करना चाहिये?

कर्म संन्यास जीवन में महानता तथा उच्च स्तर को प्राप्त करने का एक तरीका है, एक दर्शन है। कर्म संन्यासी को इस उच्च उद्देश्य को समझना चाहिये।

इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि आप विवाहित हैं या कुँवारे, आपकी संतान है अथवा नहीं। परन्तु आप जीवन में जो कुछ हैं उसके महत्त्व को समझने का तरीका कर्म संन्यास के पास है। यहाँ व्यक्तित्व को समर्पित करने अथवा कुछ खोने का प्रश्न ही नहीं उठता। आप जो हैं, जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं। आपको केवल अपने आत्मबल और अहम् के उपयोग द्वारा अन्य लोगों को बेहतर ढंग से समझना है। अपने मातहतों को, मित्रों, पड़ोसियों तथा परिवार के सदस्यों को वास्तविक दृष्टि से देखना है। कहीं भी अहम् और व्यक्तित्व को गिरवी रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। बस, अच्छी समझ-बूझ के द्वारा उनका उपयोग करना सीखिये, ताकि कहीं भी आपके आस-पास कलह और बगावत का वातावरण न बने।

गुरु कभी भी शिष्य का शोषण नहीं करते, क्योंकि उनके बीच प्रेम, करुणा और कल्याण का बंधन होता है, जैसा कि माता और संतान के बीच होता है। संतान कैसे सोच सकती है कि माता उसका शोषण करेगी। माँ प्यार का प्रतीक होती है, त्याग की मूर्ति होती है। संतान के लिए उसके भीतर अकूत अच्छाई और उपकार की भावना होती है। कुछ ऐसा ही सम्बन्ध गुरु और शिष्य के बीच भी होता है।

भारत में बच्चों के हृदय में माँ के प्रति इतना सम्मान होता है कि वे पिता की अवज्ञा तक कर सकते हैं, परन्तु माता की नहीं, क्योंकि उसका प्यार, त्याग और ममता उन्हें ऐसा करने से रोकती है। माँ कभी उनसे प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रखती। उसका प्रेम और त्याग नि:स्वार्थ होता है। वह संतान की शरारतों को चुपचाप सह लेती है। इसी कारण बच्चे उसकी अवहेलना नहीं कर पाते। मुझे याद है, एक बार एक लड़का किसी लड़की से विवाह करना चाहता था। पिता उससे सहमत नहीं थे। लड़का परेशान नहीं हुआ। परन्तु जब उसकी माता ने उसे मना किया तो वह एकदम मान गया।

ठीक ऐसा ही सम्बन्ध गुरु और शिष्य के बीच विकसित होना चाहिए, क्योंकि इसका आधार कोई भौतिक लेन-देन नहीं होता। भले ही आप एक सामान्य बढ़ई, मोची अथवा देश के प्रधानमंत्री ही क्यों न हो, गुरु के लिए सब समान होते हैं। हैसियत तो भौतिक जगत् से संबंधित होती है। दीक्षा के बाद गुरु और शिष्य के बीच एक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित होता है, जिसके माध्यम से गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति और प्रेरणा शिष्य में प्रवाहित करते हैं।

इस सम्बन्ध की रूपरेखा और उद्देश्य मात्र इतना होता है कि शिष्य गुरु की ऊर्जा का सुचालक बने। इसके लिये दार्शनिक और आध्यात्मिक स्तर पर अहम् और इच्छाओं का समर्पण जरूरी है। यह समर्पण बाह्य तल पर कुछ भी नहीं होता, मैं आपसे कुछ कहता भी नहीं। मैं जिस समर्पण की बात कह रहा हूँ वह बौद्धिक स्तर पर भी संभव नहीं होता। यह तो ध्यान, भक्ति और श्रद्धा के फलस्वरूप ही संभव होता है। कभी भी बौद्धिक स्तर पर मत सोचिये कि चूँकि आप गुरु को बहुत प्यार करते हैं इसलिये आप अपने अहम् और इच्छा को उनके चरणों में समर्पित कर रहे हैं।

ऐसा सोचना गलत है। जब आपका आसन सिद्ध हो जाये, शरीर सीधा और स्थिर हो, प्राण ऊर्जा का प्रवाह निर्विघ्न हो, बाह्य चेतना का लोप होने लगे और अन्तश्चेतना आलोकित होने लगे, ध्यान गहराने लगे और बाह्य जगत् से सम्बन्ध टूटने लगे तो उस समय गुरु के समक्ष शिष्य के अहम् और इच्छा का समर्पण होता है। इसके पहले नहीं। कर्म संन्यासी से ऐसा करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

अनेक लोग धार्मिक होते हैं, मंदिर, मस्जिद और गिरजाघर में माथा झुकाकर कहते हैं, प्रभु मैं तेरा हूँ, तेरी इच्छा पूरी हो। ये सब बेकार की बातें हैं, अर्थहीन हैं, क्योंकि यह केवल शाब्दिक समर्पण है। इसके बाद जब आप घर जाते हैं, तो पत्नी से कहते हैं, तुम्हीं मेरी सब कुछ हो। सच्चा समर्पण आंतरिक होता है, फिर आप उसे क्यों नहीं चाहते? अहम् समर्पण को आप सम्मोहन अथवा मस्तिष्क की धुलाई कहते हैं। अब यदि कोई आपको धोता- माँजता है तो उससे आपका ही तो भला होगा।

मेरी राय में अहम् का सच्चा समर्पण केवल तभी संभव होता है जब आप अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं, क्योंकि इस अतिक्रमण के पश्चात् ही आप स्वयं को समर्पित कर पाते हैं। उस समय आप पूरी तरह मेरे हो जाते हैं। इस दर्शन को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है।

यदि कर्म संन्यास दीक्षा के बाद मुझे ऐसा लगे कि यह सब व्यर्थ है और यदि मैं कर्म संन्यासी न रहना चाहूँ तो मुझे क्या करना चाहिए?

कर्म संन्यास किसी धर्म को स्वीकार करना नहीं है और न ही वह किसी संप्रदाय विशेष की सदस्यता ग्रहण करने जैसा है। इसका सीधा सम्बन्ध

आपके स्वाभाविक विकास से है, दर्शन से है। कर्म संन्यास के द्वारा आपने एक विशेष मार्ग पर चलने का संकल्प लिया है। यदि आप अपनी पत्नी, पति, व्यवसाय, घर और धर्म को पसंद नहीं करते तो उनसे छुट्टी पाने का तरीका आपको मालूम रहता है, क्योंकि इन सबका सम्बन्ध भौतिक जगत् से है। आप चाहें तो गेरू वस्त्र भी उतार कर फेंक सकते हैं, क्योंकि वह मात्र बाहरी आवरण है। परन्तु अपने सुख के लिये, चेतना के विकास के लिये आपने जो दर्शन चुना है और स्वीकार किया है, उसे कैसे त्याग सकते हैं?

कर्म संन्यास आपने जीवन से पलायन के लिये तो नहीं चुना है। यदि आपने उसे इस ख्याल से ग्रहण किया है तो त्याग भी सकते हैं। परन्तु जब आप यह जानते हैं कि कर्म संन्यास द्वारा आप अपने परिवार, व्यवसाय, बच्चों, धन-सम्पत्ति आदि के साथ भावनात्मक और मानसिक स्तर पर कहीं बेहतर ढंग से पेश आयेंगे तो फिर इसे छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। कर्म संन्यास आपकी अपनी दार्शनिक आवश्यकता और खोज है। इसका उद्गम आपके भीतर से हुआ है।

फिर भी यदि आपके मन में इसे त्यागने की बात आये तो आप क्या करेंगे? यदि आप समझते हैं कि गेरू वस्त्र ही कर्म संन्यास है, तो उसे फेंक दीजिये और कोट-पतलून पहन लीजिये। यदि आप समझते हैं कि आपका आध्यात्मिक नाम ही कर्म संन्यास है तो उसे भी छोड़ दीजिये और अपने लिये कोई नया नाम चुन लीजिये। परन्तु आप स्वयं को सोचने के ढंग से, आंतरिक प्रक्रियाओं के ढंग से, जो आपको कर्म संन्यास द्वारा मिला है, कैसे अलग कर सकेंगे? आप कर्म संन्यास के परे छलांग भर सकते हैं, परन्तु उससे पीछे नहीं हट सकते। भले ही आप कहें, मैं आज से कर्म संन्यासी नहीं रहा। समाचारपत्रों में यह घोषणा करता हूँ कि मैं आज की तारीख से कर्म संन्यासी नहीं रहा और आज से मुझे अमुक नये नाम से पुकारा जायेगा। आप इतना कर सकते हैं, यदि समझते हैं कि इससे आपने कर्म संन्यास त्याग दिया। परन्तु एक बार जब आपके भीतर आध्यात्म का बीज बो दिया गया, जीवन को सुधरे ढंग से समझने और स्वीकार करने का ढंग बता दिया गया तो मैं नहीं समझता कि आप उन सबको कैसे छोड़ेंगे। हो सकता है, एक पागल के लिये यह संभव हो।

तीन सूत्र

जिस दिन आप कर्म संन्यास दीक्षा लेते हैं वह आपके जीवन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण दिन होता है, क्योंकि इस दिन आप अपनी चेतना में बड़ा शक्तिशाली बीज बोते हैं, जो निश्चय ही एक दिन विशाल वृक्ष बनेगा और आपके बाह्याभ्यान्तर जीवन को आलोकित करेगा।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन से, घटनाओं, व्यक्तियों तथा स्थानों से किसी-न-किसी रूप में जुड़ा रहता है। इसलिये जीवन में जिस किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु से आपका संपर्क होता है, आगे चलकर वह आपके किसी-न-किसी उपयोग में आता है। जो कुछ भी आप आज देखते हैं, हो सकता है वह आपके आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में रोड़ा डालें। जैसे सुख-दु:ख, उदासी, असंतोष, मानसिक समस्यायें और अवांछित लोग आपकी आंतरिक प्रगति में बाधक लगते हैं, परन्तु जैसे ही आप कर्म संन्यासी बनते हैं कुछ भी बाधक नहीं रह जाता।

यह पहला सिद्धान्त है। हर अनुभव आपके आध्यात्मिक जीवन को निखारता है। इसे कर्म संन्यास का पहला नियम कहेंगे। आप कुछ बातों को सांसारिक एवं कुछ को आध्यात्मिक कहते हैं, परन्तु इस विभाजन को मिटा दीजिये, क्योंकि एक संन्यासी के लिये सबका सब आध्यात्मिक जीवन में साधक होता है, बाधक नहीं। यदि ध्यान आध्यात्मिक जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक है तो दु:खमय अवांछित घटना भी सहायक हो सकती है, क्योंकि वह आपकी चेतना को झकझोर देती है। कोई सुखद घटना चेतना को उतना प्रभावित नहीं करती जितना दु:खद घटना करती है, क्योंकि यदि कोई आपको कसकर ठोकर मारे तो आप उसे कभी नहीं भूलते। यदि कोई आपसे घृणा करे तो आप उसे हमेशा याद रखते हैं। परंतु यदि प्रेम करे तो आप उसे भूल जाते हैं।

शायद आपको पता नहीं है कि ऐसी बहुत-सी बातें आपके जीवन को कहीं बेहतर ढंग से प्रभावित करती हैं, क्योंकि वे आपकी चेतना को जगाती है। उदाहरण के लिये, यदि आप सड़क के किनारे सोये हैं और यदि कोई घोड़ा पास से निकल जाये तो आप उसे केवल देखते हैं, उठते नहीं। परन्तु यदि विषधर साँप आ जाये तो आप उछलकर खड़े हो जायेंगे, क्योंकि साँप आपकी चेतना को जगाता है। जीवन का वह पक्ष जिसके आप अभ्यस्त नहीं हैं तथा जिसे पसंद नहीं करते, आपके आध्यात्मिक जीवन का अनिवार्य अंग होता है। उसे टालने की कोशिश मत कीजिये।

जब भी कोई गंभीर दुःखद स्थिति आये, बीमार पड़ें, कोई आपको भला-बुरा कहे, अपमानित करे तो ऐसे समय अपनी चेतना को निहारिये, उसके जागरण को देखिये और इस अवसर का उपयोग ध्यान में छलांग लगाने के लिये कीजिये। स्मरण रखिये, कर्म संन्यास में पहली महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हर अनुभव आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध करता है। अपने भीतर वस्तुओं को दो श्रेणियों में विभक्त मत कीजिये। सांसारिक बातों की उपेक्षा और आध्यात्मिक बातों की स्वीकृति कर्म संन्यास के नियमानुकूल नहीं है।

जीवन की समूची प्रक्रिया बाहरी और आंतरिक होती है। आंतरिक का तात्पर्य मानसिक और भावनात्मक स्तरों पर घटित घटनाओं से होता है। बाह्य बातों के अन्तर्गत सामाजिक, भौतिक और आर्थिक पक्ष आते हैं। हर प्रकार की घटना को विकास की प्रक्रिया का अंग मानिये। यदि आप अपने भूतकालीन जीवन पर दृष्टि डालें, तो देखेंगे कि आपके आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा भूतकाल की उन घटनाओं के समग्र प्रभाव स्वरूप है, जिससे आप गुजरे हैं। यह उन घटनाओं की चरम परिणति है। यह आध्यात्मिकता कहीं बाहर से नहीं आई है।

आज आपमें कर्म संन्यास द्वारा आध्यात्मिक जीवन की खोज की प्यास जागी है। यह प्रेरणा एकाएक आकाश से नहीं टपकी। यह आपके अभी तक के जीवन का सार है। यह आपकी अपनी समग्रता की निष्पत्ति है। इसलिये यह कोई इत्तफाक नहीं है कि आज आप आध्यात्मिक जीवन में कदम रख रहे हैं।

कर्म संन्यास के दूसरे नियम का सम्बन्ध साधना से है। प्रत्येक को कुछ-न-कुछ साधना दी जाती है, जैसे – आसन, प्राणायाम, हठ, राज तथा भक्तियोग आदि। यह सब ठीक है। आप इनसे साधना प्रारंभ कर सकते हैं। परन्तु कम-से-कम कुछ वर्षों तक साधना में नियमितता बनाये रखना कठिन होता है, शुरू

करना आसान है, परन्तु उसमें नियमित रहना कठिन है। इसी में सफलता का रहस्य छुपा है।

कर्म संन्यासी के जीवन में साधना के परिणाम का नहीं, नियमित रहने का महत्त्व है। भले ही आप प्रतिदिन निश्चिय समय पर बहुत साधना न कर पायें, परन्तु कम-से-कम अवश्य कीजिये। किसी भी कीमत पर उसमें व्यतिक्रम न आने दीजिये। हो सकता है आपकी मन:स्थिति स्वस्थ न हो, आप अत्यधिक व्यस्त हों, आपकी उसमें रुचि न हो अथवा श्रद्धा की कमी हो, अपना नियमित कोटा अवश्य पूरा कीजिये। यह कठिन तो नहीं है। कहीं भी और कभी भी, यहाँ तक कि ट्रेन अथवा हवाईजहाज में भी आप इसे कर सकते हैं। मेरी राय में मंत्र जप इनमें सबसे सहज है, क्योंकि उसके लिये एकाग्रता जरूरी नहीं होती। यदि आपने मंत्र जप के लिये दस मिनट का समय निर्धारित किया है तो उसे अवश्य कीजिये।

जब मैंने अपने गुरु से मंत्र दीक्षा ली थी तो उन्होंने मुझसे कहा था, "प्रतिदिन बिना नागा पाँच माला जप किया करो।" मैं आज भी उनकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। मेरे जीवन में दीक्षा के बाद ऐसा समय भी आया जब मैंने अपने जीवन दर्शन को पूरी तरह बदल दिया, नास्तिक हो गया। ईश्वर पर से मेरी श्रद्धा उठ गई, फिर भी मैंने जप नहीं छोड़ा। इसलिये नहीं कि जप में मेरा विश्वास था, बल्कि इसलिये कि मैंने गुरु को वचन दिया था।

इस प्रकार कर्म संन्यास का दूसरा नियम साधना में नियमित रहना है। कम-से-कम दो-तीन वर्षों तक इस नियम का पालन कीजिये। इसके बाद आप अन्य साधना, जैसे क्रियायोग प्रारंभ कर सकते हैं। साधना में नियमित होने में समय लगता है। दो-तीन वर्षों बाद ही आप दावे के साथ कह सकते हैं कि आपमें नियमितता आ गई है और अब आप दो-तीन घंटे साधना कर सकते हैं।

अनासक्ति कर्म संन्यास का तीसरा नियम है। आप देखते हैं कि किस प्रकार कमल का पत्ता पानी में रहने पर भी गीला नहीं होता। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि वह पानी में पैदा होता है, पानी में रहता है और पानी से ही पोषण प्राप्त करता है। जल के बिना उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। कर्म संन्यासी भी संसार में पैदा होता है, संसार में जीता है। संसार के बाहर कर्म संन्यासी की कल्पना व्यर्थ है, फिर भी वह संसार का नहीं होता। कोई भी सांसारिक बात उसके मन को आहत नहीं करती। लोग आते हैं, जाते हैं, आप दर्शन की भाँति उन्हें देखते रहते हैं। घटनायें आपको छूती हैं, परंतु आप उनसे अप्रभावित रहते हैं।

यह एक दो दिनों के अभ्यास से नहीं होता। इस मानसिकता के विकास में समय लगता है। यह कठिन तो है, पर इसे आज ही प्रारंभ कर सकते हैं। मैं इसे वैराग्य कहने की अपेक्षा 'दार्शनिक अनासक्ति' कहना पसंद करूँगा। इसका मतलब यह नहीं कि आप कहने लगें, "मैं तुमसे अलग हूँ, मेरा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।" आप सबसे संबंधित हैं, किसी के माता-पिता, भाई-बहन, बेटे-बेटी हैं। परन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जो आपके मानसिक ढाँचे को कभी-कभी तहस-नहस कर देती हैं। कर्म संन्यासी को इससे सावधान रहने की आवश्यकता है, क्योंकि क्षत-विक्षत मन को लेकर आप भीतर की यात्रा कैसे करेंगे?

जब भी आप साधना के लिये बैठें, अपने मन का ख्याल रखें। गेरू धोती और माला अवश्य धारण करें। अन्यत्र जहाँ भी सामान्य पोशाक जरूरी न हो, हमारी तरह गेरू वस्त्र पहन लें। याद रखिये, गेरू केवल रंग नहीं है, जहाँ भी लोग आध्यात्मिक साधना करते हैं, कुंडलिनी योग, जपयोग, मंत्र अथवा क्रियायोग की साधना करते हैं, वे अपने भीतर अतिरिक्त ऊर्जा को जगाते हैं, जिसका संतुलन बड़ा जरूरी होता है। माला और गेरू वस्त्र को कर्म संन्यास की मात्र औपचारिकता समझने की भूल न करें।

मान लीजिये, बिजली का वोल्टेज किसी स्थान पर 240 वोल्ट है। अगर आप बिजली के खंभे के पास जायें और उसके अर्थिंग के तार को ढीला कर दें तो वोल्टेज घट जायेगा। इसे ऊर्जा के स्तर को समायोजित करना कहते हैं। इसी प्रकार आप में भी ऊर्जा के भिन्न स्तर होते हैं। योगाभ्यास द्वारा यह ऊर्जा बढ़ती और तीव्र होती है। इस बढ़ी ऊर्जा की अभिव्यक्ति अन्तर्दृष्टि, अन्त: श्रवण, उदासी, कामुकता तथा अन्य अनेक रूपों में होती है। इस ऊर्जा को नियंत्रण में रखना आवश्यक है, इसलिये माला और गेरू वस्त्र धारण करने की सलाह दी जाती है।

प्रश्नोत्तर

मैं विवाहित हूँ तथा मेरा परिवार है। क्या मैं कर्म संन्यास ले सकता हूँ?

पारिवारिक जीवन आध्यात्मिक जीवन में कूदने का आधार है। मान लो, किसी कक्षा में तीस विद्यार्थी हैं जो परिश्रमी हैं। वे प्रथम श्रेणी में पास होते हैं।

औसत विद्यार्थियों को द्वितीय श्रेणी मिलती है। परन्तु कुछ विद्यार्थी न तो कुछ पढ़ते हैं और न ही जो कुछ पढ़ते हैं उसे समझ पाते हैं, इसीलिए वे विफल रहते हैं। इसी प्रकार कुछ गृहस्थ समझदार और निष्ठावान् होते हैं। वे समझते हैं कि यह जीवन आध्यात्मिक जीवन में छलांग लगाने के लिये एक मंच की तरह है। इसलिये उन्हें इसका अधिकतम उपयोग करना चाहिए, परन्तु उन्हें इसकी विधि का पता नहीं होता। वह गृहस्थ जीवन को आध्यात्मिक विकास का माध्यम मानते हैं, किन्तु यह तय नहीं कर पाते कि उन्हें क्या करना चाहिये। कर्म संन्यास का प्रयोजन ऐसे ही लोगों के लिये है।

कर्म संन्यास का अर्थ कर्म के फल अथवा परिणाम का त्याग होता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि जो भी कार्य किया जाये उससे अहम् तथा कर्त्तापन के भाव को दूर रखा जाये। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कर्म को ही त्याग दिया जाये अथवा जीवन के साथ अपने सम्बन्धों को भंग कर लिया जाये। कर्म संन्यासी पत्नी, बच्चे और परिवार वाला हो सकता है। इनके साथ एक सीमा तक लगाव आवश्यक होता है। परिवार की देखभाल, व्यवसाय, उद्योग आदि सब एक-दूसरे से किसी-न-किसी रूप में जुड़े होते हैं, परन्तु कुछ लोगों में इन सबके प्रति गहरा भावनात्मक लगाव होता है, जो स्वाभाविक तो लगता है, परन्तु उसके बिना भी जीवन कहीं अच्छी तरह चल सकता है। यहाँ मैं अपने कार्यों में अहम् की अनावश्यक उपस्थिति की ओर संकेत कर रहा हूँ। यह अहम् हमारे रोजमर्रा के कार्यों और जीवन की घटनाओं से जुड़ा होता है। परन्तु यह सब कुछ अभ्यास पर निर्भर रहता है।

जीवन के वे कौन-से कार्य हैं जिनके साथ आपको लगाव रखना चाहिए, और कौन-से कार्य हैं, जिनसे आपको किसी प्रकार का लगाव अथवा ममत्व नहीं रखना चाहिये। बस, यही कर्म संन्यासी की साधना होनी चाहिए। हम बहुधा लोगों को यह कहते सुनते हैं कि बिना किसी लगाव के कार्य करो। परन्तु यह सुनने में जितना सरल लगता है, समझने में उससे कहीं अधिक कठिन होता है। परन्तु यह बात अधूरी-सी लगती है। यदि मैं आपसे कहूँ कि वैराग्यपूर्वक रहो, तो इसका क्या तात्पर्य होगा? कहाँ तक स्वयं को उनसे दूर रखें? कर्म संन्यासी को इस विभाजक रेखा का ज्ञान होना चाहिए।

कर्म संन्यास में दीक्षा आपको जीवन से संबंधित किसी भी बात अथवा कार्य से नहीं रोकती, भले ही वह पारिवारिक दायित्व, विवाह, संतानोत्पत्ति, धन-सम्पत्ति, इच्छा, वासना, महत्त्वाकांक्षा, सुख-दुःख, भली-बुरी आदतें,

व्यवहार अथवा जीवन की कोई त्रासदी ही क्यों न हो, यह सब तो जीवन के साथ लगे ही रहते हैं। चेतना का यह हिस्सा ऐसा होता है जिस पर आपके कार्यों तथा विचारों का प्रभाव पड़ता है। आप जो कुछ सोचते हैं अथवा आपके साथ जो भी घटनाएँ घटती हैं, उनका प्रभाव सुख-दु:ख के रूप में आप पर पड़ता है। कर्म संन्यासी को यह सीखना होता है कि कैसे वह स्वयं को इन प्रभावों से मुक्त रखे।

यदि मेरे परिवार के लोग तथा मित्र मेरे कर्म संन्यास की आलोचना करें तो मुझे क्या करना चाहिए?

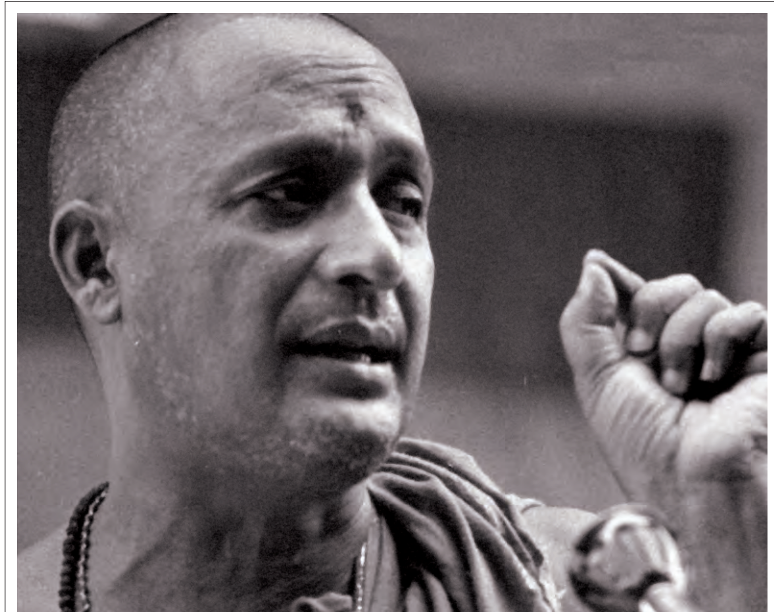
यदि कोई आपकी आलोचना करे, आपको चोट पहुँचाये अथवा परेशान करे तो आपको अपने बचाव के लिए कुछ भी नहीं करना है, बल्कि स्वयं को चेतना के विकास द्वारा इन बातों का सामना करने के लिये तैयार करना चाहिए। विकसित चेतना द्वारा आप बहादुर तथा साहसी बनेंगे, जीवन के हर अनुभव में आपको अर्थ दिखेगा, आपमें उसकी समझ गहराएगी। नहीं तो क्या होगा? सांसारिक लोग हर छोटी-बड़ी बात से व्यथित होते हैं। यदि वे सड़क पर चले जा रहे हैं और यदि कोई थोड़ी देर तक उनकी ओर देखता रहे तो वे न केवल परेशान होते हैं, बल्कि कभी-कभी सारा दिन और सारी रात उसके बारे में सोचते और परेशान होते रहते हैं। कर्म संन्यासी को स्वयं से, अपनी समस्याओं से, आस-पास के वातावरण से, भूत, भविष्य तथा वर्तमान से जूझने के लिए चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करना होता है। चेतना इन बातों से न तो दूषित होती है और न ही प्रभावित। वह जल में कमल के पत्ते की तरह होती है।

प्रश्न – मेरा जीवन बड़ा सक्रिय तथा व्यस्त है। कर्म संन्यास का इस पर क्या प्रभाव होगा?

उत्तर – कर्म संन्यास दीक्षा के बाद आप कहीं अधिक गतिशील सक्रिय जीवन में प्रविष्ट होते हैं। कर्म संन्यास के बाद जीवन की अभिव्यक्ति बड़ी प्रभावशाली होती है। आपका हर कार्य ठीक-ठाक और प्रभावोत्पादक होता है। आपके विचार सटीक और वजनदार होते हैं। परन्तु आपके कार्यक्षेत्र, दैनिक कार्य, परस्पर सम्बन्ध, घटनाएँ और व्यक्तित्व, किसी में भी किंचित् व्यतिक्रम नहीं होता। जो भी परिवर्तन होता है वह आंतरिक होता है तथा उसका सम्बन्ध आपके जीवन पर कर्मों के पड़ने वाले प्रभाव से होता है। जीवन का

आपके मन पर कुछ प्रभाव छूटता है, जिसे आपको समाप्त करना होता है। यह आंतरिक प्रक्रिया है।

कर्म संन्यासी के रूप में आपको अधिक-से-अधिक कार्य करना और कुछ पाना होता है। आप जितना अधिक काम करेंगे, बेहतर कर्म संन्यासी होंगे। परन्तु आपको हमेशा यह याद रखना होगा कि कर्म का फल आपको जरा भी प्रभावित न कर पाये। स्वयं को इससे अछूता रखिये, बेदाग रखिये। लोगों से आपका अपनत्व, आपके कर्त्तव्य, जिम्मेदारियाँ और परस्पर आदान-प्रदान कभी सुखद तो कभी दु:खद होते हैं। इनसे मन कभी-कभी बड़ा बेचैन हो जाता है, कभी तो यह बेचैनी बहुत देर तक बनी रहती है। आपको स्वयं इसका हल खोजना होगा। आप श्रमिक, किसान, व्यवसायी, गृहिणी, परिवार के प्रमुख, जो भी हैं, वैसे ही रहेंगे, जैसे कर्म संन्यास के पूर्व थे। आपकी हैसियत में कोई फेर-बदल नहीं होगा। इन सबके साथ-साथ आपका सक्रिय जीवन यथावत् चलते रहना चाहिए। यही कर्म संन्यास का रहस्य तथा अर्थ है।



आंतरिक आवरण

कर्म संन्यास में दीक्षा तो मात्र शुरुआत है। यद्यपि आपमें से अधिकतर लोग अपने दैनिक जीवन में योगाभ्यास करते और आध्यात्मिक जीवन बिताते हैं, तथापि इस दिनचर्या में और भी कुछ जोड़ा जाना चाहिए। आंतरिक जीवन, जो मन और बुद्धि के परे होता है, उसका भी विकास होना चाहिए। कर्म संन्यास दीक्षा का सम्बन्ध आपके अस्तित्व से भी होता है। आपका बाहरी मन, बुद्धि, स्मृति, समझ, तर्कशक्ति आदि सबके सब प्रवचनों, पुस्तकों तथा धर्म आदि द्वारा प्रभावित किये जा सकते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त आपके अस्तित्व का एक अंग ऐसा भी होता है जो इन बातों से जरा भी प्रभावित नहीं होता, वहाँ तक धर्म ग्रंथ अथवा धर्मोपदेशों की कोई पहुँच नहीं होती। आपको जीवन में जो भी अनुभव होते हैं, उनकी अच्छी तरह छानबीन की जाती है तथा उन्हें बीज रूप में रूपांतरित किया जाता है। इसके पश्चात् वे आपके व्यक्तित्व के एक खास क्षेत्र में स्थानांतरित हो जाते हैं। जिस प्रकार एक बीज से वृक्ष बनता, फूल और फल लगते हैं तथा पुनः बीज जमीन में झड़ जाते हैं। उसी प्रकार हमारे अनुभव तथा संस्कार बीजरूप में व्यक्तित्व के भीतर किन्हीं खास क्षेत्रों में स्थापित होते रहते हैं।

व्यक्तित्व का यह आंतरिक क्षेत्र बड़ा सुरक्षित होता है, वह चारों ओर से तीन तहों द्वारा घिरा होता है। इनमें से प्रथम आवरण अथवा तह को स्थूल शरीर या स्थूल चेतना कहते हैं। दूसरा प्राणचेतना या प्राण शरीर तथा तीसरे को मन या मनोशरीर कहते हैं। इन्हीं तीन आवरणों द्वारा आपका अन्त:शरीर पूरी तरह आवृत्त तथा सुरक्षित होता है। व्यक्तित्व के इसी भाग को प्रभावित करने की आवश्यकता होती है। कर्म संन्यास का सम्बन्ध व्यक्तित्व के इसी आन्तरिक क्षेत्र पर प्रभाव से होता है।

भले ही आप एक बढ़िया व्यक्ति बन जायें, अपनी बुरी आदतें छोड़ दें, धार्मिक बन जायें, करुणा, उदारता आपका स्वभाव बन जाये, परन्तु इससे आपकी आंतरिक चेतना जरा भी प्रभावित नहीं होती। आपके धार्मिक हो जाने से वह धार्मिक नहीं होती। हालाँकि ये सद्‌गुण बड़े अच्छे और वांछनीय होते हैं, परन्तु इनकी सीमा समाज और जगत् तक ही रहती है। इनका सम्बन्ध आपके दैनिक जीवन से होता है। अब ये गुण भले ही आपकी आंतरिक चेतना को प्रभावित न करें, आपको इन्हें धारण करना होता है, क्योंकि आप संसार में रहते तथा अनेक व्यक्तियों से संबंधित होते हैं।

मुझे आध्यात्मिक जीवन की झलक उस समय मिली जब मैं मात्र छः वर्ष का था। उस समय मुझे जिस व्यवधान का पता चला और जिसका मुझे विगत पचपन वर्षों से पता चल रहा है, वह है मन और आत्मा के बीच एक मजबूत दीवाल, जो इन्हें पृथक् रखती है। इस दीवाल के उस पार दिव्यलोक, समग्र चेतना, अनन्तता तथा अमरत्व का क्षेत्र होता है। अब आपके और इस अनंत चेतना के अनुभव के बीच कोई दूरी नहीं होती, सिवाय इस दीवाल के। परन्तु आप वहाँ तक नहीं पहुँच पाते।

आप ग्रंथों, परम्पराओं, साधु-महात्माओं, गुरुजनों तथा स्वतः की प्रेरणा से भली-भाँति जानते हैं कि आध्यात्मिक अनुभव कैसे होने चाहिये, फिर भी आप इन्हें सम्हाल नहीं पाते। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह हमेशा याद रखिये कि ज्ञान कभी भी आपकी व्यक्तिगत जानकारी नहीं होता। अनुभव का तात्पर्य, अनुभव की वस्तु की तरह हो जाना होता है। ज्ञान में हमेशा द्वैत होता है–पहला जानने वाला और दूसरा ज्ञान का विषय। आप ज्ञाता होते हैं और दूसरी ज्ञान की वस्तु अथवा उसकी प्रक्रिया होती है।

ज्ञान ईश्वर, समाधि, कैवल्य, शून्य आदि के विषय में जानकारियों का समुच्चय होता है। उसमें द्वैत होता है। परन्तु अनुभव में द्वैत नहीं पाया जाता, क्योंकि वहाँ अनुभव एवं अनुभवकर्त्ता पूरी तरह एक हो जाते हैं, जैसे जल और नमक जलीय हो जाता है। यहाँ दोनों की पृथकता पूरी तरह समाप्त हो जाती है। दोनों एक-दूसरे के गुण और स्वभाव ग्रहण कर लेते हैं। यह जल और तेल जैसा नहीं होता, क्योंकि मिलाने पर भी दोनों पृथक् रहते हैं। इनका द्वैत समाप्त ही नहीं होता, क्योंकि जल और तेल के गुण, धर्म और स्वभाव भिन्न होते हैं, परन्तु अनुभव और अनुभवकर्त्ता के स्वभाव और गुणों में साम्य होता है।

अब अनुभव और अनुभवकर्त्ता को पृथक् करने वाले लौह आवरण को दूर करना आवश्यक होता है। मानवता के प्रारंभिक काल से हर युग और काल में उन उपादानों की खोज होती रही है जो इस मजबूत आवरण को हटाने में सहायक हो सकते हैं। इस शृंखला में एल.एस.डी., हशीश और गाँजे तक अनगिनत मादक द्रव्यों की खोज भी शामिल हैं। हम इन खोजों के इस सीमान्त बिन्दु तक पहुँच चुके हैं कि इनके प्रभावों की कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जैसे, श्मशान में सारी-सारी रात शव पर बैठकर प्राणायाम करना, गैलनों शराब पी जाना, वामाचार तथा घंटों शांभवी मुद्रा का अभ्यास आदि-आदि। कुछ लोग तो इन क्रियाओं में कुछ सीमा तक सफल भी हुए हैं, परन्तु अधिकतर विफल ही होते हैं। कई लोगों ने तो प्राणों से हाथ भी धो लिये, परन्तु अनुभव और अनुभवकर्त्ता के बीच की इस मजबूत दीवाल को धराशायी नहीं कर पाये।

ऐसी बात नहीं कि इस दिशा में उनके सभी प्रयास घातक थे। इनमें कुछ ने जो उपाय किये वे लाभकारी भी थे। भारत में विशेष रूप से हिन्दुओं में यह मान्यता है कि हर अच्छी-बुरी वस्तु जीवन में आध्यात्मिक विकास की उपादान बन सकती है। इन उपादानों के अंतर्गत इष्ट पूजन, गुरुपूजन, मंत्र तथा कर्म संन्यास दीक्षा आदि आते हैं। परन्तु ये सबके सब मात्र उपाय कहे जाते हैं, जिन्हें साध्य नहीं साधन कहते हैं। मैं आपके समक्ष इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

जो बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह है भीतरी परिवर्तन की, रूपांतरण की। अब प्रश्न यह उठता है कि कर्म संन्यास की क्या आवश्यकता है। प्रश्न जायज भी है। अब यदि आप ध्यान कर सकते हैं, मन को अंतर्मुखी कर सकते हैं तो फिर इस यौगिक पोशाक की आवश्यकता ही क्या है। कर्म संन्यास के पचड़े में क्यों फँसे? बात यह है कि अनेक बातें तर्क के परे होती हैं। यह बात हर युग, देश तथा काल में सही रही है। हो सकता है, कर्म संन्यास तर्क की कसौटियों पर न टिक पाये। परन्तु यह अकाट्य है कि कर्म संन्यास के संस्कार आपके भीतर इतनी गहराई तक पहुँचते हैं कि वे इस विभाजन दीवाल को भंग कर सकते हैं। एक बार यदि आप दीवाल को गिराने में कामयाब हो जायें तो उसके बाद कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि अनुभव को अनुभव करने की प्रक्रिया प्रयत्न साध्य प्रक्रिया नहीं होती, वह तो मात्र एक सहजानुभूति होती है।

मान लीजिये, मैं पागल होकर सब कुछ भूल बैठता हूँ। हालाँकि मेरा नाम स्वामी सत्यानन्द है, परन्तु मैं बार-बार कहता हूँ कि मेरा नाम यह नहीं है, वह है। अब बताइये आप किस प्रकार मुझे यह अनुभव कराएँगे कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह नहीं, बल्कि स्वामी सत्यानन्द हूँ। अब उपचार अथवा किन्हीं अन्य युक्तियों द्वारा यदि मेरा दिमाग ठीक कर दिया जाये, चेतना वापस आ जाये तो मैं जान जाऊँगा कि मैं स्वामी सत्यानन्द था, और अब भी हूँ। यथार्थ चेतना के अन्वेषण की प्रक्रिया घटित होनी बहुत जरूरी है और इसकी निरापद युक्ति कर्म संन्यास के पास है। कर्म संन्यास के साथ आप मंत्र तथा योग की अन्यान्य क्रियाओं का अभ्यास जारी रख सकते हैं।

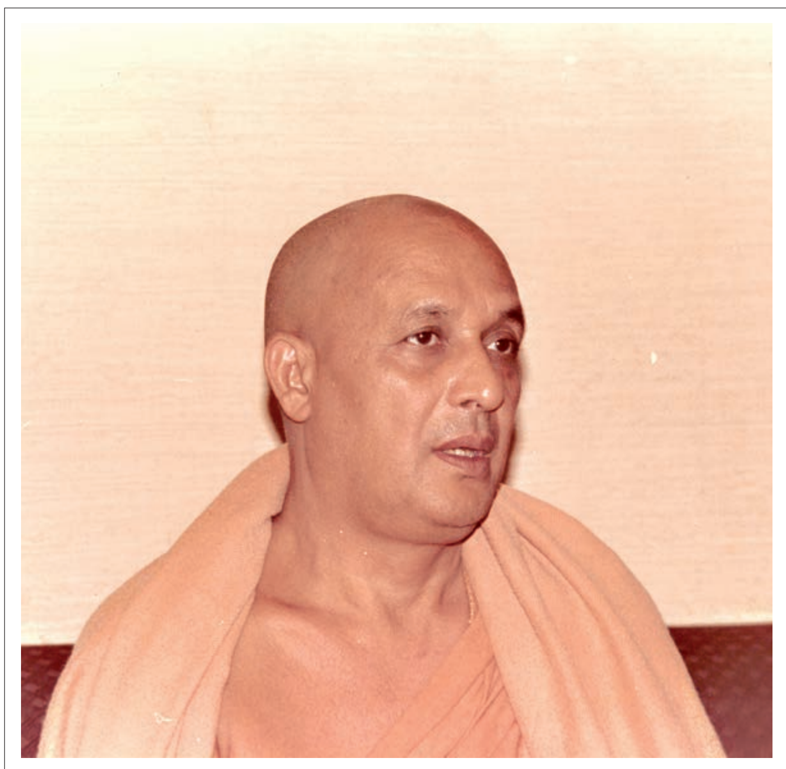
मैं आपको यह बताना चाहूँगा कि कर्म संन्यास की भूमिका स्वीकार कर आप अपने एक महान् उत्तरदायित्व की पूर्ति के क्षण के निकट पहुँच गये हैं। आपकी पारिवारिक तथा सामाजिक जिम्मेदारियों का आपके जीवन में अहम् स्थान होता है। इनसे वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता नहीं। वैराग्य जैसी चीज नहीं होती, क्योंकि हममें से अधिकतर उसका आशय ही नहीं समझ पाते। योग में वैराग्य को वर्तमान तथा भूतकाल की उन घटनाओं के प्रभावों से मुक्ति कहते हैं जिन्हें आप जानते हैं, जिन्हें देखा, सुना तथा भोगा है।

जब सुरक्षा कवच के रूप में वैराग्य विकसित होता है तो उसे विधायक गुणों की श्रेणी में नहीं रख सकते। इसके विपरीत तो आसक्ति, ममत्व अथवा राग ही बेहतर होगा, क्योंकि उसमें कोमलता, मानवीयता आदि पायी जाती है। हम इन गुणों की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि आपको परिवार, मित्रों, पास-पड़ोस के लोगों के साथ इन्हीं गुणों के आधार पर बर्ताव करना होता है। लोगों में यह घोषणा करने की भूल कतई न करें कि चूँकि आज से आपने कर्म संन्यास ले लिया है, आपका किसी के साथ कोई वास्ता नहीं रहा। लोग आपका उपहास कर व्यंग्यपूर्वक कहेंगे, देखो! देखो! वैराग्य की डींग हाँक रहा है।

चूँकि कर्म संन्यासी को संसार में ही निर्वाह करना होता है, वह कहीं अधिक कारगर ढंग से अपने कार्यकलापों में अपनी भूमिका निभाता है। यदि आप विवाहित हैं तो पत्नी तथा बच्चों की देखभाल और बेहतर ढंग से कीजिये। अपनी नौकरी अथवा व्यवसाय में अधिक लगन के साथ जुटिये। यदि आप अधिक सोते हैं तो निद्रा के घंटों को कम कीजिये। यदि आप असावधानीपूर्वक जल्दी-जल्दी खाते हैं तो इस आदत में सुधार कीजिये और यदि परिवार वालों को लेकर आपके सामने ढेर सारी समस्याएँ और कठिनाइयाँ हैं तो उनकी

संख्या घटाने का प्रयत्न कीजिये। यदि अभी तक के पारिवारिक जीवन से आप हताश-निराश रहे हैं तो इस परिस्थिति को बदलिये। आप जहाँ हैं, जैसे हैं, जिन लोगों के बीच रहते हैं उन सबसे अधिकतम सुख और संतोष हासिल करने की दिशा में प्रयत्नशील होइये।

आपके आस-पास जो भी लोग तथा वस्तुएँ हो उनके साथ एकता, सहानुभूति तथा सहृदयता बढ़ाइये। यदि आप सर्वोच्च सत्ता के साथ एकता कायम करने के इच्छुक हैं तो सबसे पहले अपने आस-पास के लोगों, वस्तुओं तथा वातावरण के साथ एकता स्थापित कीजिये। पहले उन्हें प्रसन्न कीजिये, उनका हृदय जीतिये, उनकी मदद कीजिये, उन्हें समझिये तब वे भी आपकी मदद करेंगे, आपको समझेंगे। इसे ही एकता कहते हैं। जब भीतरी आवरण हटेगा, परदा उठेगा, तो अपने आप किसी भी समय आपको उच्च अनुभव होंगे। आप निहाल हो जायेंगे।



ऋषियों की प्राचीन परम्परा

यदि स्वर्ग के द्वार केवल पवित्रात्माओं के लिये खुले होते तो मैं सोचता हूँ ईश्वर को बड़ी निराशा होती। फिर तो उसे पवित्रात्माओं के आगमन की मात्र अंतहीन प्रतीक्षा ही करनी होती। चूँकि मनुष्य अपूर्ण और अधूरा है, कमजोरियों और ढुलमुल इच्छाशक्ति वाला है, महान् एवं पवित्र आत्माएँ कभी-कभार ही स्वर्ग में प्रविष्ट होतीं। इसके विपरीत यदि नरक के दरवाजे हीन कर्मों वाली पापात्माओं के लिये ही खुले होते तो वहाँ इतनी ठेलमठेल होती कि रत्तीभर भी जगह खाली न रह पाती, जनसंख्या विस्फोट जैसी स्थिति हो जाती। यह मजाक नहीं, बल्कि बड़ा गंभीर विषय है, जो हमेशा मेरे मन-मस्तिष्क पर छाया रहता है। मेरी पाप में आस्था नहीं है और न ही मैं यह मानने के लिये तैयार हूँ कि मनुष्य पापी होता है। हाँ, हमारे मार्ग में अवरोध आते हैं, हम लड़खड़ाते, गिरते तथा फिर उठ खड़े होते हैं। हम चूक और प्रयत्न द्वारा विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

हर एक को यह जानना बड़ा जरूरी है कि आध्यात्मिक आलोक सब के लिये है। वह मात्र कुछ लोगों की बपौती नहीं होता। यह भी कि आध्यात्मिक विकास और समाधि सबके लिये होते हैं, जो भी अभ्यास करे, उन्हें हासिल कर सकता है। यही उपलब्धि तो हमारे जन्म का प्रयोजन है। मुझे तो अपने जन्म लेने का कोई और कारण नजर नहीं आता।

कभी-कभी तो हम इतने आत्मसंतुष्ट होते हैं कि आगे प्रयत्न और प्रगति की आवश्यकता ही नहीं समझते। जब कभी हम किसी धर्म के मार्ग पर चलते हैं तो बड़े लापरवाह हो जाते हैं। एक हिन्दू जब हिन्दू धर्म के कर्मकांडों को करता है तो वह बस इतने को ही सब कुछ मान संतुष्ट हो जाता है। यह बात सभी पर लागू होती है। हम यह मान लेते हैं कि किसी धर्म विशेष को स्वीकार

कर हमें अपना लक्ष्य मिल जाता है। यह गलत है। किसी धर्म की सदस्यता स्वयं में कभी भी आपकी मंजिल नहीं हो सकती। हमें इस समूचे दृश्य को दैनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। हम क्यों पैदा हुए हैं? क्यों बढ़ते हैं? शादी क्यों करते और संतान क्यों उत्पन्न करते हैं?

भारत में एक प्राचीन परम्परा थी, जिसका पालन घने वनों में सपत्निक रहने वाले साधनारत साधु-संन्यासी करते थे। इसे ऋषि-परम्परा के नाम से जाना जाता था। इसका उद्देश्य गृहस्थों की जीवनशैली को नई दिशा तथा उद्देश्य प्रदान करना होता था, क्योंकि वे प्राय: जीवन का उद्देश्य ही भूल जाते थे। जीवन में इच्छाएँ-वासनाएँ रखना, मौज-मस्ती का आनन्द लूटना बुरा नहीं है। परन्तु यदि हम लक्ष्यच्युत हो जायें तो इस सबका कोई अर्थ नहीं रह जाता, सब अर्थहीन हो जाता है। गृहस्थों को सतत् लक्ष्य का स्मरण कराने तथा सही मार्ग पर चलाने के उद्देश्य से ही हजारों वर्ष पूर्व इस ऋषि-परम्परा की स्थापना की गई थी। इसे ऋषियों की तांत्रिक संन्यासी परम्परा के नाम से जाना जाता है।

आज संन्यास की अवधारणा को पुन: परिभाषित करने की आवश्यकता है। अधिकतर लोग संन्यासी को भिक्षु अथवा भिक्षुणी जैसा मानते हैं। यह गलत धारणा है, क्योंकि इस कोटि के संन्यास द्वारा व्यक्ति तथा समाज का थोड़ा भी विकास संभव नहीं होता। संन्यास को कभी एक पृथक् जीवन शैली मानने की गलती नहीं करनी चाहिए। ऐसा संन्यासी जो समाज से दूर निर्जन एकांत में रहता, लोगों से घृणा करता, बात-बात में क्रोधित होता है, उसका जीवन उस जड़ मूर्ख की तरह होता है जिसे किसी भी बात का ज्ञान नहीं होता। उसका व्यक्तित्व गतिहीन हो जाता है, उसका कोई जीवन-दर्शन नहीं रह जाता और न ही वह अपनी इच्छाओं, वासनाओं को संतुलित कर पाता है। उसमें लचीलेपन और समायोजन की भारी कमी होती है। अब बताइये, हम कैसे कह सकते हैं कि ऐसा जीवन पूर्ण होता है?

इस प्रकार मैंने आपके समक्ष जीवन की दो शैलियाँ रखी हैं। इनमें से एक गृहस्थ का लापरवाही भरा जीवन है तो दूसरा संन्यासी का जीवन है। इनमें से एक को दक्षिणपंथी और दूसरे को वामपंथी कहा जा सकता है। यही कारण है कि आजकल अन्-ोक गृहस्थ भय, कुंठा, अपराधबोध और पश्चाताप भरा जीवन जी रहे हैं। उन्हें अपने अस्तित्व पर जरा भी गर्व नहीं है, दूसरी ओर वे संन्यासी हैं जिन्हें अपने संन्यासी होने का बड़ा घमण्ड है। अब आपके

सामने एक ओर संन्यासियों का क्रोध और घमण्ड है तो दूसरी ओर गृहस्थों का भय, कुंठा, पश्चाताप और मिथ्या अपराधबोध है। इन दो मार्गों में से एक भी ऐसा नहीं है जिस पर चलकर आप अपना आध्यात्मिक विकास कर पायें। इसलिये आज संन्यास की एक अलग ही प्रकार की धारणा निर्मित करने की आवश्यकता है। यह धारणा पुराणपंथी नहीं, बल्कि तंत्र सम्मत होनी चाहिए।

तंत्र में शिव और शक्ति एक साथ रहते हैं। शिव चित्त अथवा चेतना के प्रतीक हैं तो शिवा प्राण व शक्ति की। भौतिक शरीर में इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ, जो चित्त और प्राण की प्रतिनिधि हैं, आपके अस्तित्व के लिये दोनों जरूरी हैं। इनमें से किसी एक के अभाव में आप जीवित नहीं रह सकते। शरीर में इन दोनों शक्तियों के बीच एकता और अंतर्सम्बन्ध जरूरी है। सामान्य जीवन में भी यह नियम लागू होता है। पुरुष और स्त्री एक ही ऊर्जा के दो ध्रुव होते हैं। दोनों की ऊर्जा के गुण भिन्न होते हैं। वे भले ही एक परिवार में रहें, शारीरिक बनावट में बहुत कुछ समानता हो, परन्तु जहाँ तक ऊर्जा का गुणात्मक संबंध है, दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। जिस प्रकार शरीर में इड़ा और पिंगला कार्य करती और एक साथ रहती हैं, पति और पत्नी भी परिवार और समाज में रहते हैं।

यह संन्यास की तांत्रिक कल्पना है। इसलिये यह प्रश्न कि क्या एक व्यक्ति संन्यासी होते हुए भी स्त्री के साथ रह सकता है, बेकार है। मैं नहीं समझता कि आप स्त्री अथवा पुरुष को त्यागकर ही संन्यासी बन सकते हैं। मन की अकूत गहराई में तो एक को दूसरे की जरूरत महसूस होती ही है। आप किस प्रकार उसे उखाड़ फेकेंगे। इसलिये संन्यास की तांत्रिक परिकल्पना सभी को अच्छी तरह समझनी चाहिए। जो लोग अपने भीतर उच्च आध्यात्मिक चेतना जगाना चाहते हैं, उन्हें स्वयं को स्त्री और परिवार से अलग करने का विचार ही नहीं लाना चाहिए। यह न केवल आपके व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास के लिए, बल्कि एक सुधरे विकसित विश्व के लिये भी बड़ा जरूरी है। आप अकेले ही कैसे अपना स्तर विकसित कर पायेंगे? अभी तक तो आप एक गृहस्थ का लापरवाही भरा जीवन बिताते रहे हैं, फिर यदि आप चाहें कि आपके बच्चे बड़े सचेत और सावधान हों तो भला बताइये यह कैसे संभव है?

आप अपने दर्शन और दृष्टिकोण से अपने जींस को बदल सकते हैं। यदि आप आलसी और कमजोर प्रकृति के हैं, तो आपके बच्चे भी उसी प्रकार होंगे। यदि आप चिन्तनशील नहीं हैं तो आपके मन में संन्यास के विचार उठेंगे ही

नहीं। जिस क्षण मन में संन्यास का विचार आता है, जींस बदलने लगते हैं। ये जींस बच्चे के गुण और स्वभाव बदलते हैं। यदि तांत्रिक संन्यासियों की संख्या में वृद्धि हो तो समूची आबादी की चेतना का स्तर ऊँचा होगा, जो मेरी राय में एक महत्त्वपूर्ण बात होगी।

प्राचीन भारत में अनेक तांत्रिक संन्यासी थे, जो विवाहित थे तथा उनके बच्चे भी थे। ये संन्यासी उच्च चेतना के धनी तथा समाज के पथ प्रदर्शक भी थे। वे उच्च चेतना, मेधा तथा आध्यात्मिक शक्ति के स्वामी भी थे। लोगों के सर्वांगीण जीवन के निर्माण में उनका बड़ा योगदान था। आज भी ऐसे लोगों की बड़ी आवश्यकता है। मैंने भी अनेक वर्षों तक इस विषय पर विचार-मंथन करने के पश्चात् अन्तरराष्ट्रीय योग मित्र मंडल की स्थापना की है। प्रारंभ में समाज के पुराणपंथियों ने इस योग आंदोलन का बड़ा विरोध किया। उनका कहना था कि उन गृहस्थों को, जो हर रात पापकर्म में लीन होते हैं, संन्यास दीक्षा देकर मैं पवित्र संन्यास परम्परा को दूषित कर रहा हूँ। मेरा कथन यह था कि गृहस्थों को संन्यास दीक्षा देकर मैं संन्यास परम्परा को दूषित नहीं कर रहा, बल्कि गृहस्थों के जीवन में पवित्रता भर रहा हूँ। संन्यास का विचार हर किसी के मन में नहीं उठता। जब आप इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आपका लक्ष्य दिव्यालोक की उपलब्धि है तो फिर आपके समक्ष एक ही मार्ग दिखलाई पड़ता है। वह यह कि आपको अपने अस्तित्व के अर्थ और तात्पर्य को पूरी तरह बदल देना चाहिए। आज संसार में हजारों-हजार लोग पत्नी तथा बच्चों के बीच ऋषि तुल्य जीवन जी रहे हैं। अपने दैनिक जीवन में वे विभिन्न लोगों से मिलते तथा उनके संपर्क में आते हैं। इसके साथ ही वे अपने चारों ओर अपने आध्यात्मिक जीवन की सुगंध भी बिखेरते हैं। इस प्रकार वे स्वयं को तथा दूसरों को जीवन के सही उद्देश्य की जानकारी प्रदान करते हैं, प्रेरणा देते हैं।

अब संसार में रहने वाले संन्यासी के लिए जो बात सर्वाधिक महत्त्व की है वह है, ध्यान। उसे अपनी स्थूल चेतना को परिमार्जित कर उच्च स्तर प्रदान करना चाहिए। उदाहरण के लिये, जब आप चॉकलेट खाने का आनन्द लेते हैं तो वह स्थूल अनुभव कहलाता है। इसी प्रकार शरीर के किसी अंग में वेदना का अनुभव भी स्थूल ही होता है। दु:ख और आनन्द, जिनकी अनुभूति का माध्यम इन्द्रियाँ होती हैं, स्थूल अनुभव के अन्तर्गत आते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी बहिर्मुखी होती हैं कि हमारा मन वस्तु की मदद के बिना कोई अनुभव नहीं कर सकता। इन्द्रियों के विषय ही उसे स्थूल अनुभव कराते हैं।

यदि आप फूल का आनन्द लेना चाहें तो आपकी आँखों के समक्ष फूल आना जरूरी है। इसी प्रकार संगीत के आनन्द के लिये उसे कानों से सुनना जरूरी है। सुगंध के अनुभव के लिये सुगंधित वस्तु का सूँघना जरूरी है। कोमलता के लिये वस्तु का स्पर्श पहले होना चाहिए। क्या इन्द्रियों का इन वस्तुओं से संपर्क हुए बिना भी आप इनका आंतरिक अनुभव कर सकते हैं? क्या आप कानों को बंद कर संगीत का आनन्द उठा सकते हैं? फूल, पौधे, महासागर, नदियाँ, झीलें, पहाड़, मैदान, सूरज, चन्द्रमा और तारों को बंद आँखों से निहार सकते हैं? क्या आप जानते हैं कि इनके और आपके बीच माध्यम कौन है? ये आपकी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनकी सहायता के बिना आप जीवन का आनन्द नहीं लूट सकते। यह आपकी एक सामान्य सीमा है। परन्तु जो व्यक्ति अपनी चेतना को इन्द्रियों से ऊपर उठा सकता है, वह इनकी सहायता के बिना हर वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इसलिए आधुनिक संन्यासियों का जीवन और श्वास, ध्यान ही कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी।

ध्यान वह अवस्था होती है जिसमें आप सीधे मन का अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि हर व्यक्ति के जीवन में मन का बड़ा महत्त्व होता है। अनेक लोगों के लिये मन रहस्यों का खजाना है, तो कुछ के लिये पिशाच लीला की रंगभूमि होता है। कई इसकी तुलना बंदर से करते हैं। परन्तु मैं इसे ठीक नहीं मानता। मेरी मान्यता है कि मन अकूत शक्ति का भंडार है। हम उसके मात्र अल्पांश को ही जानते हैं। जब आप क्रोधित होते हैं, दु:खी होते अथवा पश्चाताप करते हैं तो आपको मन का अनुभव होता है। आप कहते हैं, "आज मेरा मन बड़ा दु:खी है, उदास है।" परन्तु यह तो मन नहीं है। आपको ध्यान के नियमित अभ्यास द्वारा समग्र मन को जानने की कोशिश करनी चाहिए। मन को जानने के लिए आपको उसकी गति, तरंगों के उतार-चढ़ाव को कम करना होगा, जो सहज तो नहीं है, परन्तु उसे असंभव भी नहीं कह सकते। यदि आप विचारों को एकदम समाप्त कर सकें तो मन को देख सकते हैं।

इसलिये मन को देखने तथा जानने के लिये आपको धीरे-धीरे एक के बाद एक, तीन चीजों को दूर रखना होगा। इनमें सबसे पहले आपको विचारों को समाप्त करना होगा। दूसरा, आंतरिक दृश्यों को रोकना होगा तथा तीसरा, निद्रा तथा सम्मोहन को समाप्त करना होगा। इसके बाद आपकी चेतना पूरी होगी, शुद्ध होगी। आप जैसे-जैसे ध्यान में बढ़ते हैं चेतना घटती नहीं है और जब ध्यान को पूरी तरह साध लेते हैं तो आपकी चेतना विचार और दृश्यरहित

हो जाती है। उसमें सम्मोहन का लेशमात्र भी नहीं होता। इसलिये आप ध्यान की जो भी तकनीक चुने उसमें पूर्णता होनी आवश्यक है।

हाल के वर्षों में अनेक युवक तथा युवतियों को चेतना विस्तारक द्रव्यों की लत लग गई है। उनके मन में कुछ गलतफहमी घर कर गई है। वे पवित्र बाइबिल तथा अन्य ग्रन्थों में पढ़ते हैं कि अमुक संत ने यह देखा वह देखा। वे मानते हैं कि नशीले द्रव्यों के सेवन के फलस्वरूप जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, उसका अनुभव उन सन्त-महात्माओं के अनुभवों जैसा ही होता है।

सच तो यह है कि ऐसे अनुभवों को भी समाप्त करना चाहिए। चेतना विस्तारक द्रव्यों के सेवन द्वारा जो अनुभव होते हैं, उनका कारण शरीर में होने वाला रासायनिक परिवर्तन है, जो उनके सेवन के फलस्वरूप होता है। वह विचारों को हटाने के फलस्वरूप नहीं होता, न ही मन की गति में परिवर्तन के कारण होता है। अब आप चाहे जिन नशीले पदार्थों का सेवन करें तथा उनके प्रभाव के कारण आपको चाहे जो भी अनुभव हो, दृश्य दिखलाई पड़े, परन्तु ध्यान द्वारा होने वाले अनुभवों के साथ उनकी कोई तुलना नहीं हो सकती।

प्राचीन भारत में जड़ी-बूटियों के मेल से एक विशेष प्रकार का पेय निर्मित किया जाता था। उसे सोमरस कहा जाता था। वह आजकल की शैम्पेन तथा व्हिस्की जैसा नहीं होता था। जो उसे पीते, उन्हें विचित्र अनुभव होते थे। वे आकाश में तथा पृथ्वी पर देवी-देवताओं को देखते थे। परन्तु कुछ काल पश्चात् तत्कालीन विद्वानों ने उसके सेवन पर भी रोक लगा दी, क्योंकि वे जानते थे कि भले ही सोमरस पान करने वालों का व्यवहार बदल दे, परन्तु वह उन्हें रूपांतरित नहीं कर सकता था।

ध्यान योग में सबसे पहले आपको मन और मस्तिष्क की तरंगों को घटाना चाहिए। इसके लिये इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख करने का अभ्यास करना चाहिए, जिसे योग में प्रत्याहार के नाम से जाना जाता है। जब मन अलग-थलग पड़ जाता है, जब इन्द्रियाँ उसे अपने विषयों के माध्यम से संवेदनात्मक आवेश देना बंद कर देती हैं तो उसकी तरंगें अपने आप घट जाती हैं, चंचलता थम जाती है। मन और मस्तिष्क को पृथक् करने की अनेक युक्तियाँ हैं। इनमें से मंत्र एक प्रमुख तकनीक है। अनेक लोगों के लिये मंत्र साधना की अनेक शैलियाँ हैं। मन और मस्तिष्क के व्यवहार पर मंत्र का गहरा प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क की तरंगें ध्वनि द्वारा प्रेरित होती हैं। उदाहरण के लिये, यदि आप मध्यम गति से मंत्र को दुहरायें तो मस्तिष्क की तरंगें स्वयं को

मंत्र की गति के साथ व्यवस्थित कर लेती हैं और यदि मंत्र की गति को धीरे-धीरे कम करते जायें तो ये लहरें भी धीरे-धीरे शांत होने लगती हैं।

परन्तु मन की तरंगों की गति को एकाएक शांत नहीं करना चाहिए। यह कार्य संतुलित ढंग से धीरे-धीरे होना चाहिए, क्योंकि जब मस्तिष्कीय तरंगों में कमी आती है तो शरीर के भीतर अनेक परिवर्तन होने लगते हैं। सर्वप्रथम तो शरीर का तापमान ही घटने लगता है, फिर प्राण वायु की खपत कम होने लगती है, गैल्वनिक त्वचा प्रतिरोध कम होने लगता है तथा एंजाइम और शरीर के भीतर बनने वाले नमकाम्ल की मात्रा और गुण में परिवर्तन होता है। इनके सिवाय शरीर में अनेक परिवर्तन भी अचानक होने लगते हैं। इसलिए इन परिवर्तनों के साथ तालमेल बैठाने के उद्देश्य से आपको शरीर को पर्याप्त समय देना चाहिए।

उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि आपका मंत्र 'ॐ नमः शिवाय' है, तो एक विशेष ताल और लय में आपको उसका जप करना चाहिए। मंत्र को आज्ञा एवं अनाहत चक्र में स्थापित कर उसकी आवृत्ति का समय भी तय करना चाहिये। मंत्र की आवृत्तियों की गति पूरी समयावधि में समान रखिये। परन्तु अलग-अलग समय पर इसमें थोड़ा-बहुत फेर-बदल कर सकते हैं। उदाहरण के लिये, अपनी साधना के पहले महीने में कहेंगे–ओम-नमः शिवा-य। एक मास बाद दूसरे चरण में कहेंगे–ओ-म-न-मः-शि-वा-य। यह गति पहले माह की गति से कम होगी। मंत्र की गति और आवृत्ति का समय निर्धारित अवधि, जैसे एक माह में समान रखिये। हो सकता है एक अथवा डेढ़ वर्ष के अभ्यास के बाद आप बहुत धीरे कहें–ओ म् म् म् -न-म-ह् -शि-वा-य।

ध्वनि की अनेक तरंग गतियाँ होती हैं। एक गति में आप अनेक ध्वनियाँ सुन सकते हैं। दूसरी गति में आप ध्वनि को कहीं अधिक स्पष्ट रूप से सुन सकते हैं। कभी आप उसे सिर्फ अनुभव करते हैं, सुन नहीं सकते। जब ध्वनि तरंग तीव्र गति से उत्पन्न होती है तब उसे विचार कहते हैं। इस प्रकार मंत्र साधना द्वारा आप ध्वनि तरंग इस गति से उत्पन्न करते हैं कि उससे मन में चिन्तन होने लगता है।

मंत्र विज्ञान के अनुसार ध्वनि की चार गतियाँ अथवा तरंगें होती हैं। इनमें से प्रथम को सुन सकते हैं, दूसरी का अनुभव कर सकते हैं, तीसरी विचार लहरी बनती है तो चौथी गति जब उत्पन्न होती है, तब विचारकर्त्ता ही नहीं रह जाता। मंत्र सहित ध्यान का लक्ष्य भी यही होता है। मंत्र योग सम्बन्धी ग्रंथों में इन चारों ध्वनियों के अलग-अलग नाम होते हैं। पहली को बैखरी, दूसरी को मध्यमा, तीसरी को पश्यंति और चौथी को परा कहते हैं। यह तो तकनीकी नामावली हुई। यह न केवल

'ॐ नमः शिवाय' पर, बल्कि सभी मंत्रों पर लागू होती है। किसी भी मंत्र को ध्वनि की तरंगों के अनुसार मानसिक तल पर प्रयुक्त किया जा सकता है।

मंत्र का अभ्यास आपके तथा मन के बीच इन्द्रिय रूपी माध्यमों को पूरी तरह हटा देता है। अब जब यह माध्यम ही हट जाये तो आपके मन को टिकाने के लिये किसी आधार की आवश्यकता अनुभव होगी। यह आधार कोई ठोस वस्तु अथवा आकार होना चाहिए। आप अपने मन को किसी विचार अथवा तरंग पर केन्द्रित कर सकते हैं। परन्तु यदि मन के टिकने का आधार कोई साकार वस्तु हो तो ठीक है। जब आप मंत्र जप के दरम्यान मन को बार-बार किसी वस्तु पर टिकायें तो उसके सिवाय अन्य दूसरी कोई वस्तु मन में न आने पाये। यदि आपके मन में दूसरे विचार अथवा दृश्य आते हैं तो आपको उन्हें दूर करना चाहिए। यदि आप किसी नीलकमल पर मन को एकाग्र करते हैं, तो उसके सिवाय अन्य सभी वस्तुओं तथा विचारों को मन में आने से रोकना चाहिए। मन को इस प्रतीक से किसी अन्य वस्तु पर न जाने दीजिये।

बहुधा लोग ध्यान में अनेक वस्तुएँ देखकर बड़े खुश होते तथा लोगों से इनका बढ़-चढ़कर वर्णन करते हैं, परन्तु यह कोई उपलब्धि थोड़े ही है जिस पर खुश हुआ जाये। इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि मन अपने निर्धारित रास्ते से इधर-उधर भटक गया है। ध्यान में मन को किसी एक ध्येय वस्तु पर थोड़ी देर के लिए भी टिका पाना बड़ा मुश्किल होता है। परन्तु यदि आप एकाग्रता को अखंड, मन को स्थिर कर सकें, उसमें विचार तरंगें न उठने दें तो आपकी चेतना तैल धारावत् केवल नीलकमल पर टिकी रहेगी। आपके मन में नीलकमल के अतिरिक्त और कुछ न होगा।

चेतना इलेक्ट्रान अथवा जल के प्रवाह जैसी होती है, जो बार-बार टूटती है। इसलिये थोड़ी देर तो नीलकमल की चेतना रहती है, फिर टूट जाती है। यह क्रम बार-बार टूटता-जुड़ता रहता है। योग में इसे विक्षेप अथवा विकल्प के नाम से जाना जाता है। इसे टालने का प्रयास करना चाहिए। जब आप किसी वस्तु पर मन को लगाते हैं, आपकी एकाग्रता में विक्षेप नहीं आता, तो उसे ध्यान कहते हैं। इस निरंतरता का दूसरा नाम ध्यान है। इसलिये लगातार, अविरल एकाग्रता को, जिसमें विक्षेप अथवा विकल्प की गुंजाइश नहीं रहती, ध्यान कहते हैं।

संस्कृत में ऋषि उसे कहते हैं जो द्रष्टा होता है। ऋषि कोई पादरी, पुजारी, पवित्र व्यक्ति अथवा भिक्षु नहीं होता। फिर वह द्रष्टा कैसे हुआ? वह नेत्र के

बिना देख सकता है, कानों के बिना सुन सकता है तथा पैरों के बिना चल सकता है–

बिनु पग चलै, सुने बिनु काना,
कर बिनु करम, करे विधि नाना।
आनन रहित, सकल रस भोगी,
बिनु बानी वकता बड़ जोगी।

इसलिये तांत्रिक संन्यासी को मंत्र के अभ्यास द्वारा ऋषि बनने का प्रयास करना चाहिए।

तांत्रिक संन्यास के बारे में एक बात और है जिसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है। वह यह कि अपने यौन व्यवहार को किस प्रकार समायोजित किया जाये, कैसे समायोजित करें? अनेक लोगों ने अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की है। क्या अपनी पत्नी अथवा पति के साथ यौन सम्बन्ध अध्यात्म विरोधी है अथवा उसमें सहायक है? तांत्रिक मान्यता के अनुसार यह सम्बन्ध अध्यात्म में कतई बाधक नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है, अपने जीवनसाथी के साथ उन्नत तथा सुधरे हुए यौन सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए आप अध्यात्म के मार्ग पर बढ़ सकते हैं। तंत्र कहता है कि मैथुन के तीन प्रयोजन होते हैं, जिनका स्पष्ट उल्लेख तांत्रिक ग्रंथों में मिलता है। पहला प्रयोजन है संतानोत्पत्ति (तामसिक), दूसरा आनन्द (राजसिक) तथा तीसरा आध्यात्मिक रूपान्तरण (इसे सात्त्विक प्रयोजन कहते हैं)।

इन्द्रिय लोलुप व्यक्ति मात्र आनन्द के लिए, सामान्य व्यक्ति संतान के लिये तथा तांत्रिक संन्यासी समाधि के लिये मैथुन करता है, क्योंकि मैथुन का सीधा सम्बन्ध चेतनात्मक उत्थान की ऊर्जा से होता है। इससे उच्च चक्र जाग्रत होते हैं तथा उनसे संबंधित अनुभव होते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान है, जिसे आप अपने उत्थान के लिये प्रयुक्त कर सकते हैं। इसलिये इसे विस्तार और गहराई से जानने और दैनिक जीवन में प्रयुक्त करने की आवश्यकता है।

अनेक आसन और हठयोग की क्रियाएँ ऐसी हैं जो ऊर्जा की दिशा बदल सकती हैं। यदि आप किसी योग्य अनुभवी योग शिक्षक की सहायता तथा मार्गदर्शन लेकर अनुभवों को सम्हाल तथा समझ सकें तो आपका मैथुन एक आध्यात्मिक कृत्य हो सकता है। मैं स्वयं यौन विज्ञान का पृष्ठपोषक अथवा

प्रचारक नहीं हूँ। परन्तु यह भी सच है कि मैं इस यथार्थता से आँख नहीं मूँद सकता और न ही मैं यह चाहूँगा कि आप भी इसकी अनदेखी करें।

इस सचाई की अनदेखी नहीं की जा सकती। परन्तु यदि यह सीधे आपको नरक की टिकट कटा दे तो इससे बढ़कर और कोई त्रासदी भी नहीं हो सकती। आध्यात्मिक तथा यौन संवाद एक सिक्के के दो पहलू कहे जा सकते हैं। यौन जीवन कभी भी अध्यात्म विरोधी नहीं हो सकता। यदि अनुशासनपूर्वक नियोजित ढंग से इसमें प्रवृत्त हुआ जाये, तो यह उच्च चेतना के क्षेत्र में छलांग लगाने का मंच बन सकता है। आप काम से राम तक पहुँच सकते हैं। काम की अवहेलना करेंगे तो काम और राम, दोनों से हाथ धो बैठेंगे। आप सेक्स द्वारा ही सेक्स का अतिक्रमण कर सकते हैं। इसकी कोई और युक्ति नहीं है।

प्रकृति ने मनुष्य के जीवन में एक व्यवस्था की है जिसे आपको स्वीकारना चाहिए, उसका सम्मान करना चाहिए। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि यह आपको संन्यास से विमुख करता है। आप अपनी जीवनशैली तथा कार्यों में पूर्ण आस्था रखते हुए, आशावादी रहते हुए जीवन के इन दोनों पक्षों का निर्वाह कर सकते हैं। यदि आप अपने पति अथवा पत्नी के साथ ध्यान करने बैठें तो उस ऊर्जा को उत्पन्न कर सकते हैं, जो दोनों के विकास में सहायक हो सकती है। कल्पना कीजिये कि इसके फलस्वरूप आप किस कोटि की संतान उत्पन्न करेंगे। मुझे इस बात पर आज भी गर्व है कि मेरे माता-पिता इस तरह का जीवन जीते थे। जीवन के अपने कार्यों, दायित्वों को पूरा कर पर्याप्त आध्यात्मिक अनुभव अर्जित कर आप पूर्ण संन्यास ग्रहण कर सकते हैं।

प्रश्नोत्तर

ज्ञानालोक की प्राप्ति तथा विवाह की इच्छाओं पर प्रकाश डालने की कृपा करें। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि मानव जाति के विकास के लिए इन दोनों इच्छाओं की पूर्ति आवश्यक है, तथापि मैं यह नहीं समझ पाता कि इस दिशा में कैसे कार्य किया जाये?

विवाहित तथा आध्यात्मिक जीवन दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं। आध्यात्मिक विकास के मार्ग में विवाह कतई बाधक नहीं होता। स्त्री और पुरुष के बीच मैथुन या तो संतान प्राप्ति के लिये होता है या आनन्द के लिये। परन्तु यदि आप उच्च आध्यात्मिक अनुभव की आकांक्षा रखते हैं तो आपको मैथुन का

उद्देश्य ही बदलना होगा। यदि आप इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लें तथा स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों को पुन: पारिभाषित करें तो आपको मालूम होगा कि समागम एक ऐसा अनुभव निर्मित करता है जो जीवन के महानतम अनुभव की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

पाश्चात्य देशों में एक गलत धारणा प्रचलित है कि विवाह अध्यात्म विरोधी है। यह भी कि यदि आप अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहते हैं तो आपको विवाहित जीवन को हरि ॐ करना होगा। इस पाश्चात्य दर्शन ने अनेक पढ़े-लिखे भारतीयों को भी प्रभावित किया है। परन्तु यह दृष्टिकोण एकदम गलत है। विवाहित जीवन कोई पाप नहीं है, न उसमें कोई बुराई ही है। आप कैसे यह दावा कर सकते हैं कि विवाह पाप है? क्या इसलिए कि यह बात आप से बार-बार कही गई है कि स्त्री-पुरुष के बीच के सम्बन्ध पाप की परिधि में आते हैं, जो बुराई है, पाप है?

इस गलत विचार को मन से निकाल दीजिये, अन्यथा आपका पारिवारिक जीवन बिखर जायेगा, क्योंकि जैसे ही आप आध्यात्मिक जीवन में कदम रखेंगे, एक अपराध-भावना आप पर छा जायेगी। आप सोचेंगे, अरे! मैं पत्नी के साथ सोता हूँ, पति के साथ सोती हूँ। यह तो पाप है, अब मुझे आध्यात्मिक ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकेगा। ये बातें मन से एकदम निकाल दीजिये। इस अपराध-भावना, कुंठा तथा शर्म को दूर करने के लिये आपको बड़ी मेहनत करनी होगी। आपको अपने विचार दर्शन की बुनियाद में पलीता लगाना होगा।

यदि पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध पाप है तो उसका निर्माता कौन है? जिसने इन सम्बन्धों का निर्माण किया वह तो हम से भी बड़ा पापी हुआ। यह प्रकृति सबसे बड़ी पापी हुई, क्योंकि सबके सब प्रकृति के नियमों के अधीन हैं, जिसने स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे के लिये भूख जगाई है। अब यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ मैथुन करता है तो ये दोनों प्रकृति के नियमों से बँधे हैं और उसी के अंतर्गत आचरण करते हैं। इसलिये सबसे पहला पापी तो प्रकृति को कहेंगे। उसके बाद दूसरे और तीसरे नंबर पर पुरुष और स्त्री आयेंगे। यदि ईश्वर ने स्त्री-पुरुष के भीतर एक-दूसरे के लिये आकर्षण अथवा भूख का निर्माण किया है तो वह एक नंबर का पापी कहलायेगा। उसके बाद प्रकृति और अंत में स्त्री-पुरुष को पापी कहा जा सकेगा। नहीं! नहीं! यह तो सोचने का बड़ा गलत ढंग होगा। यदि आप इस विचारधारा से सहमत हैं तो फिर कभी शादी मत कीजिये, आजन्म कुँवारे रहिये।

विवाहित जोड़े के रूप में हम सेक्स के अनुभव को किस प्रकार उच्च उद्देश्य के लिये प्रयुक्त कर सकते हैं?

अनेक लोग मैथुन केवल आनन्द के लिये करते हैं। कुछ समय के लिये यह ठीक माना जा सकता है। परन्तु आपको इस उद्देश्य के आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि यदि आप हमेशा ही मात्र आनन्द के लिये मैथुन करते रहे तो आप उच्च अनुभव से वंचित तो रह ही जायेंगे और अंत में सिवाय असंतोष के कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। इसके बाद आप यह जानने का प्रयास करेंगे कि यौन समागम से उच्च अनुभव कैसे प्राप्त होता है, जो एक अलग ही विज्ञान है।

यौन समागम कोई अन्तिम कृत्य नहीं होता। कुछ अन्य क्रियायें और अभ्यास होते हैं जिन्हें सीखने की जरूरत होती है। आपको अपने आहार और दिनचर्या को पुनर्संयोजित करना होगा। शादी-शुदा लोगों के लिये उच्च चेतना का विकास करना संभव होता है। परन्तु उन्हें विवाहित जीवन के उद्देश्य और और उत्तरदायित्वों को जानना जरूरी है। पुन: इसके लिये समूचे सामाजिक कलेवर में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना जरूरी है। जो लोग आध्यात्मिक जीवन के प्रति निष्ठावान् हैं उन्हें इन अभ्यासों को अवश्य सीखना चाहिए। इसके अतिरिक्त हठयोग की क्रियाओं का भी नियमित अभ्यास करना चाहिए। यह सच है कि इनमें निपुणता प्राप्त करने में अनेक वर्ष भी लग सकते हैं। आवश्यकता है लगन, निष्ठा और नियमितता की। कुछ आसन और प्राणायाम का भी अच्छी तरह अभ्यास कर उनमें सिद्ध होना चाहिए।

हठयोग में शुद्धिकरण की छ: क्रियाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य क्रियाएँ भी होती हैं, जैसे, उड्डियान बंध आदि। इसके बाद कुंभक और बंधों के साथ प्राणायाम करना चाहिए। इन क्रियाओं के पश्चात् क्रियायोग का अभ्यास करना चाहिए। जब आप हठयोग और क्रियायोग का कुछ काल तक अच्छा अभ्यास नियमित रूप से करेंगे तो आपको अपने विवाहित जीवन के कुछ अच्छे अनुभव होंगे, जो अनुभव आप लोगों को स्थूल स्तर पर होते हैं, अब सूक्ष्म तल पर होंगे। इसके सिवाय जो अनुभव आपको मात्र कुछ क्षणों के लिए ही होते हैं, वे अब लम्बे समय तक होते रहेंगे।

अनुभव के केन्द्र का बड़ा महत्त्व होता है। कुछ को निम्न केन्द्रों में अनुभव होते हैं। परन्तु यह अनुभव आज्ञा, भ्रूमध्य और सहस्रार चक्रों में होना चाहिए तथा यह अनुभव तत्काल दूसरे अनुभवों को जन्म देने वाला होना चाहिए। किन्तु अधिकतर लोगों के साथ ऐसा नहीं होता। मैं सोचता हूँ कि लोग क्षणिक

अनुभव के पीछे ही दौड़ते हैं और जब वह अनुभव समाप्त होता है तो उदासी और पश्चाताप बाकी रह जाते हैं। आये दिन तलाकों की बढ़ती संख्या का संभवत: यही कारण है।

परन्तु भारतीयों में आपको ऐसी बात देखने को नहीं मिलेगी, क्योंकि उन्हें जो अनुभव होता है वह भिन्न होता है। जब जागरण का एक अनुभव होता है, तो दृश्यों वाला दूसरा अनुभव उसकी जगह लेता है। आपमें से ऐसे कितने लोग हैं जो चरम आनन्द के बिन्दु तक पहुँचने के तुरंत बाद रति क्रिया से विरत हो, नदी, पहाड़, बगीचे, इष्ट अथवा गुरु का चिदाकाश में दर्शन कर सकते हैं? नहीं, आप ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि चरम बिन्दु पर पहुँचने के बाद आप थककर चूर हो जाते हैं। इससे आप समझ सकेंगे कि आप कितने निम्न दर्जे का यौन जीवन जीते हैं। यह तो पशु प्रवृत्ति की बारंबार आवृत्ति जैसा ही कृत्य कहा जायेगा। यही कारण है कि आये दिन आपका पारिवारिक जीवन विखंडित हो रहा है।

विवाह के मात्र अट्ठारह वर्ष बाद आप अलग हो जाते हैं, जो बड़ा हास्यास्पद लगता है। क्या आपकी पत्नी वेश्या है? आप कौन-सी संस्कृति के अनुयायी हैं? आप एक पति अथवा पत्नी के साथ रहकर आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते, तो फिर शाश्वत आनन्द कैसे प्राप्त करेंगे। आपको सर्वप्रथम स्त्री को शक्ति के रूप में तथा पुरुष को शिव-रूप में देखना होगा। इसके दो रास्ते हैं। या तो अगले जन्म में भारत में हिन्दू परिवार में जन्म लीजिये, जो आपके अपने हाथ में नहीं है, या हठ एवं क्रियायोग का अभ्यास कीजिये।

आध्यात्मिक विकास के मार्ग में विवाहित जीवन किस सीमा तक हानिप्रद है?

आध्यात्मिक जीवन के विकास में विवाहित जीवन तनिक भी बाधक अथवा हानिप्रद नहीं है। विवाहित जीवन में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं जिनका सभी को सामना करना होता है। अब यदि आप इन कठिनाइयों को विधायक ढंग से लें तो वे आपकी चेतना में गुणात्मक परिवर्तन लाती हैं। यदि आप इन कठिनाइयों से हताश-निराश नहीं होते तो आप महसूस करेंगे कि विवाहित जीवन भी एक आश्रम जैसा है जहाँ आपने अपने कर्मों को, संस्कारों, इच्छाओं, वासनाओं आदि को नि:शेष करने के लिए प्रवेश लिया है। यह आपके उच्चतर आध्यात्मिक विकास की पहली शर्त और आवश्यकता है।

जब आप मन की अकूत गहराई में गोता लगाते हैं अथवा चेतना के पंखों पर लम्बी उड़ान भरते हैं तो बाह्य वास्तविकताओं से आपका सम्बन्ध भंग होने लगता है। ऐसे समय पर आपके भीतर गहराई में छुपी इच्छाएँ, वासनाएँ, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, भय, जिन्हें हम माया कहते हैं, सबके सब अनुभव के रूप में ऊपर उतराने लगते हैं, मानो मन रूपी सागर में ज्वार उठ रहा हो। यह अनुभव परदे पर फिल्म के दृश्यों की भाँति आते-जाते रहते हैं। हम इन्हें उच्च अनुभव मानने की भूल कर बैठते हैं। आप इन्हीं की उलझन में फँसे रह जाते हैं और आगे नहीं बढ़ पाते। संभवत: इसी कारण हमारे महान् ऋषि-मुनियों ने गृहस्थाश्रम की व्यवस्था की थी।

गृहस्थाश्रम में आपको कठिनाइयों का मुकाबला करना तथा यदा-कदा हताश, निराश भी होना पड़ता है, तो कभी आप जिस इच्छा, वासना के पीछे दौड़ते हैं वह पूरी होकर आपको क्षणिक आनन्द भी प्रदान करती है। आप यह भी अनुभव करते हैं कि अभी तक आप जिन इच्छाओं की पूर्ति के लिये दौड़ रहे थे, आपको लोभ, ईर्ष्या आदि जिन बातों का अनुभव होता था, वे मात्र मृगतृष्णा थीं, उनका कोई आध्यात्मिक महत्त्व नहीं था। आपको इस सत्य को जानने की बड़ी आवश्यकता है। कहने मात्र से कुछ होता नहीं है। अब जब तक आप इन्हें भोगेंगे नहीं, कैसे इनका अनुभव कर पायेंगे? यदि गृहस्थ के जीवन में सभी कुछ मीठा होता, तो आप क्या कहते? यही न कि "लोभ, प्यार, वासना और बाकी सभी कुछ बड़ा अच्छा है, आश्चर्यजनक है।" पीड़ा और निराशा के मार्ग पर चलकर हमारे भ्रम टूटते हैं। यह बड़ा जरूरी है। गृहस्थाश्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आपको यह याद रखनी है कि गृहस्थ जीवन में दो प्राणी एक-दूसरे के निकट आते हैं। इन्हें पति, पत्नी कहते हैं। भौतिक रूप से वह भले ही समान लगें, परन्तु वस्तुत: वे एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। पत्नी ऊर्जा का ऋणात्मक ध्रुव होती है जबकि पुरुष धनात्मक। वे जब पृथक् हैं, आधे-अधूरे होते हैं। ऋणात्मक अथवा धनात्मक विद्युत तार अकेले विद्युत उत्पन्न नहीं कर पाता। हमें इन दोनों को केबल में एक-दूसरे के पास लाना होता है। गृहस्थाश्रम ही यहाँ केबल का काम करता है। गृहस्थाश्रम इन दोनों आवेशों को करीब लाता और उचित ढंग से जोड़ता है। इसके बाद ही ऊर्जा का उत्पादन और उसका अनुभव होता है। हालाँकि गृहस्थ जीवन आध्यात्मिक राह पर रोड़े जैसा लगता तो है, परन्तु बात ऐसी है नहीं।

आसक्ति की तीव्रता

जब स्थूल तथा नश्वर वस्तुओं के प्रति आकर्षण अथवा लगाव भीतर की ओर मोड़ दिया जाता है तो उसे भक्ति अथवा समर्पण कहते हैं। भक्ति का विपरीतार्थी शब्द भोग, बाहरी आकर्षण है जो मन और इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों से जुड़ने से होता है। जब आप इन पदार्थों का चिन्तन करते हैं, इनसे मानसिक रूप से जुड़ जाते हैं तो इसे ही भोग कहा जाता है। परन्तु जब मन और इन्द्रियों को अंतर्मुखी किया जाता है, जब इन्हें आत्मा तथा आराध्य से संयुक्त करते हैं, गुरु के चिन्तन में लगाते हैं तो उसे भक्ति कहा जाता है। आप चाहें तो इसके लिये शुद्ध 'प्रेम' शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं।

योगदर्शन के अन्तर्गत प्रेम के दो प्रकार माने गये हैं। पहला दिव्य या ईश्वर प्रेम है, तो दूसरे को सांसारिक, क्षणिक प्रेम के नाम से जाना जाता है। दूसरे के अंत में आप खाली हाथ रह जाते हैं, हताशा और निराशा आपके साथी होते हैं। जिस प्रकार मृगमारीचिका के पीछे दौड़ने वाले मृग की अंत में बालुका समाधि होती है। सांसारिक पदार्थों के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति भी समझता है कि आनन्द का स्त्रोत सांसारिक वस्तुओं में ही है। मृग की भाँति उसे भी घोर निराशा और पश्चाताप ही हासिल होता है। उसे लगता है चॉकलेट मीठी है, फूल सुन्दर है आदि-आदि। हम सब यही सोचते है कि हमें जो आनन्द मिलता है वह भोग्य वस्तुओं के आश्रित है। इसे सांसारिक प्रेम ही कहेंगे।

ऋषि-मुनि कहते हैं, आपको लगता है कि आपको जो आनन्द प्राप्त हो रहा है उसका स्त्रोत सांसारिक भोग्य पदार्थ हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। इस आनन्द का स्त्रोत तो आपके अपने भीतर होता है। प्रेम, आनन्द आदि आत्मा के गुण हैं। इसलिये जो लोग बाह्य वस्तुओं से आनन्द हासिल करना चाहते हैं उन्हें अपने मन और इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर उस आनन्द के स्त्रोत का

भीतर पता लगाना चाहिए। जब आपको इस सत्य का अहसास होने लगता है तो जो कुछ भी आप अभी तक बाहर अनुभव करते थे वह आपको अपने भीतर से आता लगेगा और पुन: आप अपने भीतर गहरे-से-गहरे में उतरने का प्रयास करेंगे।

जब आप भीतर की ओर झाँकते हैं, मन को अन्तर्मुखी करते हैं तो आपको एक प्रतीक की आवश्यकता होती है, जिस पर आप भटकने वाले मन को बार-बार वापस लाकर टिकाते हैं। यह प्रतीक गुरु, गोविन्द अथवा अन्य कोई भी देवी-देवता हो सकता है। ईश्वर तो नाम-रूप विहीन होता है। इसलिये आपके द्वारा निर्दिष्ट इष्ट देवता ही प्रतीक के लिये उपयुक्त माना जाता है। इष्ट देवता भले ही एक कल्पना हो, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि आपके पास यह जानने का कोई मापदंड नहीं होता कि पुस्तकों में आपने जो कुछ पढ़ा और जाना वह सही है या नहीं।

जो इष्ट देवता आप अपने लिये चुनते हैं वह आपकी आत्मा की एक कल्पना होती है। ऐसी दूसरी कल्पना गुरु की होती है। जब आप अपनी चेतना का उत्कर्ष कर भीतर की यात्रा पर निकलते हैं तो इनमें से किसी एक अथवा दोनों पर चेतना को टिकाते हैं। आप जैसे-जैसे प्रतीक तथा गुरु के प्रति सजग होते हैं, उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जब आप उनके और अपने बीच तादात्मय स्थापित करते हैं तो उस समग्र चेतना को भक्ति अथवा भक्ति योग कहते हैं।

भक्ति अलौकिक प्रेम को कहते हैं। इसे शब्दों द्वारा समझाना कठिन है। यह वह प्रेम नहीं है जिसमें आप अपने प्रेमास्पद के साथ मिलकर रहते हैं। यह तो समग्र चेतना अथवा सजगता होती है। यदि आपके मन और दिल में किसी की समग्र चेतना विद्यमान है तो समझिये आप भक्ति योग का अभ्यास कर रहे हैं।

भक्ति योग पर दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनमें पहला महर्षि नारद द्वारा तथा दूसरा महर्षि शांडिल्य द्वारा लिखा गया है। ये ग्रंथ कहते हैं कि समग्र भक्ति की अवस्था में चेतना का विलोप हो जाता है। जब सरिता सागर से मिलती है तो उसका नाम और सत्ता सागर में मिलकर तदाकार हो जाती है। इसी प्रकार जब मैं गुरु अथवा अपने निर्धारित इष्ट से इस सीमा तक प्रेम करता हूँ, उसकी याद में सब कुछ भूलकर खोया रहता हूँ तो मेरे और उसके बीच कोई अंतर नहीं रह जाता।

सूफी परंपरा में अनेक संत-महात्मा हुए हैं। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति 'सोफिया' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ विद्या अथवा दिव्य ज्ञान होता है। गालिब नाम के एक महान् सूफी कवि हुए हैं। उनका कहना है, "जब कुछ समय के लिये मैं तुम्हारे निकट होता हूँ तो मैं तुम्हारे तथा स्वयं के बारे में सचेत रहता हूँ। फिर एकाएक होता यह है कि मैं तो गुम हो जाता हूँ और केवल तुम्हीं तुम बचते हो। नहीं! नहीं! तुम खो जाते हो और मैं ही मैं रह जाता हूँ।"

अब चाहे मैं गुम हो जाऊँ और तुम बाकी रह जाओ अथवा तुम गुम हो जाओ और केवल मैं बच जाऊँ, दोनों बातें एक जैसी हैं। व्यष्टि और समष्टि चेतना का विलय इसमें से किसी भी प्रकार से दर्शाया जा सकता है। यहाँ समष्टि चेतना व्यष्टि चेतना को पूरी तरह अपने में समाहित कर लेती है, उसका विलय हो जाता है। यह घटना राग, कर्म अथवा ज्ञान योग में से किसी के भी माध्यम से घटित हो सकती है। परन्तु भक्ति योग इस विलय के लिये सुपरफास्ट ट्रेन का काम करता है।

भारत में इस सदी के प्रारंभ में एक महान् संत हुए थे। उन्हें रामकृष्ण परमहंस देव के नाम से जाना जाता था। स्वामी विवेकानन्द उनके परम प्रिय शिष्य थे। श्री रामकृष्ण स्वयं तो पढ़े-लिखे नहीं थे। मात्र तेरह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हो गया था। उस समय उनकी पत्नी की अवस्था लगभग आठ वर्ष रही होगी। बचपन से ही श्री रामकृष्ण माँ काली के प्रति समर्पित भक्त थे। उनका यह भक्तिभाव दिनोंदिन घनीभूत होता गया। काली के प्रति उनकी भक्ति इतनी तीव्र तथा एकनिष्ठ थी कि वे काली को माँ कहकर पुकारते थे। यदि आपने माँ काली का चित्र देखा हो तो उनके जैसा डरावना चेहरा और किसी देवी-देवता का नहीं देखा होगा। उनकी लाल लपलपाती जीभ, बड़ी-बड़ी लाल आँखें, कोयले जैसे काले गाल, क्रोधित मुखमुद्रा तथा गले में नरमुंडों की माला। एक हाथ में तलवार, दूसरे में मानव खोपड़ी से बूँद-बूँद टपकता खून। संक्षेप में, माँ काली का समग्र रूप रोम-रोम कँपा देने वाला होता है। परन्तु श्री रामकृष्ण इसी माँ काली के उपासक और परम भक्त थे।

वे कलकत्ता के दक्षिणेश्वर में माँ काली के पुजारी थे। रानी रासमणि ने, जिन्होंने इस मंदिर का निर्माण कराया था, उन्हें पुजारी के पद पर नियुक्त किया था। जब श्री रामकृष्ण माँ काली की पूजा-अर्चना करते थे तो कभी-कभी ऐसे क्षण आते थे जब वे स्वयं की सुध-बुध खो बैठते थे। भारत में पूजा की

एक पद्धति होती है। आप अगरबत्ती जलाते हैं, फूल चढ़ाते, आरती घुमाते, शंख और घंटी बजाते और आराध्य को भोग निवेदित करते हैं। अब जब श्री रामकृष्ण आरती उठाते तो दीपक को देवी के सामने घुमाने के बदले स्वयं अपने सामने घुमाते थे, अपनी ही आरती उतारते थे। अंत में काली को नैवेद्य लगाने के बदले भोग सामग्री को खुद ही खाने लगते थे।

यह समाचार रानी रासमणि को दिया गया कि पुजारी पागल हो गया है। देवी के प्रति उसका व्यवहार बड़ा विचित्र होता है। जब उनसे इसकी कैफियत माँगी गई तो श्री रामकृष्ण ने कहा, जब मैं माँ काली की पूजा-अर्चना करता हूँ तो मुझे मालूम रहता है कि यह माँ काली हैं और यह भी कि मैं 'मैं' हूँ। परन्तु थोड़ी देर बाद वह और मैं इस तरह एक-दूसरे में मिल जाते हैं कि मुझे पूजक और पूज्य का अंतर ही नहीं दिखता, सारा द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। अंत में देवी के प्रति एकनिष्ठ समर्पण और भक्ति के फलस्वरूप श्री रामकृष्ण का द्वैत भाव पूरी तरह समाप्त हो गया।

एक दिन मेरे ही सम्प्रदाय के एक महान् संन्यासी श्री रामकृष्ण के पास गये। उन्हें तोतापुरी कहते थे। उन्होंने दक्षिणेश्वर के इस पागल पुजारी के विषय में लोगों से सुन रखा था। तोतापुरी ने श्री रामकृष्ण को कुछ उच्च ज्ञान प्रदान करने का निश्चय कर लिया, क्योंकि अभी तक श्री रामकृष्ण मूर्तिपूजा ही करते थे और यह तोतापुरी की राय में पर्याप्त नहीं था। श्री रामकृष्ण को दीक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से वे उनसे मिलने दक्षिणेश्वर गये। जब दोनों मिले तो श्री रामकृष्ण ने प्रचलित भारतीय पूजा पद्धति द्वारा उनका पूजन किया तथा बड़ा मान-सम्मान दिया।

जब तोतापुरी ने श्री रामकृष्ण से कहा कि वह उन्हें अद्वैतवादी वेदांतिक ध्यान प्रक्रिया का प्रशिक्षण देना चाहते हैं, जिसमें चेतना निराकार होती है तो श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया, मैं यह सब कुछ समझ नहीं पाता। आप तो बस मुझे इसका अनुभव कराइये। तोतापुरी इसके लिये तैयार हो गये। उन्होंने कहा, 'पद्मासन में बैठ जाओ' इसके बाद वे श्री रामकृष्ण को यथार्थ के अद्वैत स्वरूप के विषय में बताने लगे। ईश्वर नाम-रूप विहीन यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है। जब श्री रामकृष्ण ने कहा कि इसका उन्हें कोई अनुभव तो नहीं होता तो तोतापुरी नाराज हो गये। उन्होंने काँच का टुकड़ा उठा लिया और श्री रामकृष्ण के भ्रूमध्य में उसके कोने को चुभो दिया। श्री रामकृष्ण केवल माँ कहकर चीख पड़े और गहरी समाधि में चले गये।

देखिये, इसे भक्ति कहते हैं। संसार में अनेक भक्त हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी शक्ति को अत्यन्त एकनिष्ठ तथा घनीभूत किया था। आपको अपनी साधारण भक्ति को धीरे-धीरे तीव्र करना चाहिये और फिर उसमें गुणात्मक सुधार लाना चाहिये।

भारत में सोलहवीं शताब्दी में एक लड़का था जिसका एक लड़की के साथ विवाह हुआ था। वह उसे बड़ा प्यार करता था। एक दिन जब वह घर लौटा तो देखा कि उसकी पत्नी घर पर नहीं है। वह नदी पार अपने मायके चली गई थी। वह पत्नी पर इतना आसक्त था कि पत्नी से अलग रहने की कल्पना ही नहीं कर सकता था। इसलिये वह तुरन्त ससुराल के लिये चल पड़ा। जब वह नदी के किनारे पहुँचा, रात का अंधकार घना हो चुका था और नदी में बाढ़ भी थी। उसने नदी में बहते शव को लकड़ी का लट्ठा समझ उस पर चढ़ नदी को पार कर लिया।

जब वह ससुराल पहुँचा तो रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। भारत में दामाद के लिये इस समय ससुराल का दरवाजा खटखटाना उचित नहीं माना जाता। छत में एक विषधर साँप लटक रहा था, जिसे रस्सी समझ नवयुवक ने पकड़ लिया और खिड़की के रास्ते पत्नी के कमरे के दरवाजे पर जा पहुँचा। तब पत्नी ने पति को बाहर साँप पकड़े देखा तो वह अत्यन्त भयभीत हो गई। उसे कमरे में लाकर उसने पूछा कि ऐसी भयावह अर्द्धरात्रि में वह वहाँ तक किस तरह पहुँचा। युवक पति ने कहा, "मैं नदी में एक लट्ठे पर बैठ कर इस पार पहुँचा और सौभाग्य से तुम्हारे पास आने में सफल हुआ हूँ।"

देखिये, इस युवक को अपनी पत्नी से कितना गहरा लगाव था। यहाँ तक कि उसे नदी में बहती मानव लाश लट्ठा और छत से लटकता विषधर साँप रस्सी लगा। परन्तु पत्नी ने फटकारते हुए कहा, "मैं अपने प्रति आपके प्रेम की तीव्रता की प्रशंसा करती हूँ। मुझे इस बात पर प्रसन्नता भी है, परन्तु मैं आपसे कुछ और भी कहना चाहती हूँ। यदि आप इतना ही प्रेम परमेश्वर से करें तो जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो सकते हैं। उस परम-सत्ता के साथ एकरूप हो सकते हैं।"

पत्नी की इस फटकार ने नवयुवक को झकझोर दिया। यह एक पतिव्रता नारी द्वारा अपने पति की बिजली के झटके जैसी चिकित्सा थी। उसकी आँखें खुल गईं। ऐसे ही झटके की आपको भी जरूरत है। यह उस समय होता है जब

कोई आपके सामने यथार्थ को बेपरदा कर रख देता है। पत्नी ने यही किया था। नवयुवक उसी समय उसे छोड़ बाहर निकल गया। आगे चलकर वह महान् कवि, युगद्रष्टा, ऋषि और समाज सुधारक बना। इस युवक का नाम गोस्वामी तुलसीदास था जिसने विश्व को रामचरितमानस जैसा महान् ग्रंथ प्रदान किया।

अपने मानस ग्रंथ के अंत में तुलसीदास लिखते हैं –

कामहि नारि पियारि जिमि, लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

इसे अनुराग या भक्ति कहते हैं, जो धीरे-धीरे रूपांतरित होकर इतनी ऊँची और घनीभूत होती है कि भक्त और भगवान तद्रूप हो जाते हैं।

प्रश्नोत्तर

हम भावनात्मक तथा इंद्रियाश्रित प्रेम को किस तरह आत्मसाक्षात्कार जैसे उच्च लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बना सकते हैं?

ईश्वर आपके भीतर-बाहर और कण-कण में सर्वत्र विद्यमान है। इस ईश्वर को पाने के लिये पहले शांतिपूर्वक प्रतिदिन आँखें बंद कर बैठिये, अपने जीवन दर्शन को नया रूप प्रदान कीजिये। फिर अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों को समझिये, उस पर चिन्तन-मनन कीजिये। इस स्थूल भौतिक शरीर का आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इस पर भी विचार कीजिये।

ऐसा कहा जाता है कि निष्ठापूर्वक की गई सच्ची भक्ति द्वारा भगवान मिलते हैं। आप भी अपने भीतर उनकी झलक देख सकते हैं। परन्तु कभी-कभी भक्ति योग बड़ा कठिन होता है, क्योंकि आप तो भक्ति के मामले में एकदम दिवालिया होते हैं। आपका प्यार, भक्ति, लगाव सबके सब बिखरे रहते हैं। सांसारिक आकर्षक वस्तुएँ ही आपको सब कुछ लगती हैं, परमप्रिय होती हैं। आप संसार की नश्वर वस्तुओं के पीछे भागते हैं, उनके लिये चीखते-चिल्लाते और क्या कुछ नहीं करते। अब जरा इस बात की खोज कीजिये कि वह कौन-सी वस्तु है जिसे आप दिलोजान से चाहते हैं, जिसके बिना आप एक पल भी नहीं जी सकते। जब आपको इसकी जानकारी हो जाये तो पता लगाइये कि उसका कितना अंश आप ईश्वर को समर्पित कर सकते हैं। क्या आप ईश्वर से उतना ही प्रेम कर सकते हैं, जितना अपने

बेटे अथवा किसी लड़की मित्र से करते हैं? क्या आप ईश्वर के लिये तड़पते हैं अथवा उसका उसी तरह स्मरण करते हैं, जैसा बैंक में जमा अपने धन का करते हैं। मैं आपके जीवन से ही ऐसे अनेक उदाहरण दे सकता हूँ जहाँ आप ईश्वर का स्मरण करना भूल गये थे, उसके लिए आपके पास थोड़ा भी समय नहीं था।

ईश्वर के प्रति हमारा प्रेम बौद्धिक स्तर का होता है, जबकि सांसारिक वस्तुओं के प्रति यह प्रेम सच्चा होता है। अब इस क्रम को उलट क्यों नहीं देते? यह जरा कठिन है। परन्तु यदि आप ऐसा कर सकें तो ईश्वर के प्रति आपका प्रेम वास्तविक और संसार के प्रति बौद्धिक होगा। क्या आप अपने पति अथवा पत्नी के साथ बौद्धिक प्यार कर सकते हैं? क्या बच्चों, बैंक में जमा धन-सम्पत्ति अथवा गरीबी के साथ बौद्धिक प्रेम कर सकते हैं? यदि आप ऐसा कर सकें तो फिर पलक झपकते ही आपको ईश्वर का अनुभव हो सकता है। इसके बदले आप ईश्वर के बारे में कितने ही बौद्धिक प्रवचन झाड़ें, कुछ होना-जाना नहीं है।

एक बार एक शिष्य ने गुरु से पूछा, "मैं अपने भीतर ईश्वर को कैसे देख सकता हूँ?" गुरु ने पूछा, "तुम ईश्वर के लिये चीख-पुकार क्यों नहीं मचाते?" दूसरे दिन शिष्य आश्रम के पवित्र एकान्त स्थान में जाकर चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा, "ईश्वर मुझे तुम्हारी चाह है, आवश्यकता है, मैं केवल तुम्हें ही चाहता हूँ।" वह बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता रहा, परन्तु कुछ हुआ नहीं। गुरु बोले, "बच्चे तुम्हारा नाटक बड़ा बढ़िया रहा।" फिर वह उसे एक यात्रा पर ले गये। दोनों एक नाव से जा रहे थे।

जब नाव बीच धारा में पहुँची तो गुरु ने धक्का देकर शिष्य को नदी में गिरा दिया। शिष्य डूबने लगा और हाथ उठा कर सहायता के लिये चीख-पुकार मचाने लगा। जब उसका दम फूलने लगा तो गुरु ने हाथ के सहारे उसे पानी से बाहर खींच लिया और पूछा, "क्या कभी तुमने इस प्रकार ईश्वर के लिये चीख-पुकार की थी?" अब शिष्य गुरु का आशय समझ गया।

आप केवल उनके लिये चीख-पुकार मचाते हैं जिन्हें आप प्यार करते हैं, परन्तु आप कैसे उस नाम-रूप विहीन ईश्वर से प्रेम कर सकते हैं जिसे आपने कभी देखा ही नहीं? कोई भी तो नहीं जानता कि वह गोरा है या काला, भूरा है या पीला। इसलिये सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतर को जाग्रत करे। पृथ्वी पर हमारा जन्म लेने का उद्देश्य भी तो यही

है। खाना, पीना, संतानोत्पत्ति और सुरक्षा आदि तो पशु भी करते हैं। परन्तु मनुष्य को उनसे ऊपर इसलिये रखा गया है कि उसके जन्म का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है। जैसे ही उसके मन में यह इच्छा उठे कि मैं कैसे ईश्वर को देख सकता हूँ? कैसे उस अंतिम सत्ता का अनुभव कर सकता हूँ? वैसे ही उसे इसकी साधना में लग जाना चाहिए।

भक्ति योग क्या है और हम इसका किस तरह विकास कर सकते हैं?

मनुष्य जीवन में प्रेम की चरम परिणति को भक्ति कहते हैं और यदि यह भक्ति अपने आप आये तो न मेरा प्रवचन सुनने की आवश्यकता है और न ही गीता, रामायण आदि ही पढ़ने की आवश्यकता है, क्योंकि आप तो जीवन के परम लक्ष्य को भक्ति के द्वारा पा ही चुके हैं, जीवन में विकास के एवरेस्ट पर पहुँच चुके हैं।

अपने भीतर भक्ति को विकसित करना कोई सहज कार्य नहीं है। भक्ति के मार्ग पर चलना बड़ा कठिन है। भक्ति अन्य विषयों की तरह सिखाई नहीं जा सकती। वह तो सहज ही भीतर से प्रकट होती है। आप बौद्धिक भक्त नहीं हो सकते। लोग इसी चक्कर में कहीं के नहीं रह जाते। जीवन में हर चीज सीखी जा सकती है, यहाँ तक कि निर्विकल्प समाधि भी बिना अधिक कठिनाई के सीखी और साधी जा सकती है। परन्तु भक्ति का अल्पांश भी इस तरह प्राप्त नहीं किया जा सकता। भक्ति वह आन्तरिक अनुभव है जो पलक झपकते आपको उस लोक में पहुँचा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भक्ति कैसे विकसित की जाये? श्री रामकृष्ण कहते हैं कि यदि अपने समग्र अनुभव को दिशांतरित किया जा सके तो भक्ति की उपलब्धि संभव है। जैसे आप स्वयं से, पति अथवा पत्नी से, बच्चों, धन-संपत्ति आदि से अलग-अलग बहुत प्रेम करते हैं। यदि आप इन सबके प्रेम के महायोग को प्रभु के चरणों में लगा सकें तो भक्ति देवी आप पर प्रसन्न हो सकती हैं। तुलसीदास भी श्रीरामचरितमानस में कहते हैं– *"सबके ममता ताग बटोरी, मम पद मनहिं बांध बर डोरी।"* तब प्रभु अभी और यहीं प्रकट होंगे। ज्ञानी के भगवान कहीं नहीं होते। किन्तु भक्त के भगवान कण-कण में विद्यमान रहते हैं। भक्ति, भक्त के कण-कण को बदल देती है। कहते हैं कि भक्त मात्र मानव ही नहीं होता।

तंत्र, राज, ज्ञान और कर्म योग सबके सब भक्ति रूपी मंजिल तक पहुँचाते हैं। जिस प्रकार हिमालय से निकलने वाली सभी नदियाँ सागर में लीन होती हैं, उसी प्रकार मनुष्य की समग्र चेतना, रहस्य, आत्मा, चेतन, अवचेतन मन सबके सब उसे जिस बिन्दु पर ले जाकर छोड़ते हैं उसे भक्ति कहते हैं। एक बार भक्ति प्राप्त हो जाये तो उसके आगे और कुछ भी प्राप्त करने को नहीं रह जाता। अत: भक्ति ही युक्ति है, जिसके माध्यम से आप नाम-रूप विहीन परमात्मा को पा सकते हैं।

कमजोर मन वाला व्यक्ति किस प्रकार वैराग्य विकसित कर सकता है?

वैराग्य विकसित करने के लिये आपको एक भिन्न प्रकार का दर्शन अपनाना होगा, जो आपका आधार बनेगा। जैसे, जब आप कोई कार्य कर रहे हों तो आपको अपने भीतर यह भावना विकसित करनी होगी कि वास्तविक कर्त्ता तो ईश्वर है, मैं तो मात्र निमित्त हूँ। प्रभु मुझसे यह कार्य करवा रहे हैं। इस प्रकार आप उस कार्य से अलग रहेंगे। यह आपका अहं आश्रित कार्य नहीं होगा, ईश्वर आश्रित होगा। सोचने का दूसरा तरीका यह हो सकता है कि कार्य हो रहा है, क्योंकि यह ईश्वर की इच्छा है, और इस प्रकार आप अपने भीतर धीरे-धीरे वैराग्य विकसित कर सकते हैं।

एक तीसरा तरीका और है, जिसे आत्म-विश्लेषण कहते हैं। योग में हम इच्छा को मन से जोड़ते हैं तथा मन को वैराग्य से। वैराग्य मन का गुण होता है; जैसे वासना उसका ही गुण होती है। मन इन विभिन्न वृत्तियों को विकीर्ण करता है। अब आपको करना यह है कि इनमें से मन की दु:खद वृत्तियों का अपकर्ष कर कुछ दूसरी वृत्तियों को आरोपित करें।

परन्तु योग में इसे नहीं माना जाता। अब भले ही आपका मन कमजोर हो अथवा मजबूत, उसके गुण के अनुसार आपको उसके विकिरणों को संतुलित करना पड़ेगा।

मान लीजिये, आप भावनाओं के दृष्टिकोण से अपरिपक्व हैं तो आपसे वैराग्य की बातें करने में कोई तुक नहीं होगा, क्योंकि आपका सभी वस्तुओं से लगाव होगा। आप एक पागल की तरह आकंठ राग में डूबे होंगे, वस्तुओं तथा व्यक्तियों से जुड़े रहेंगे। कभी-कभी आपको इस कारण झटके भी लगेंगे। इसके बाद ही कभी-कभार कुछ क्षणों के लिये आपमें वैराग्य का उदय होगा।

यह वैराग्य आपके सघन राग में से ही उपजेगा और इसी के साथ आपमें धीरे-धीरे संतुलन आयेगा।

प्रारंभ में यह वैराग्य बड़ा क्षणिक होगा। इसकी मात्रा भी बहुत थोड़ी होगी। आपकी वासनाएँ बड़ी तीव्र और व्यापक होंगी। परन्तु कभी-कभार भले ही कुछ क्षणों के लिये आपमें वैराग्य की हल्की-सी भावना भी उठेगी। इस प्रकार जब आप अपने तमाम रागों को लेकर आगे बढ़ेंगे तो रेगिस्तान में मरुद्यान की तरह वैराग्य की झलक भी पायेंगे। यह वैराग्य धीरे-धीरे बढ़ेगा। यह बात सभी पर लागू होती है, विशेष रूप से पूर्व के लोगों पर।

माया क्या है?

माया मन के गुण अथवा अवस्था को कहते हैं। जब मन सांसारिक वस्तुओं से खेलता है, उन्हें महत्त्व देता है (जैसे, यह मेरी माँ हैं, यह मेरे पिता हैं, दुश्मन है, मित्र है, बुरा व्यक्ति है, अच्छा है, मैं इसे प्रेम करता हूँ, उससे घृणा करता हूँ आदि-आदि) तब माया हमारे मन पर एक संस्कार छोड़ती है। जब मन किसी खास विधि से व्यवहार करता है तो उसे माया कहते हैं। इस प्रकार माया मन का एक गुण है।

जब मन संसार की नश्वर वस्तुओं के पीछे भागता है तो उसे माया कहते हैं। माया को एक प्रकार का स्नायविक रोग कह सकते हैं। देखिये, मन के दो भिन्न गुण होते हैं – स्नायविक रोग और मनोव्याधि (न्यूरोसिस और साइकोसिस)। मान लो यहाँ कुछ भी नहीं है, परन्तु फिर भी मायावश हम मानते हैं कि कुछ है, तो इसे अविद्या माया कहते हैं। इसे ही सायकोसिस भी कहते हैं। इसके विपरीत कुछ मौजूद है, परन्तु मन कहता है कि यह नहीं वह है, तो इसे स्नायविक व्याधि अथवा न्यूरोसिस कहते हैं। इसे भी माया ही कहेंगे।

माया का आधार भ्रम है, परन्तु अविद्या का आधार भ्रम नहीं है। अब मानलो यहाँ कुछ भी नहीं है। परन्तु आपको भूत-पिशाच नजर आते हैं तो इसे अविद्या माया या साइकोसिस कहेंगे। मान लो रास्ते में रस्सी पड़ी है, परन्तु उसे आप साँप मान लेते हैं तो उसे माया कहते हैं। अंधकार में आप रस्सी को साँप मानकर भय के मारे साँप-साँप कहकर भागने लगते हैं तो ये हुई माया। ये सबके सब मन के व्यापार हैं, गुण हैं।

सच्चा वैराग्य

इसके पूर्व कि आप यह समझें कि सच्चा वैराग्य किसे कहते हैं, आपको राग की महानता और महत्त्व को समझना होगा। राग कोई बुरी, डरावनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है। राग ही आध्यात्मिक जीवन में छलांग लगाने का मंच है। परन्तु जब आप परिपक्वता प्राप्त करने के पूर्व ही राग को बलपूर्वक भंग करते हैं तो राग पूरी शक्ति के साथ पुन: लौट आता है।

सबसे पहले तो अपने विचार दर्शन में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। जीवन, वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को ठीक-ठाक कीजिये। अब किसी के प्रति मुझमें तीव्र राग है तो इसमें बुराई ही क्या है? यदि आपमें से किसी के साथ मेरा लगाव है तो क्या यह बुरा है? आप दु:ख और पीड़ा में हैं तो स्वाभाविक है कि मुझे भी इसकी चुभन का अनुभव होगा, दु:ख होगा। यदि आप प्रसन्न हैं, तो मैं भी आपके सुख में सुख का अनुभव करूँगा और दु:ख में दु:ख का। इस प्रकार कम-से-कम मैंने उस व्यक्ति के साथ तादात्म्य तो स्थापित कर लिया है जिससे मुझे अनुराग है।

माँ को अपने बेटे से बड़ा लगाव होता है। वह ममता की डोर से बेटे से जुड़ी होती है। इसी प्रकार लड़के को कम उम्र लड़की के प्रति आकर्षण खींचता है। यह सम्बन्ध-सूत्र समाज को एकजुट रखने में बड़ी अहम् भूमिका अदा करता है। इसे एकाएक झटके के साथ नहीं तोड़ना चाहिए। सुखी घर तथा परिवार की स्थापना में इसका बड़ा महत्त्व होता है। इससे समाज और समुदाय फलते-फूलते हैं। अत: जब आप किसी व्यक्ति के प्रति लगाव, ममता अथवा राग की अभिव्यक्ति करते हैं तो आप एकता को बढ़ावा देते हैं, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यदि आपका अपने गुरु से लगाव है तो उनके तथा आपके बीच बहुत जल्दी एक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित हो सकता है। आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व

एक दिन मैं मध्य भारत के एक स्थान पर सत्संग दे रहा था। रात्रि में एक महिला मेरे कमरे में दौड़ी आई। वह बहुत घबरायी हुई थी। उसने कहा कि अभी-अभी मुझे ऐसा लगा कि मेरा बच्चा बीमार है। मैंने उससे पूछा कि यह उसे कैसे मालूम पड़ा? वह बोली कि जैसे ही मैं सोने जा रही थी कि मुझे अपने बच्चे का बीमार चेहरा नजर आया। वह चिल्ला रहा था और मुझे लगा कि उसका शरीर बहुत गरम है। बात सचमुच ऐसी ही थी। उस समय उसके बच्चे को तेज बुखार था। बच्चा अपनी माँ से पाँच सौ मील दूर था, परन्तु उसके प्रति गहरी ममता के कारण माँ को उसकी दशा का प्रत्यक्ष अनुभव हो सका था।

मन की चंचल वृत्तियों को व्यवस्थित तथा शांत करने के पूर्व यह जरूरी है कि आप राग अथवा ममता के दर्शन को अच्छी तरह समझें, उसे जीवन में स्थान दें। जिनसे आपका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, जो सर्वथा अपरिचित हैं उनके साथ भी लगाव रखिये, आत्मीयता का अनुभव कीजिये। आपके उत्तरोत्तर विकास का यही राजमार्ग होगा। इसके बाद उन लोगों के प्रति लगाव बढ़ाइये जो आपको जरा भी पसंद नहीं करते। फिर उनकी ओर बढ़िये जो आपसे घृणा करते हैं। इस प्रकार राग में से ही धीरे-धीरे वैराग्य का उदय होगा, वह बढ़ेगा और स्थायी होगा।

मैं यहाँ सच्चे वैराग्य की चर्चा कर रहा हूँ। उस वैराग्य की नहीं जिसके बारे में आप लोग चर्चा करते हैं। एक बार जब सच्चे वैराग्य का उदय हो जायेगा तो राग की पुन: वापसी का सवाल ही नहीं उठता। आप वैराग्य से च्युत नहीं होंगे, क्योंकि आपके दिल में हर किसी के प्रति लगाव होगा, शत्रु, मित्र, परिचित, अपरिचित यहाँ तक कि उनके लिये भी जो आपसे घृणा करते हैं। इस दायरे में न केवल मनुष्य, बल्कि हर जड़ या चेतन वस्तु आ जायेगी। यह सब आपको धीरे-धीरे साधना होगा, एकाएक नहीं।

इस प्रकार आप उस बिन्दु पर पहुँचेंगे जहाँ से आपके भीतर वैराग्य का उदय प्रारंभ होगा। परन्तु अभी तो हालत यह है कि आपको असली वैराग्य क्या है इसका कुछ भी ज्ञान नहीं है। आप तो बस इतना जानते हैं कि जब मन किसी व्यक्ति अथवा वस्तु से विमुख होता है तो उसे ही वैराग्य की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु किसी के प्रति आपके मन में लगाव के अभाव को वैराग्य नहीं कहा जा सकता। तो फिर वैराग्य है क्या? जब आपको किसी के प्रति राग अथवा ममता जरा भी प्रभावित न कर पाये तो उसे वैराग्य कहेंगे। ओह! आप तो बड़े बुरे व्यक्ति हैं, दूर हटिये, मैं आपके साथ जरा भी नहीं रहना चाहता।

हम मित्र तो रहेंगे, परन्तु हमारे बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। हम हर इतवार अथवा छुट्टी के दिन मिलते रहेंगे। यह तो कोई वैराग्य नहीं हुआ। इसे तो मनोवैज्ञानिक विभ्रम ही कहा जायेगा। इसे मन का बाहरी व्यवहार ही कहा जा सकता है।

वैराग्यवान् व्यक्ति में प्रेम लबालब भरा रहता है। उसके चरित्र में सबकी अधिक-से-अधिक भलाई का गुण छुपा रहता है। वह सबके साथ एकता का अनुभव करता है, सब उसके आत्मस्वरूप होते हैं। वह अजातशत्रु होता है। वैराग्य का अर्थ होता है कि मेरा आपसे गहरा लगाव तो है, परन्तु मैं स्वयं उससे पूरी तरह अप्रभावित हूँ। यदि आप बीमार हैं तो मैं आपके लिए डॉक्टर बुलाऊँगा, दवाई लाऊँगा। भूखे हैं तो आपके लिये भोजन की व्यवस्था करूँगा। यदि आप सड़क पर शराब पीकर बेहोश पड़े हैं तो मैं आपको उठाकर घर पहुँचाऊँगा और यदि आप किसी मुसीबत में पड़ गये हैं तो आपको उससे उबारने की हर संभव कोशिश करूँगा। परन्तु आपकी इन बातों से मैं जरा भी प्रभावित नहीं होऊँगा। यह मेरा सच्चा वैराग्य होगा।

आज से पचास वर्ष पूर्व हम दूसरों के लिये जिस प्रेम और आकर्षण का अनुभव करते थे वह आजकल कहीं भी देखने को नहीं मिलता। इसका क्या कारण है?

प्रेम, लगाव और आकर्षण परिस्थितिजन्य होते हैं। ये सब मनुष्यों तथा पशुओं में पाये जाते हैं। परन्तु आजकल तो परिस्थितियाँ ही बदल चुकी हैं। हर व्यक्ति अपनी रोजी-रोटी में सूर्योदय से सूर्यास्त तक जुटा रहता है। उसे दम मारने की फुर्सत कहाँ है। आप इतने थक-चुक जाते हैं, आपकी शक्ति इस कदर निचुड़ जाती है कि अपने बीबी-बच्चों के सिवाय किसी के बारे में भी सोचने के लिये आपके पास समय नहीं होता। भूतकाल में लोग खेती-किसानी करते और परिवार में सबके साथ रहते थे। आपस में भावनाओं का आदान-प्रदान होता था। एक सबके लिये और सब एक के लिये जीते-मरते थे। परन्तु आजकल तो पति कारखाने में काम करने जाता है, पत्नी किसी ऑफिस में काम करती है या घर पर रहती है। शाम को आप थककर विभिन्न चिन्ताओं और परेशानियों का मानसिक बोझ लेकर घर लौटते हैं। घर पर भी आप इधर-उधर फोन पर फोन करते, स्वागत समारोहों में जाने की तैयारी करते तथा पुन: देर रात गये घर लौटते

हैं। इस प्रकार परिवार के लोगों के लिये आपके पास समय ही कहाँ बचता है? ऐसी स्थिति में पारिवारिक आदान-प्रदान तथा कुशलक्षेम के लिये स्थान ही कहाँ रह जाता है।

इन सबके परिणामस्वरूप आप प्रेम, ममता और स्नेह का प्रदर्शन नहीं कर पाते। ऐसी बात नहीं है कि आपके हृदय में इनका स्रोत सूख गया है। परन्तु इनकी अभिव्यक्ति के लिए आपके पास समय ही नहीं होता। बच्चे भी आपसे खुलकर मिल नहीं पाते, क्योंकि सुबह जब आप काम पर जाते हैं, वे सोये रहते हैं और जब देर रात गये आप घर लौटते हैं तो वे सो चुके होते हैं। भारत में यह स्थिति इतनी भयावह नहीं है जितनी पश्चिम के देशों में पाई जाती है। सप्ताहांत में आप बच्चे से घुलमिल सकते हैं। बस, इन्हीं दो दिन आप उनके प्रति अपने प्रेम और ममता का प्रदर्शन कर सकते हैं। आये दिन व्यक्तित्व सम्बन्धी जिन समस्याओं का सामना लोगों को करना पड़ता है उसका कारण भी यही है, क्योंकि हम अपने बच्चों को जरूरी प्रेम, ममता और निकटता प्रदान नहीं कर पाते। इसके सिवाय बच्चे भी अब बड़े व्यस्त रहने लगे हैं। उन्हें भी आपकी आवश्यकता कम ही होती है। यही वे परिस्थितियाँ हैं जो समाज के ढाँचे को ही तेजी से बदल रही हैं। भारत में तो नहीं, परन्तु पश्चिम के देशों में बड़ा परिवर्तन आया है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि आज का आदमी जीने का कोई दूसरा विकल्प खोज रहा है। भले ही उसे इसकी कोई जानकारी न हो, परन्तु अनजाने ही उसकी तलाश जारी है। अब यह विकल्प क्या हो सकता है? इसका मतलब शायद यह है कि एक साथ तो रहो, अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करो, परन्तु किसी के साथ ममता या लगाव न रखो। वैराग्यपूर्ण रहो। संसार में रहो, विषयों को भोगो, परन्तु उनसे प्रभावित मत होओ। मुझे जीने का यही वैकल्पिक तरीका लगता है जिसे आज के लोग अपना रहे हैं। मुझे एक नई संस्कृति विकसित होती दिख रही है। हो सकता है यह संस्कृति निकट भविष्य में पूरी तरह विकसित न हो, परन्तु चार-पाँच सौ वर्षों बाद अवश्य छा जायेगी। लोग एक साथ रहेंगे, परन्तु आपस में लगाव नहीं रखेंगे, मानो होटल में रह रहे हों।

ऐसा जीवन जीने के लिये आपको योग को अपना आधार बनाना होगा। अब यदि आप इस संसार को परिवार तथा घर को एक साथ रहने वाला होटल माने, जहाँ एक को दूसरे से कुछ लेना-देना न हो तो आपके समक्ष

किसी आध्यात्मिक लक्ष्य का होना जरूरी है। इस लक्ष्य के अभाव में आपके समक्ष अनेक मनोवैज्ञानिक समस्यायें उठ खड़ी होंगी। इसी कारण आज पश्चिम के लोग योग की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रहे हैं, क्योंकि योग उनके जीवन को एक उद्देश्य प्रदान करता है, मूल्य देता है। नहीं तो प्रश्न उठता है कि मैं बीबी-बच्चों के साथ क्यों रहता हूँ। बच्चे सोचते हैं, हम क्यों रह रहे हैं? उन्हें कोई उद्देश्य ही दिखलाई नहीं पड़ता। इसलिये क्यों न आत्महत्या कर जीवन पर तत्काल पूर्णविराम लगा दिया जाये? परन्तु यदि उन्हें जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्य का पता लग जाये तो सब कुछ ठीक-ठाक हो जायेगा।

इतिहास के वर्तमानकाल के विषय में आप क्या सोचते हैं?

मानवता का इतिहास उसके आध्यात्मिक अभ्युदय की कहानी कहता है। आदिम युग से आज तक मनुष्य जीवन की पहेली का हल खोजता रहा है और आज भी वह उस अज्ञात रहस्य पर से पर्दा उठाने का प्रयत्न कर रहा है।

कुछ शताब्दियों पूर्व जीवन निरापद चल रहा था। लोग कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक साधना करते थे। परन्तु हाल के दो-तीन सौ वर्षों से हमारे समाज को जाने क्या हो गया है। आदमी भौतिकवादी हो गया है तथा उसका मन बड़ा बहिर्मुखी हो गया है। लोगों के मन पर भोग्य पदार्थों का नशा छा गया है। जब से मनुष्य का मन बाहरी वस्तुओं के पीछे दौड़ने लगा है, उसके भीतर एक प्रकार की वेदना छा गई है।

आदमी जितना बहिर्मुखी होगा उतना ही दुःखी और बेचैन होगा। इसलिये विगत दो-तीन दशाब्दियों से इस दिशा में कुछ नया परिवर्तन आया है। मनुष्य अब आत्म-साक्षात्कार के बारे में भी सोचने और प्रयत्न करने लगा है। ऐसा पहले नहीं हुआ था। अब उसे यह अनुभव होने लगा है कि जिस तरह उसके पुरखे रहते थे और जिस तरह आज का समाज चल रहा है, वह सुख और शांति के लिये आदर्श माहौल नहीं हो सकता।

हमारे चारों ओर जो लोग हैं वे बड़े दुःखी हैं, परन्तु ऐशो-आराम तथा धन-संपत्ति की बहुलता के बीच जी रहे हैं। इतना सब होते हुए भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन में और भी कुछ जोड़ने अथवा कम करने की आवश्यकता है। कुछ बदलने की आवश्यकता है। यदि हम किसी बीमारी से

पिछले कुछ समय से पीड़ित हैं और एक खास प्रकार की ही खुराक लेते रहे हैं तो आज इसमें परिवर्तन करने की जरूरत है। मान लीजिये, एक व्यक्ति एक खास ढंग से जीवनयापन कर रहा है और इससे यदि उसके सामने एक के बाद दूसरी समस्या उपस्थित हो रही है तो उस जीवनशैली में परिवर्तन अवश्य करना चाहिए। यही कुछ आज हमारे युग के लोगों के साथ भी हो रहा है।

मैं तो यह कहूँगा कि हमारा वर्तमान युग आध्यात्मिक उत्थान का युग है। आज का मानव एक चौराहे पर खड़ा है। आप कहते हैं दाहिनी ओर जायें तो मैं कहता हूँ, नहीं-नहीं, सीधा सामने रास्ते पर चलो। तीसरा कहता है, पीछे मुड़ो, तो चौथा कह रहा है, बायीं ओर के रास्ते पर चलो। अब निर्णय तो आपको स्वयं लेना है कि किधर जायें। यदि आप वापस लौटते हैं तो आपको मालूम ही है कि यहाँ आपको क्या मिलेगा। परन्तु अन्य दिशाओं में क्या है, आपको मालूम नहीं है।

सब साधु-संतों, युगद्रष्टा ऋषियों, धर्मों और धर्मशास्त्रों तथा चिन्तकों ने एक ही बात कही है–संसार में रहिये, क्योंकि आपको एक भौतिक शरीर मिला है, परन्तु आपका आधार आपकी आत्मा होनी चाहिये। आज तक किसी ने भी इस बात को काटा नहीं है। यही एक बात भिन्न-भिन्न रूपों में समय-समय पर सभी के द्वारा कही गयी है। अब यह आध्यात्मिक आधार क्या है? अपने मन को सब तरफ से खींचिये और अपने आध्यात्मिक स्तर के प्रति सचेत रहिये। मुझे पूरा विश्वास है कि यह क्रांतिकारी विचार धीरे-धीरे बढ़ेगा, व्यापक होगा और सभी को अपने दायरे में समेट लेगा।

पारिवारिक सम्बन्ध

मैं नहीं जानता कि बिना आपसी लड़ाई-झगड़े के दो लोग कैसे एक साथ रह सकते हैं। परन्तु मैं एक बात अच्छी तरह जानता हूँ कि जहाँ आपस में प्रेम होता है वहाँ किसी बात का अभाव नहीं होता, आपसी लड़ाई और असहमति प्रेम का नाश नहीं कर सकते। आपसी मतभेद होने पर भी आपस में प्रेम करने वाले दो व्यक्ति निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु परस्पर प्रेमभाव होना जरूरी है। इस प्रेम का यौन अनुभव अथवा मन की गुणवत्ता आदि से कुछ लेना-देना नहीं होता। सच्चे प्रेम को शब्दों में समझना कठिन है।

यदि दो लोग एक-दूसरे की पूर्ण चेतना के साथ मिलन के क्षण से मृत्यु के क्षण तक रहें तो उसे प्रेम कहते हैं। प्रेम में क्षय अथवा क्षरण नहीं होता। कभी-कभी व्यक्तिगत समस्यायें और परिस्थितियाँ इस प्रेम पर बादल की तरह छा जाती हैं। परन्तु प्रेम में यह क्षमता होती है कि वह इन बादलों को उड़ाकर पुन: अपना आलोक बिखेरने लगता है। अत: स्त्री-पुरुष अथवा पति-पत्नी के बीच सर्वप्रथम प्रेम की स्थापना जरूरी है। जहाँ प्रेम होगा, तलाक के लिये कोई स्थान नहीं होगा। जहाँ पति-पत्नी के बीच एक-दूसरे की आदतों को लेकर असंतोष होगा, यौन अतृप्ति होगी वहाँ ही तलाक का प्रश्न उठता है। जहाँ आपसी समझबूझ का अभाव होगा वहीं तलाक को उपचार के रूप में अपनाने की आवश्यकता उत्पन्न होगी। जिस संस्कृति और समुदाय में भावनात्मक अनुशासन होगा वहाँ लोग समझेंगे कि तलाक किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त वह अन्य समस्यायें उत्पन्न करता है।

पता नहीं आपके विचार क्या हैं, परन्तु मेरी यह मान्यता है कि प्रकृति ने एक पुरुष के लिये एक स्त्री तथा एक स्त्री के लिये एक पुरुष का निर्माण किया है। यह केवल प्रेम और सेक्स के दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि दूसरे अनेक

दृष्टिकोणों से भी ठीक है। अब भले ही आप अनुशासन में न हों, पुरुषत्व और स्त्रीत्व के महत्त्व को न माने, आपके लिये सेक्स पशु प्रवृत्ति से अधिक कुछ और न हो, तो तलाक को टाला नहीं जा सकता। आप उसे घूम-फिरकर अवश्य अपनायेंगे। मैं जानता हूँ तलाक कोई नहीं चाहता, परन्तु चूँकि लोग सच्चे प्रेम को ही नहीं जानते-समझते, इसलिए तलाक की घटनायें बार-बार घटेंगी।

आधुनिक समाज में यदि किसी को सबसे अधिक गलत समझा गया है तो वह प्रेम है। कर्त्तव्य, समर्पण और समझदारी सबके सब प्रेम के विभिन्न प्रकार हैं। सेक्स प्रेम से भिन्न है। मुझे सेक्स के विषय में अधिक जानकारी तो नहीं है, परन्तु शायद आप मुझसे इस बात पर सहमत होंगे कि प्रेम प्रेमास्पद के गुण-अवगुण नहीं देखता। भले ही मित्र निपट निरक्षर हो, अज्ञानी हो, बुरा, निषेधात्मक विचारों वाला हो, मैला-कुचैला, कुछ भी क्यों न हो, आप उसे प्यार करेंगे। यह देखकर लोग अचंभा करेंगे और कहेंगे, देखो कितना गंदा व्यक्ति है, परन्तु वह इसे ही प्यार करती है। कितनी मैली-कुचैली स्त्री है, परन्तु वह इसे कितना हृदय से प्यार करता है।

वासना, यौन और प्रेम, ये तीन तत्त्व हैं जो मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित और नियमित करते हैं। आपको और बच्चों को तथा विशेष रूप से उनको जिन्होंने तलाक नहीं लिया है, यह बात भली-भाँति समझनी चाहिए। आप उपर्युक्त में से एक, दो अथवा तीनों तत्त्वों को व्यवहार में लाइये, परन्तु सेक्स को प्यार मानने की गलती कतई न कीजिये। आप यौन सम्बन्ध के बिना भी एक-दूसरे से आजीवन प्रेम कर सकते हैं। जरूरी नहीं कि प्रेम करने वाले दो व्यक्तियों के बीच शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो। इसके विपरीत यौन सम्बन्ध के होते हुए भी प्रेम का अभाव रह सकता है। इसी प्रकार प्रेम और सेक्स के अभाव में भी वासना का अस्तित्व हो सकता है।

आधुनिक समाज में उपर्युक्त तीनों तत्त्वों को बड़ा गलत समझा गया है और इनके महत्त्व का क्रम बड़ा गड़बड़ा गया है। सबसे पहले भले ही अपने हित में नहीं, बल्कि बच्चों के हित में पति-पत्नी के बीच में प्रेम की स्थापना हो। जरूरी नहीं कि प्रेमालिंगन और चुंबन द्वारा ही इस प्रेम को प्रकट किया जाये। आपको दोनों के बीच एक सम्बन्ध सूत्र खोजना होगा, जैसे–साहित्यिक चर्चा, पेंटिग, योग, सैर-सपाटा, खेलकूद, राजनीति आदि। जब आप इस प्रकार दोनों की दिलचस्पी का क्षेत्र खोज लेंगे तो एक साथ बैठेंगे, चर्चा करेंगे और अधिकाधिक एक दूसरे की निकटता अनुभव करेंगे।

फिर पति और पत्नी आपस में एक-दूसरे की क्षमता और प्रतिभा का पता लगायेंगे। आपको एक-दूसरे में कुछ-न-कुछ असाधारण विशेषता ढूँढ़ निकालनी होगी। याद रखिये, यदि आप अपनी पत्नी में विश्व सुंदरी अथवा पति में चैंपियनों का चैंपियन खोजने की कोशिश करेंगे तो आपको केवल निराशा हाथ लगेगी। आपका आपसी प्यार कपूर की तरह उड़ जायेगा, उथला होगा, मामूली-सा झटका उसे डगमगा देगा। ऐसे बच्चे जिनके माता-पिता गहरे प्यार से एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, स्वस्थ संतुलित तथा सर्वांगीण व्यक्तित्व के धनी होते हैं। वे अपने माता-पिता पर गर्व करते हैं।

शायद आपको मालूम होगा कि सुकरात अपनी पत्नी को कितना प्यार करता था। वह यूनान का विख्यात दार्शनिक था। वह जब भी साग-सब्जी लेने बाजार जाता तो रास्ते में मित्रों से ब्रह्मविद्या पर दार्शनिक चर्चा करता था। वह घर से सुबह निकलता और शाम तक लोगों से चर्चा ही करता रहता था। उसकी पत्नी प्रतीक्षा करते-करते थक जाती तथा बेचैन हो जाती थी। वह सुकरात की सभा में पहुँचती और उसे एक चपत जमा देती थी। वह कहती, "गंदे कहीं के, मैंने तुम्हें सब्जी लाने भेजा था और तुम यहाँ योग, ब्रह्मविद्या और न जाने किन-किन बातों में व्यस्त हो।" सुकरात बहुधा अपने मकान के सामने ड्योढ़ी में बैठ जाता और वहाँ से गुजरने वाले लोगों से बातें करता। आस-पास ऊपर की मंजिलों में रहने वाले लोग उसकी इन हरकतों से परेशान हो उसे भला-बुरा कहते थे। वे उसे सुस्त, कामचोर और दो कौड़ी का आदमी कहकर अपना क्रोध उतारते थे। परन्तु इन सबका सुकरात पर कोई असर नहीं होता था। उसके कार्यक्रम यथावत् चलते रहते थे। पता है बाद में उसकी पत्नी ने क्या किया? वह दौड़ी-दौड़ी भीतर गई और एक घड़ा पानी लाकर सुकरात पर उड़ेल दिया। इस पर वह कहता है, "अभी तक तो बादल गरजते ही थे, परन्तु अब देखो, वे बरसने भी लगे हैं।" उसकी पत्नी ने इस प्रकार अनेक बार उसके प्यार की कड़ी परीक्षा ली। आपकी पत्नी भी इस प्रकार आपके दिल में उसके लिये प्यार है या नहीं, इस बात की परीक्षा लेती है। अब आप चाहें तो इसमें खरे उतरें अथवा नकारा सिद्ध हो जायें।

आजकल के पारिवारिक जीवन में मुझे अनेक त्रुटियाँ नजर आती हैं। पत्नी, पति से झगड़ा करती है और चाहती है कि सबके सब बच्चे उसके पक्षधर बने। पिता भी अपनी ओर से यही कोशिश करता है। परिवारों में इस तरह दलबंदी और दलबदल चला करती है। अब बेचारे बच्चे माँ-बाप की इस आपसी रस्साकशी

के शिकार बनते हैं। वे सोचते हैं कि घर के ऐसे माहौल की अपेक्षा सड़कों पर रहना ही बेहतर होगा, क्योंकि घर का नारकीय वातावरण उनकी सहनशक्ति के बाहर हो जाता है। अब वे घर में केवल भोजन और शयन के लिये आते हैं।

चूँकि मैं पारिवारिक जीवन का जानकार स्नातक तो नहीं हूँ जो इसकी प्रत्येक बारीकी पर विस्तारपूर्वक मत दूँ, परन्तु मैं जिस एकमात्र बात को समझाने का प्रयास कर रहा हूँ वह यह कि वस्तुत: सच्चा प्रेम क्या है। अभी तक मैंने प्रेम की जितनी परिभाषायें पढ़ी और जानी हैं उन सबको मैंने अस्वीकृत कर दिया है जहाँ दिल आपस में जुड़े हों वहाँ प्रेम होता है। जरूरी नहीं कि पति-पत्नी के बीच यौन सम्बन्ध हमेशा कायम रहे, परन्तु उनके हृदय आपस में जुड़े रहने चाहिये। उनकी महत्त्वाकांक्षायें, जिम्मेदारियाँ, आपसी सूझबूझ आदि बनी रहें। यह सबसे अधिक महत्त्व की बात है।

मेरी दृष्टि में तो सबसे महत्त्व की बात आपसी प्रेम का बना रहना है। सेक्स तो इस प्रेम का मात्र उपोत्पाद (बाइ प्रॉडक्ट) है। वह तो प्रेम का पर्याय हो ही नहीं सकता। बस, पश्चिम के प्रत्येक स्त्री-पुरुषों को यह बात अच्छी तरह समझनी चाहिए। उन्हें यह भ्राँत धारणा एकदम हटा देनी चाहिए कि सेक्स ही प्यार है। सेक्स को आप कैसे प्रेम का बैरोमीटर बना सकते हैं? यदि आप लोग अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करें तो आपका पारिवारिक जीवन शान्तिपूर्ण, संतुलित और आदर्श बन सकता है।

इसके लिये प्रत्येक पति-पत्नी को आसन, प्राणायाम, जप, ध्यान और कीर्तन का अभ्यास करना चाहिए। वे एक साथ खाते, खेलते, सोते और बात करते हैं तो फिर एक साथ योगाभ्यास, जप और ध्यान क्यों नहीं कर सकते। जब आप एक साथ ध्यान करने बैठेंगे तो आकाश में किसी स्थान पर आपकी मस्तिष्कीय तरंगें आपस में मिलेंगी और आप दोनों के मस्तिष्क एक ही स्वस्थ दिशा में मिलकर कार्य करने लगेंगे। इसके विपरीत जब इन तरंगों में गति भिन्न होगी तो आपसी मतभेद और कलह अवश्य उत्पन्न होंगे। इसके साथ-साथ दोनों का एक गुरु के साथ संबंधित होना भी आवश्यक है, क्योंकि गुरु आपके आध्यात्मिक जीवन के संरक्षक तथा पथ प्रदर्शक होते हैं। ऐसे अनेक लोग हैं जो आध्यात्मिक जीवन में गुरु की कोई जरूरत नहीं मानते। हो सकता है कुछ वर्षों बाद यही लोग यह भी कहने लगें कि पत्नी की भी कोई जरूरत नहीं है और इसके भी आगे एक दिन यही लोग कहेंगे कि किसी भी वस्तु की जरूरत नहीं है। परन्तु यह गलत है।

यह एक अहंवादी व्यक्ति के लिये भले ही ठीक हो; परन्तु एक आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिये ठीक नहीं हो सकता। अपने मातृ और पितृ प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये संतान का होना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रणय की अभिव्यक्ति के लिये स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिये स्त्री की जरूरत पड़ती है। ठीक इसी प्रकार भक्ति और समर्पण की अभिव्यक्ति के लिये भी एक गुरु की सबको आवश्यकता होती है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ का एक गुरु होना जरूरी है। उसके माध्यम से वे अपने प्रेम को विकसित कर सकते हैं। कभी भी प्रेम को सेक्स के समतुल्य मानने की गलती न करें।

भारत में हमारी मान्यता है कि माता-पिता के आदर्श पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन का फल संतान होती है। यदि आपके बच्चे रास्ते से भटक गये हैं तो इसके लिये आप जिम्मेदार हैं, यदि वे अपराधी बने हैं तो आपके कारण। आपकी असफलता का कारण आपका धर्म, संस्कृति और सभ्यता है। ये तीनों समाज का निर्माण करते हैं। समाज परिवार को स्वरूप देता है और परिवार बच्चों को जन्म देता है। पुन: ये बच्चे नयी संस्कृति सभ्यता और धर्म का निर्माण करते हैं। पूरे संसार को जल्दी-से-जल्दी इस विषय पर नये सिरे से सोच-विचार करने की आवश्यकता है। नाभिकीय युद्ध के खतरे उतने भीषण नहीं है जितने आजकल के टूटे-बिखरे पारिवारिक जीवन और अस्त-व्यस्त आपसी सम्बन्ध।

प्रश्नोत्तर

प्रेम क्या है?

मेरे लिये प्रेम की दो टूक परिभाषा देना बड़ा कठिन है। परन्तु मैंने उस प्रेम का अनुभव आज तक नहीं किया है जिसे लोग सामान्य भाषा में प्रेम कहते हैं। पूरे संसार में जहाँ भी मैं जाता हूँ मुझसे लोग पूछते हैं, प्रेम क्या है? इसलिये मैंने इस विषय पर गहराई से मनन-चिन्तन किया है। मैं हमेशा 'योग' शब्द का उपयोग करता हूँ जिसका अर्थ 'जोड़ना' होता है। और यदि प्रेम आपस में जोड़ता है तो बेहतर होगा कि मैं आपको योग के बारे में कुछ बताऊँ।

योग मात्र कुछ कसरतों और श्वसन क्रियाओं तक सीमित नहीं है। वह शिव और शक्ति के संयोग की प्रक्रिया है। ये शिव और शक्ति व्यक्ति के

भीतर एक-दूसरे के पूरक पक्ष होते हैं। शिव चेतना तथा शक्ति ऊर्जा का प्रतीक है। जब चेतना और ऊर्जा आपस में मिलते हैं तो एक महान् अनुभव होता है, जिसे कुण्डलिनी का जागरण कहते हैं।

जब दो वस्तुएँ आपस में मिलकर एकरूप होती हैं तो उसे संयोग कहते हैं। मैं समझता हूँ कि प्रेम का भी यही मतलब होना चाहिए। प्रेम का अर्थ मात्र आपस में मधुर वार्तालाप नहीं होता। वह आलिंगन, चुंबन भी नहीं होता। यह सब रोमांस कहलाता है।

मैं यह नहीं कहता कि रोमांस अनावश्यक है। जिस प्रकार बच्चों को खिलौने की जरूरत होती है, कुछ लोगों को इसकी जरूरत होती है। परन्तु मानव चेतना का एक उच्चतर आयाम भी होता है जिसे एकत्व अथवा संयोग के नाम से जानते हैं। यह आपस में दो पूरक घटकों के बीच घटित होता है, जिन्हें शिव और शक्ति कहते हैं। ये घटक प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में पाये जाते हैं।

मानव शरीर के मूलाधर चक्र से रीढ़ के सहारे आज्ञा चक्र तक दो धारायें चलती हैं। इन्हें इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ कहते हैं। आसन, प्रणायाम, त्राटक, शांभवी मुद्रा और क्रियायोग के अभ्यास द्वारा इन दो विभिन्न प्रवाहों को संयुक्त किया जाता है।

जब ये दोनों ऊर्जा प्रवाह आपस में मिलते हैं तो एक नई ऊर्जा धारा का निर्माण होता है। फिर यह ऊर्जा नीचे मूलाधार में उतरती है और वहाँ सोयी पड़ी कुण्डलिनी को जगाती है। यह संयोग अन्य सभी संयोगों से उत्तम माना गया है। जब आपके भीतर यह घटित होता है तो हर कोई आपको आत्मस्वरूप लगता है। सब कुछ आपका अपना ही विस्तार और अभिव्यक्ति होती है। किसी में आपको कोई अंतर ही दिखलाई नहीं पड़ता। न आपसे कोई भिन्न होता है न आप किसी से। जो मेरी भाषा में योग है, उसे ही प्रेम कहता हूँ। योग ही प्रेम है।

परमहंस योगानन्द ने स्त्री-पुरुष के जीवन में विवाह को परम पवित्र कृत्य कहा है। परन्तु आपके विचार सुनने के बाद मेरे मन में इस विषय को ले कर कुछ भ्रांतियाँ उठ खड़ी हुई हैं; क्योंकि आप कहते हैं कि आजकल विवाह एक बड़ी दुर्घटना है।

यदि विवाह मानव जीवन की परम पवित्र घटना है तो फिर तलाक क्यों लिये जाते हैं? फिर तो आपको कहना होगा कि विवाह ही नहीं पुनर्विवाह भी एक

अत्यंत पवित्र कृत्य है, विवाहेतर यौन सम्बन्ध भी इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। फिर तो वेश्यावृत्ति और सेक्स से संबंधित हर कार्य को पवित्रता के दायरे में बैठाया जा सकता है।

यह बड़ा नाजुक मामला है। विवाह पवित्र तो होना चाहिए, परन्तु वैसा अब रहा नहीं, पहले तो कभी नहीं रहा है। पूरे इतिहास को देख लें, भारत में भी आज विवाह गुलामी है, जहाँ स्त्री पूरी तरह पराधीन होती है। वह रीति-रिवाजों, अज्ञान, निरक्षरता तथा आत्म-सम्मान विहीन जीवन जीती है। उसकी अपनी चेतना बुझ चुकी होती है।

शादी जीवनभर की पराधीनता का अलिखित सौदा होती है। बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में आप विवाह सूत्र में बँधते हैं और फिर आजीवन पति-पत्नी बने रहते हैं। परन्तु हम जैसे स्वाधीन व्यक्ति यदि विवाह करें तो कह नहीं सकते हमारा क्या होगा।

जो लोग गतिशील हैं, आत्म-सम्मानपूर्वक जीते हैं, जिनके जीवन का एक उच्च लक्ष्य होता है उनके लिये विवाह मात्र एक साधन होता है, साध्य कदापि नहीं। उनके लिये यह परम पवित्र बंधन नहीं होता। परमहंस योगानन्द ने इस विषय पर जो कुछ कहा है वह पूरी तरह सही है, विशेष रूप से भारत के संदर्भ में और वह भी केवल हिन्दुओं के लिये। परन्तु जब उनकी यह बात पश्चिम के लोगों के संदर्भ में दुहराई जाती है तो आप उसके प्रभावों की सहज कल्पना कर सकते हैं।

आप उस व्यवस्था को कैसे परम पवित्र कहेंगे जिसे आप मात्र कुछ ही माह बाद तोड़ने वाले होते हैं? अब यदि वह सचमुच परम पवित्र है तो आपको उसे मानना चाहिए। उसके अनुसार रहना चाहिए। भले ही इसके लिये कोई भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। आपका पति अथवा आपकी पत्नी आपको ठुकराये, निष्ठा को तोड़े और आपको कितना ही कष्ट क्यों न दे। क्या आप यह सब सह लेंगे? यदि आप ऐसा न कर पायें तो कुँवारे रहिये, शादी के पचड़े में ही न पड़ें तो अच्छा होगा।

भिन्न स्वभाव और रुचियों वाले पति-पत्नी किस प्रकार सामंजस्य-पूर्वक परिवार में एक साथ रह सकते हैं?

यह जरूरी नहीं कि पति-पत्नी, दोनों की विचारधारा और जीवन-दर्शन एक जैसा ही हो। उनके आध्यात्मिक विचार, धर्म और दृष्टिकोण भिन्न हो सकते

हैं। हम भारत में लोगों को यही बात समझाने की कोशिश करते हैं। वहाँ लोग जानते और समझते हैं कि प्रत्येक के कर्म और विकास का स्तर भिन्न होता है। हो सकता है कि पति-पत्नी में से कोई एक सात्त्विक गुण प्रधान हो तो दूसरा तमोगुण प्रधान। परन्तु इस बात से इसलिये अंतर नहीं पड़ता कि प्रत्येक के अपने अलग-अलग कर्म और संस्कार होते हैं। हो सकता है पत्नी ईश्वर, अवतारवाद और मूर्तिपूजा में विश्वास रखे, जबकि पति इनसे दूर रहे। हो सकता है कि वह नास्तिक हो, परन्तु वह अपनी पत्नी के मामले में जरा भी हस्तक्षेप नहीं करता। पत्नी भी पति के व्यक्तिगत विचारों और मान्यताओं में टाँग नहीं अड़ाती।

यद्यपि पति और पत्नी एक ही समाज के अंग हैं तथापि उनके विकास का स्तर भिन्न होता है। इसलिये यदि आप योगाभ्यास, जप, ध्यान तथा प्राणायाम करते हैं और आपके साथी को इन बातों में जरा भी रुचि नहीं है तो परेशान होने की कतई जरूरत नहीं है। न तो उसके विचारों को बदलने की कोशिश कीजिये और न ही उसे बलात् अपने पक्ष में लाने की गलती कीजिये। यदि वह आपके कार्यक्रमों में स्वेच्छापूर्वक भाग ले तो ठीक है, अन्यथा उसकी चिन्ता छोड़िये। उसे अपनी राह चलने दीजिये। इस प्रकार आपके परिवार में शांति रहेगी, ऊर्जा का बिखराव रुकेगा।

सामंजस्य का तात्पर्य सम्पूर्ण एकरूपता हो ही नहीं सकती। विरोधियों के बीच भी इसकी स्थापना हो सकती है। सामंजस्य तो एक-दूसरे की आपसी सूझबूझ का फल होता है। बस, यही कारण है कि पश्चिम के देशों में स्त्री-पुरुष जीवनभर पति-पत्नी के रूप में नहीं रह पाते। अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इसलिये नहीं कि आपकी पत्नी आपसे भिन्न विचारों वाली है। इसका कारण मात्र इतना है कि आप उसे अपने जैसा बनाने की असफल कोशिश करते हैं। यह सरासर गलत है। क्यों न नास्तिक पत्नी आस्तिक पति के साथ अच्छी तरह सुख शांति से साथ रहे? भिन्न राजनैतिक विचारधारा वाले पति-पत्नी एक साथ क्यों नहीं रह सकते? प्रोटेस्टेन्ट पति कैथोलिक पत्नी के साथ रह सकता है। ईसाई पति और ब्राह्मण पत्नी एक साथ रह सकते हैं।

सितार, पियानों अथवा वायलिन में भिन्न तार होते हैं जो भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। परन्तु इनमें तालमेल न हो, सब अलग-अलग अपना ही राग अलापें तो कल्पना कीजिये कितना भयावह संगीत निकलेगा। यही

आज का पाश्चात्य संगीत है। यहाँ के वाद्यों के तार अलग-अलग ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। एक 'सा' कहता है तो दूसरा 'रे'।

आज के समाज में विवाह का उद्देश्य क्या है?

विवाह दो व्यक्तियों को वह सुअवसर उपलब्ध कराता है जिसके द्वारा वे अपना आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि स्त्री-पुरुष औपचारिक रूप से विवाह की रस्म पूरी करें। स्त्री और पुरुष विवाह के बिना भी एक साथ रह सकते हैं। परन्तु इससे अराजकता भी आ सकती है।

इसलिये परावर्ती काल में विवाह एक संस्कार था जिसका उद्देश्य पति-पत्नी का आध्यात्मिक विकास होता था। परन्तु आगे चलकर यह उद्देश्य ही भुला दिया गया और विवाह एक कर्मकाण्ड मात्र रह गया। फिर इससे बंधने वाले दो प्राणी समागम के आध्यात्मिक निहितार्थ को ही भूल बैठे।



बच्चों को बढ़ने दो

जब बच्चा जन्म लेता है तो वह तीन स्रोतों से संस्कार ग्रहण करता है। प्रथम तो वह अपने साथ पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कारों की गठरी लेकर आता है। इसके सिवाय वह माता-पिता तथा आस-पास के वातावरण से भी संस्कार ग्रहण करता है। इन स्रोतों से उसे अपनी सुरक्षा, वृद्धि तथा संस्कारों का क्षय करने लिये पर्याप्त प्रेरणा मिलती है।

माता-पिता बच्चों के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं। इसलिये मनुष्य के जीवन में वह दायित्व बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। चूँकि बच्चे स्वतंत्रता प्रेमी होते हैं, उन्हें अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिये। बच्चे की अपने विकास की एक कल्पना होती है, इसलिये उन्हें उसी अनुपात में विकास के अवसर मिलने चाहिये, अपने निर्धारित साँचे में उन्हें ढालना गलत है। यदि वह खेलना पसंद करते हैं तो उन्हें जी भरकर खेलने दीजिये, यदि पढ़ना चाहें तो पढ़ने दीजिये, यदि खाना चाहते हैं तो रोकिये नहीं। अच्छे कपड़े पहनना चाहें न चाहें, चीखना-चिल्लाना चाहें तो चुप न कराइये। यहाँ तक कि यदि वे धूल-कीचड़ में लोटना चाहें या और कुछ करना चाहें तो करने दीजिये, रोकिये नहीं।

उन्हें अच्छी तरह बनाने का जरा भी प्रयास न कीजिये। उन्हें चंद खिलौने देकर कहते हैं– अच्छे बनो, अच्छे व्यवहार करो, चीखो मत, भद्र इंसान बनो। शिष्टाचार, व्यवहार, संस्कृति नहीं कुछ भी नहीं। आपने उन पर छोटी अवस्था से ही बहुत कुछ थोप दिया है। जब वे उन्नीस-बीस वर्ष के हो जायेंगे तब उनसे कहिये कि उन्हें क्या करना है, क्या बनना है तथा समाज में कैसे रहना है। उन्हें शिष्टाचार, अदब, कायदे सिखाइये। परन्तु चार-पाँच वर्ष के शिशु के समक्ष इनकी चर्चा? आप तो उन पर अपना जीवन-दर्शन लादकर उनका गला ही घोंट रहे हैं।

जो आपके लिये उपयुक्त है वही उनके लिये कैसे उपयुक्त हो सकता है? यदि आपका बच्चा पाँच वर्ष का है तो आप अवश्य ही पचीस-तीस वर्ष के होंगे। अब दोनों की उम्र में कितना अंतर हुआ? कम-से-कम बीस वर्ष। आप उस बिन्दु पर खड़े होकर बच्चे से बात कर रहे हैं जो उससे बीस वर्ष पीछे है। आप तो अपनी यात्रा में उससे इतना आगे निकल चुके हैं। मेरी अवस्था साठ वर्ष है। बताइये, मैं दस वर्ष के बच्चे को क्या सिखाऊँगा? मैं नहीं समझता कि उसकी तरह कैसे सोचूँ। बच्चों को कुछ सिखाने के पूर्व हमें उन्हीं की तरह बच्चा बनना होगा। उन्हीं की तरह सोचना होगा।

एक और महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि बच्चों को अपने हमउम्र साथियों के बीच रहना चाहिये। आपको उनके मात्र संरक्षक तथा आवश्यकतायें पूरी करने वाले की तरह रहना चाहिये। आप उनके शिक्षक होने से तो रहे, क्योंकि आप उनसे बहुत बड़े हैं। उन्हें आपस में लड़ने दीजिये, मारपीट करने दीजिये, बकझक करने दीजिये अथवा यदि वे लिखना-पढ़ना चाहें तो उसमें बाधा न डालिये। कानूनन् आप कहेंगे कि यह तो उनकी स्कूल जाने की अवस्था है। परन्तु उसके आगे उनकी एकदम चिन्ता न कीजिये।

बच्चे अपनी भविष्यनिधि, कर्म, संस्कार लेकर आये हैं। उनका अपना प्रारब्ध तथा भविष्य है। वे क्या बनने वाले हैं, उनकी मानसिक, भावनात्मक, दार्शनिक और आध्यात्मिक वृद्धि किस तरह होगी, यह सब पूर्वनिर्धारित है। यदि वे दार्शनिक चर्चा करना चाहें, तो उन्हें वैसा ही करने दीजिये। कहने का कुल तात्पर्य यह है कि यदि आप चाहते हैं कि बच्चे पर द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्वों का प्रभाव न पड़े तो उन्हें उन्मुक्त परिवेश दें, बस इतना ही। आगे चलकर आप देखेंगे कि आपके बच्चे ने आपके सभी अच्छे संस्कार तो ग्रहण कर लिये हैं; परन्तु आपके व्यक्तित्व के द्वन्द्व और अवांछनीय तत्त्वों को उसने ग्रहण नहीं किया है। अब वह आपसे एकदम भिन्न व्यक्तित्व का स्वामी है। उसके जीवन, विचारों आदि की अभिव्यक्ति आपसे एकदम भिन्न होगी।

जो कुछ मैं आपसे कह रहा हूँ वह बड़ा नाजुक मामला है। पूर्व और पश्चिम के देशों में स्थिति एक जैसी है। मैं ये सब बातें कहते-कहते थक चुका हूँ। परन्तु कोई समझता ही नहीं, क्योंकि आप तो बच्चों को मात्र खिलौना मानते हैं। आप उन पर अपने आधे-अधूरे आदर्श, महत्त्वाकांक्षायें, सनक और न जाने क्या-क्या थोपना चाहते हैं। आप उन्हें देखते सुनते हैं, परन्तु शायद यही नहीं जानते कि आपने उन्हें क्यों जन्म दिया है। आपको इसके प्रयोजन का ही

पता नहीं है। जिसे आप प्यार कहते हैं वह तो प्यार है ही नहीं! वह आपकी सनक है। मैं तो यही कहूँगा कि बहुतेरे माता-पिता सनकी होते हैं।

यदि आपका बच्चा चर्च जाने से इन्कार करता है तो आप सिर से पैर तक काँप जाते हैं। कहते हैं, "हे भगवान! मैंने जीवनभर बाइबिल पर ईमान रखा, चर्च गया, हजरत ईसामसीह पर विश्वास किया, ऐसा कोई इतवार नहीं गया जिस दिन मैंने चर्च में जाकर प्रार्थना न की हो। आज यह लड़का इतनी बेवकूफी भरी बातें कर रहा है। यह मेरी सन्तान नहीं है।"आप अपनी पत्नी से कहते हैं, "मैं नहीं समझता कि यह मेरा बेटा है, क्योंकि इसमें मेरे कोई गुण नजर ही नहीं आते।" आप हमेशा उसे लेकर परेशान, चिंतित रहते हैं।

चूँकि आप कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट अथवा हिन्दू हैं, उसे भी अपने जैसा बनाना चाहते हैं। चूँकि आप योगाभ्यास करते हैं, आप चाहते हैं वह भी करे। आप एक विशेष ढंग की पोशाक पहनते हैं, इसलिये वह भी वैसी ही पहने। आप आश्रम जाते हैं इसलिये वह भी जाये। जिसे आप पसंद नहीं करते, किन्तु वह करता है, उसे करने दीजिये। उसके चुनाव की कद्र कीजिये, यह अपेक्षा मत रखिये कि वह वही सब कुछ करे जो आपको पसंद है। यदि आप उसके माता-पिता हैं तो वह भी आपका बेटा है। बताइये इनमें कौन श्रेष्ठ है, कौन बड़ा है, कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है, आप या वह? आप ऐसा तो नहीं कह सकते कि आप ही सब कुछ हैं। वही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये तो उसे लेकर आप आकुल-व्याकुल रहते हैं।

आज सारे विश्व के लोगों के सामने यह जटिल समस्या है। मैं नहीं समझता कि आपको इससे बढ़कर कोई अच्छा सुझाव दे सकता हूँ कि अपने बच्चे को प्रकृति के सान्निध्य में बढ़ने दीजिये, जैसा सोचता है सोचने दीजिये। जो करना चाहता है करने दीजिये। जैसा खाना चाहे, अनुभव करना चाहे, वेशभूषा, धर्म, विश्वास, सभी क्षेत्रों में उसे एकदम मुक्त छोड़ दीजिये। उसे योग अथवा भोग के बीच चुनाव की छूट दीजिये। वह हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, ईसाई, आस्तिक अथवा नास्तिक, जो भी होना चाहे, मत रोकिये। बस, उसे पूरी स्वतंत्रता और सुरक्षा प्रदान कीजिये। उसे अपना जीवन स्वयं सँवारने दीजिये, तभी आप एक नये संसार में जीवित रह सकेंगे।

आप अक्सर पत्र-पत्रिकाओं में 'नई व्यवस्था', 'नया संसार' शीर्षकों के अंतर्गत छपे लेख पढ़ा करते हैं, तो क्या 'नया संसार' अथवा 'नयी व्यवस्था' पुरानी चीजों को लेकर बनाई जायेगी? हम तो सड़-गल गये हैं, हम वे

सिक्के हैं जो बाजार से हट गये हैं। हम वे नहीं हैं जो हमें होना चाहिए था। हम वह हैं जो कि हमें हमारे माता-पिता ने बनाया था। हम उनके विचारों के, दर्शन के गुलाम है। हम आँखें बंद कर उनके पद चिह्नों पर चल रहे हैं। जिस रास्ते पर हम चल रहे हैं वह हमारे लिये कदापि नहीं था। हमारे बच्चे तो कम-से-कम हमसे भिन्न हों, बेहतर हों।

मैं आपको बता दूँ, हो सकता है एक दो अथवा इससे भी अधिक कुछ पीढ़ियों तक अराजकता, अनिर्णय, विभ्रम और उथल-पुथल रहेगी। बच्चे मनमानी करेंगे। बीच सड़क पर फुटबाल खेलेंगे, यातायात रुकेगा, शोरगुल बढ़ेगा। भारत में भी यही कुछ हो रहा है। परन्तु तीन-चार पीढ़ियों के बाद सब कुछ शांत हो जायेगा। नया विकास होगा, नयी व्यवस्था पनपेगी और वह विश्व व्यवस्था कायम होगी जो आज हमें काल्पनिक और दिवास्वप्न जैसी लगती है। वह व्यवस्था शासकीय नहीं होगी। किसी भी सरकार के लिये वैसा कर पाना संभव न होगा। समाज, कानून और धर्म, कोई भी उसे ला नहीं सकता। हम अपनी अंत:प्रेरणा से उस व्यवस्था को लायेंगे, उसमें रहेंगे और पृथ्वी को स्वर्ग कहकर पुकारेंगे।

प्रश्नोत्तर

क्या माता-पिता और समाज में सूझबूझ और समझदारी की कमी के कारण जाग्रत कुण्डलिनी वाले बच्चों को गलत ढंग से पालने-पोसने से उनके सहज-स्वाभाविक विकास पर कोई गंभीर प्रभाव पड़ता है?

बहुधा बच्चे श्रेष्ठ संस्कार लेकर पैदा होते हैं। परन्तु परिवार, समाज, संस्कृति और सभ्यता उनके रास्ते का रोड़ा बनते हैं और यही प्रमुख कारण है कि बच्चों में निहित आध्यात्मिक संभावनायें पूरी तरह पुष्पित नहीं हो पातीं। गत पचास वर्षों में पाश्चात्य जगत् में एक उथल-पुथल आयी है, क्रान्ति घटित हुई है। हजारों-हजार लड़कों ने घिसे-पिटे मार्ग से हट कर चलने का प्रयास किया है। उनमें से अनेक बार-बार भारत, नेपाल, तिब्बत, मिश्र गये हैं। क्यों? अपने लायक कुछ खोजने के लिये। उन्हें वह सब कुछ चाहिये जो उनके व्यक्तित्व के अनुकूल हो। इन्हीं लड़के-लड़कियों ने योग तथा अध्यात्म विज्ञान को पश्चिम के देशों में लाया है। हम थोड़े ही लाये हैं। हम उनके अपूर्ण कार्यों को पूरा करने आये हैं।

अब उनकी उच्च चेतना के कारण समाज ने उन्हें असामान्य बच्चों की श्रेणी में ला पटका है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में उन्हें पागल, सनकी, असंतुलित और न जाने क्या-क्या कह कर पुकारा जाता था। परन्तु आगे चलकर जब उन्हीं लोगों ने परा मनोविज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक कार्य किया तो समाज, माता-पिता और दूसरों ने अनुभव किया कि सबके सब पागल और सनकी नहीं हो सकते। परन्तु आज भी पश्चिम के देशों में इन बच्चों को आवश्यक सुविधायें नहीं दी जातीं, जिससे वांछित दिशा में उनका पूरा आध्यात्मिक विकास हो सके। इसका संभावित कारण यह हो सकता है कि पश्चिम के देश राजनैतिक और आर्थिक मोर्चों पर सबसे आगे रहना चाहते हैं, इसलिये इन प्रतिभाओं का मार्ग अवरुद्ध है। परन्तु भारत में आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक सुविधाओं का अभाव नहीं है। वह सबके लिये सुलभ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हम विश्वास करते हैं कि जिन्दा रहने के लिये तथा चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये राजनैतिक और आर्थिक उत्तरजीविता कोई जरूरी पूर्व शर्त नहीं है।

हर व्यक्तित्व अपने आप में एक स्वतंत्र तथा पूर्ण ईकाई है। सबका अपना-अपना प्रारब्ध है। देश और समाज के लिये मेरे प्रारब्ध का उपयोग नहीं हो सकता। यदि मैं ईसाई बनना चाहूँ तो कोई मुझे कैसे रोक सकता है? क्योंकि इससे किसी का कुछ बनने-बिगड़ने वाला नहीं है। यदि मैं भौतिकवादी नास्तिक हूँ, एक अथवा अनेक ईश्वर में विश्वास करता हूँ तो किसी को क्या पड़ी है कि मुझे रोके? आपका अपने कर्मों के अनुरूप प्रारब्ध होता है तथा उसी के अनुसार आपको अपनी आध्यात्मिक क्षमताओं और संभावनाओं का उद्‌घाटन कर विकास के पथ पर बढ़ना है।

विकास के स्तरों के अनुरूप मानव जीवन अनेक सोपानों में विभक्त है। यह बड़ा वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण विभाजन है। अब यदि आप मानते हैं कि औसत मानवीय आयु एक सौ वर्ष होती है तो सर्वप्रथम आपको उसे पचीस-पचीस वर्ष के चार भागों में विभक्त करना चाहिए। प्रथम पचीस वर्षों तक विद्याध्ययन, उसके बाद अगले पचीस वर्षों तक विवाह, संतानोत्पत्ति, और धनार्जन, उसके बाद अगले पचीस वर्षों तक मनन-चिंतन और अंतिम चतुर्थांश में पूर्ण त्यागमय जीवन-यापन। इन चार विभागों का पुन: विभाजन होना चाहिए और इनका आधार व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होना चाहिए।

जब बच्चा सात साल का होता है तब उसके शरीर में अनेक रासायनिक परिवर्तन होते हैं। जब वह माता के गर्भ में होता है, जन्म लेता है तथा किशोरावस्था में पहुँचता है, उसकी सभी अवस्थाओं में अपना शरीर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कदम-कदम पर उसके शरीर में भीतरी और बाहरी परिवर्तन हो रहे हैं। इसलिये उसकी शिक्षा-दीक्षा और वातावरण इन होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप हों। परन्तु बड़े खेद की बात है कि हमारी आधुनिक व्यवस्था के पास इसका कोई प्रावधान नहीं है। जब बच्चा सात-आठ वर्षों का होता है तब आप उसे पाठशाला में पढ़ने के लिये भेज देते हैं। परन्तु उसकी आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकता पर कोई ध्यान नहीं देता। आप उसे डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर अथवा क्लर्क बनाने के अरमान तो संजोते हैं; परन्तु यह जरा भी नहीं सोचते कि वह एक संत, दार्शनिक, धर्म प्रवर्तक अथवा मानवता का पथ-प्रदर्शक भी तो हो सकता है। यह बात तो कभी आपके मन में आती ही नहीं।

सात-आठ वर्ष की अवस्था में बच्चे को एक सर्वथा नये वातावरण में रखना चाहिए, क्योंकि उसके जीवन का यह बड़ा ही नाजुक समय होता है। इसी अवस्था में पीयूष ग्रंथि सक्रिय होती है। वह उसके मानसिक रुझान को बदलती है। इसलिये मैं सोचता हूँ कि बच्चों की शिक्षा तथा पाठ्यक्रम पर नये सिरे से सोचना-विचारना चाहिए। उन्हें अपने प्रारब्ध के अनुरूप फलने-फूलने का अवसर दिया जाना चाहिए। यदि वह पढ़ना चाहे तो पढ़ने दीजिये, आध्यात्मिक साधना करना चाहे तो उस दिशा में बढ़ने दीजिये। इसी प्रकार हम अपने समाज में संतुलन ला सकते हैं तथा बच्चों का अबाध विकास होने में अपनी आवश्यक भूमिका अदा कर सकते हैं।

सात-आठ वर्ष की अवस्था के पूर्व हम किस प्रकार अपने बच्चों के प्रारब्ध को प्रभावित कर सकते हैं?

सात-आठ वर्ष की अवस्था के पूर्व बच्चों में एक भिन्न प्रकार की चेतना होती है। इसलिये उन्हें इस ढंग से योग सिखाया जाये कि वे उसकी सही भावना और प्रयोजन को अपने जीवन में उतार सकें। दो वर्ष की अवस्था के बाद उसके समक्ष योग का इस भाँति प्रदर्शन किया जाये कि वह उसे ग्रहण करने के लिये उत्सुक हो। जिस प्रकार आप अपने बच्चों को खिलौने देते हैं उसी प्रकार उन्हें आसनों और यौगिक क्रियाओं के मॉडल दीजिये। अनेक आसनों

के नाम पशु-पक्षियों के आधार पर रखे गये हैं। इसलिये आसनों के ऐसे मॉडल जिनमें वे पशु-पक्षियों की विभिन्न शारीरिक स्थितियों जैसे लगें, तैयार कर उनके सामने लायें।

बच्चों का मन कैमरे की तरह होता है। उन पर उन वस्तुओं का बिम्ब बनता है जो उनके सामने लायी जाती है। इसलिये आप उन्हें योग का जो भी ज्ञान प्रदान करना चाहें उसे दृश्य-श्रव्य मॉडल के जरिये प्रदान कीजिये। कभी-कभी तो तीन वर्ष की अवस्था में बच्चे माता-पिता को देखते हैं, परन्तु कुछ समझ नहीं पाते, क्योंकि उनमें बौद्धिक विश्लेषण की क्षमता नहीं होती। वे उन्हें देखकर सिर्फ अपने मन में अंकित कर लेते हैं। जब ये बच्चे अट्ठारह-बीस वर्ष की अवस्था के होते हैं तो अपनी शैशवास्था में संचित माता-पिता के इस बिम्ब को विकसित करते हैं, जो उनके व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

एक वर्ष अथवा छः माह का शिशु नहीं जानता कि उसके माता-पिता क्या कर रहे हैं। परन्तु वे जो कुछ भी करते हैं उसका बिम्ब बच्चे के कोमल मन पर बन जाता है। यह एकदम तय बात है, इस पर जरा भी शंका की गुंजाइश नहीं है। आप शिशु से कोई भी बात नहीं छिपा सकते, यहाँ तक कि जब वह माता के गर्भ में रहता है तब भी नहीं।

चेतना हर स्तर पर कार्य करती है। आपकी चेतना बौद्धिक स्तर पर कार्य कर रही है। यदि मैं किसी की हत्या करता हूँ तो आप उस पर सोच-विचार कर एक निर्णय पर पहुँचते हैं और कहते हैं—नहीं। यह गलत है, ऐसा नहीं हो सकता। कभी आपकी चेतना आध्यात्मिक स्तर पर सक्रिय होती है तो कभी भावनात्मक स्तर पर और कभी टुकड़ों में। शैशवास्था में चेतना फोटोग्राफी के स्तर पर सक्रिय होती है। इसे संस्कार कहते हैं।

अब यदि आप चाहते हैं कि आपके बच्चे जीवन में योग अपनायें, यदि आप योग द्वारा उनके मन, चरित्र, स्वभाव, व्यक्तित्व तथा प्रारब्ध को बदलना चाहते हैं तो स्वयं उसी समय से योगाभ्यास करें जब आपके बच्चे दो-तीन साल के हों।

चित्र और दृश्य के माध्यम के अतिरिक्त बच्चों को छोटी-छोटी दृष्टांत कथाओं द्वारा भी बहुत कुछ सिखाया जा सकता है। हालाँकि इस अवस्था में बच्चों पर इनकी कोई प्रतिक्रिया दिखलायी नहीं पड़ती। परन्तु वे अपने अंतर्मन में इनका प्रभाव अवश्य ग्रहण करते हैं। उसकी केन्द्रीय शिक्षा को

ग्रहण कर लेते हैं। जब आप उसे कोई कहानी सुनाते हैं तो उसका पूरा-पूरा ढाँचा उसके कोमल मन पर उतर जाता है। जब बच्चा अट्ठारह-बीस वर्ष का होता है तो वह ढाँचा तो निकाल फेंकता है, परन्तु उसका सार ग्रहण कर लेता है। मानवीय बुद्धि का यही चमत्कारी पक्ष है। नर्सरी और किंडरगार्डन स्तर पर चार्ट, चित्र और मॉडलों के माध्यम से आप बच्चे में योग के प्रति रुचि जाग्रत कर उसके जीवन को मनचाही दिशा प्रदान कर सकते हैं, उसके प्रारब्ध को बदल सकते हैं।

हम किस प्रकार अपने बच्चे को योग से परिचित करायें?

प्राचीन भारत में यह परम्परा थी कि सात-आठ वर्ष की अवस्था में बच्चे का यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया जाता था और उसे विद्याध्ययन के लिये गुरु के आश्रम में भेज दिया जाता था। उस समय ऐसे गुरुकुल होते थे जहाँ रहकर बच्चे पढ़ा करते थे।

गुरुकुल में बच्चे को सूर्य नमस्कार, प्राणायाम तथा गायत्री मंत्र की साधना सिखायी जाती थी। आप भी अपने बच्चों को ये तीन चीजें सिखाकर उनके आत्मिक स्तर को उठा सकते हैं।

इनमें से प्रथम अभ्यास सूर्य नमस्कार कहलाता था। इसमें शरीर को बारह भंगिमाओं में रखते हैं, जो सूर्य की बारह राशियों की प्रतीक होती हैं। सूर्य नमस्कार सूर्य को विभिन्न शारीरिक मुद्राओं में प्रणाम करने का ढंग है। अति प्राचीनकाल से सूर्य को अपार ऊर्जा का भंडार कहा जाता है।

बच्चे को जो दूसरी चीज सिखयी जाती थी, वह प्राणायाम था। प्राणायाम में उन्हें सही ढंग से श्वास लेने और छोड़ने की विधि सिखायी जाती थी। बायीं नासिका से श्वास अन्दर लेते और दायीं नासिका से छोड़ते हैं। पुनः दायीं से श्वास लेना और बायीं से छोड़ना। इसे नाड़ीशोधन के नाम से जाना जाता है।

बच्चों को तीसरी चीज सिखायी जाती थी, गायत्री मंत्र। गायत्री मंत्र प्राचीनतम वेद, ऋग्वेद में पाया जाता है। सभ्यता के इतिहास के जानकार विद्वान् जानते हैं कि ऋग्वेद मानव द्वारा रचित प्राचीनतम ग्रंथ है। इसमें हजारों मंत्रों का संकलन है। ये मंत्र बहुत पहले लिखे गये थे। ऋग्वेद में गायत्री मंत्र में चौबीस वर्ण हैं। इसे इस तरह गाते हैं– *ॐ भूर्भुवः सुवः तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्*। इस मंत्र का उद्देश्य बच्चों के मन का गुणात्मक विकास करना है।

यह एक विज्ञान-सम्मत सिद्धान्त है कि जब बच्चा सात-आठ वर्ष का होता है तो उसकी पीनियल ग्रंथि का क्षय होने लगता है। यह ग्रंथि पशु योनि का अवशेष मानी जाती है। पशुओं में यह ग्रंथि बड़ी प्रभावशाली होती है। इसके प्रभावस्वरूप पशुओं को कुछ बातों का बड़ी जल्दी आभास हो जाता है। उसमें यह ग्रंथि पूरी तरह विकसित होती है, जबकि पीयूष ग्रंथि उतनी अधिक विकसित नहीं होती। बंदरों तथा कुछ स्तनपोषी जीवधारियों में पीयूष के अवशेष मिलते हैं। यही पीनियल ग्रंथि मनुष्यों में भी पाई जाती है, परन्तु जैसे ही बच्चा आठ, नौ अथवा दस वर्ष का होता है, इसका लोप होने लग जाता है। जैसे ही इस ग्रंथि का क्षय पूर्ण होता है, पीयूष सक्रिय हो जाती है।

मनुष्य शरीर में पीनियल ग्रंथि बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। यह मनुष्य के अंतर्बोध सम्बन्धी कार्यों को नियंत्रित और नियमित करती है। जिन व्यक्तियों में दूर श्रवण, दिव्यदृष्टि, विचार संप्रेषण आदि विलक्षण प्रतिभायें होती हैं, उनकी यह ग्रंथि अति विकसित और कार्यशील होती है। भ्रूमध्य पर ध्यान और एकाग्रता के अभ्यास द्वारा इस ग्रंथि को जीवित और कार्यशील रखा जा सकता है। जिनमें यह ग्रंथि विकसित और सक्रिय होती है वे लोग अतीन्द्रिय क्षमताओं के धनी होते हैं। इसके विपरीत जिनकी यह ग्रंथि समाप्त हो जाती है, उन्हें उच्च आध्यात्मिक अनुभव होते ही नहीं।

पीनियल ग्रंथि मनुष्य की भावनाओं पर नियंत्रण रखती है। साधु-संन्यासियों में, चूँकि यह ग्रंथि अत्यंत सक्रिय होती है, उन्हें अपनी तीव्र भावनाओं पर बड़ा नियंत्रण होता है। इसलिये बच्चों को छोटी उम्र से ही योगाभ्यास सिखाना बड़ा लाभदायक होता है। यह देखा गया है कि सूर्य नमस्कार, प्राणायाम और गायत्री साधना उसकी इस ग्रंथि को स्वस्थ और सक्रिय बनाये रखती है। कुण्डलिनी योग में शीर्ष ग्रंथि को आज्ञा चक्र कहते हैं। इसलिये यह ग्रंथि जीवन के कार्यकलापों को तो नियंत्रित करती ही है, पीयूष ग्रंथि के उत्पात को भी नियंत्रित तथा नियमित करती है।

एक वैज्ञानिक ने पीयूष ग्रंथि के कार्यों पर एक महान् ग्रंथ की रचना की है। व्यक्तित्व को संतुलित रखने के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि बच्चों को सात-आठ वर्ष की अवस्था से ही आसन, प्राणायाम तथा मंत्र साधना के लिये प्रेरित किया जाये।

किस अवस्था में युवक-युवतियों को यौन क्रियाओं में प्रवृत्त होना चाहिए। उन्हें किस प्रकार अपनी यौन इच्छाओं का शमन करना चाहिए?

भारत में यह परम्परा है कि सात-आठ वर्ष की अवस्था तक बच्चा पारिवारिक, धार्मिक वातावरण में रहता है। इसके बाद यज्ञोपवीत संस्कार होता है। इसके बाद उसे सूर्य नमस्कार, प्राणायाम तथा मंत्र साधना सिखायी जाती है। उसका केश मुंडन किया जाता तथा शिखा रखी जाती है। तीन सूत्र का यज्ञोपवीत मंत्रोच्चार के साथ पहनाया जाता है। यज्ञोपवीत उसके ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा का प्रतीक होता है, क्योंकि आठ वर्ष की अवस्था के बाद ही बालक के मन में सेक्स सम्बन्धी विचार उठते हैं।

सात वर्ष की अवस्था तक बालक बड़ा पवित्र माना जाता है, भले ही वह कुछ भी क्यों न करें। आठ वर्ष की अवस्था के बाद वह स्त्री-पुरुष के अंतर को समझने लगता है। इसलिये इस समय उसे ब्रह्मचर्य के पालन की शपथ दिलाई जाती है। अब इस प्रतिज्ञा का काल कम-से-कम बारह वर्ष का माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञा अवधि के बारह वर्ष समाप्त होते-होते वह बीस वर्ष का युवक हो जाता है। इसके बाद जब वह विवाह करता है तो उसके जनेऊ के सूत्रों की संख्या दुगुनी, यानी छ: हो जाती है।

परन्तु यह सब किसलिये? इसलिए कि सात-आठ वर्ष की अवस्था के बाद पीनियल ग्रंथि का क्षय प्रारंभ हो जाता है। जैसे ही उसके क्षय की प्रक्रिया प्रारंभ होती है, पीयूष ग्रंथि अपना कार्य प्रारंभ कर देती है। उससे यौन हॉर्मोन निकलने लगते हैं। इसके फलस्वरूप बच्चे यौन के मामले में उत्सुक हो जाते हैं। इसलिये सूर्य नमस्कार, प्राणायाम और गायत्री मंत्र के अभ्यास द्वारा इस ग्रंथि का क्षय रुकता है और वह स्वस्थ एवं सक्रिय बनी रहती है। अब हर कीमत पर इसे बरकरार रखने की कोशिश की जानी चाहिए।

सेक्स का दमन बहुत बुरी बात है। कुछ ही अपवादों को छोड़ सभी युवक-युवतियों को इसका अनुभव होना स्वाभाविक है, क्योंकि सेक्स की माँग प्रकृति का नियम है। इसलिये हर एक को इसका अनुभव होना ही चाहिए। परन्तु इसे अनुभव करने का एक समय होता है। एक अवस्था प्राप्त करने पर ही व्यक्ति को इसमें प्रवृत्त होना चाहिए। सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था यौन क्रिया के लिये सर्वथा अनुपयुक्त मानी गयी है। चूँकि मुझे मानव शरीर रचना का सम्यक् ज्ञान है, मैं अधिकारपूर्वक यह बात कह सकता हूँ कि उन्नीस वर्ष

की अवस्था के बाद आप अपना यौन जीवन प्रारंभ कर सकते हैं। परन्तु इसके लिये सर्वोत्तम आदर्श अवस्था पचीस वर्ष मानी गई है। तब तक ठहरा जाये तो अति उत्तम है।

अब आप उस सही अवस्था की जानकारी के लिये बड़े उत्सुक लगते हैं, जब व्यक्ति को सेक्स के संसार में दाखिला लेना चाहिए। फिर शायद आप यह भी जानना चाहेंगे कि इससे कब निवृत्त होना चाहिए। आपको पचास की अवस्था में यौन जीवन को हरि ॐ कर लेना चाहिए। जीवन की स्वर्ण जयंती के अवसर पर इसे विदा कर देना चाहिए। यह आपके हृदय के स्वास्थ्य के लिये भी जरूरी है। इसका समूचे स्नायु-संस्थान पर भी बड़ा हितकर प्रभाव पड़ेगा और वृद्धावस्था में मस्तिष्क भी स्वस्थ, सक्रिय और गतिशील रहेगा।

पचास और पचहत्तर वर्ष की अवस्था के बीच आपका अपनी पत्नी के साथ गहरा आध्यात्मिक सम्बन्ध होना चाहिए। अन्यथा आप वह गंभीर गलती करेंगे जिसके फलस्वरूप वह आपको बड़ी उबाऊ लगने लगेगी। परन्तु यदि आप पचास की अवस्था पार करते ही यौन जीवन पर पूर्ण विराम लगा दें तो आप दोनों के बीच गहरी समझबूझ, सहयोग और आत्मीयता बनी रहेगी। खैर, प्रश्न बच्चों से संबंधित था वयस्कों से नहीं। परन्तु मेरी मान्यता है कि पचीस वर्ष की अवस्था तक आप बच्चे ही रहते हैं तथा पचास की अवस्था के बाद आपका बचपन फिर लौट आता है, इसलिये पचीस वर्ष के पहले और पचास के बाद एक ही नियम लागू होना चाहिए।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य अनेक प्रकार का होता है। इसका मतलब मन में उठने वाले यौन विचारों को नियंत्रित करना होता है। केवल विवाह न करने से ही आप ब्रह्मचारी नहीं कहला सकते। यदि आप विपरीत लिंग वालों से बात न करें तो भी ब्रह्मचारी नहीं कहला सकते। यहाँ तक कि यदि स्त्री अथवा पुरुष के विषय में मन में विचार भी नहीं लाते तो इससे भी आप ब्रह्मचारी की श्रेणी में नहीं आ सकते।

योग के मतानुसार व्यक्ति को अपनी अवस्था तथा जीवन में स्थित मानसिक एवं भावनात्मक आवश्यकता के अनुरूप ब्रह्मचर्य को धारण करना चाहिए। यह कतई जरूरी नहीं कि आप विपरीत लिंगियों से मिलना-जुलना तथा बातचीत करना ही बंद कर दें। यह भी आवश्यक नहीं कि आप विवाह से परहेज करें। नहीं, यदि आप विवाहित हैं, पत्नी अथवा पति के साथ रहते हैं तो भी आप ब्रह्मचर्य व्रत का पालन एवं निर्वाह कर सकते हैं।

जैसा कि मैंने आपसे प्रारंभ में ही कहा है, ब्रह्मचर्य के अनेक प्रकार होते हैं। यौन क्रिया से संयम ही ब्रह्मचर्य की परिभाषा नहीं है। मस्तिष्क में यौन क्रिया से सम्बन्धित केन्द्रों का नियंत्रण तथा अपना स्वभाव ब्रह्मचर्य कहलाता है। यह कोई एक दिन में सधने वाली प्रक्रिया तो है नहीं। इसके लिये धैर्य, अभ्यास और समय की आवश्यकता होती है। संयम और निषेध द्वारा यह सधने का नहीं। यह तो उस अनुभव के ऊर्ध्वीकरण द्वारा ही सध सकता है। इस प्रकार यौगिक ब्रह्मचर्य तथा उसके और भी अनेक प्रकार होते हैं।

इसके सिवाय तांत्रिक ब्रह्मचर्य भी होता है। इसमें यौन क्रिया के अनुभव का शोधन किया जाता है। तांत्रिक अभ्यासों में स्त्री और पुरुष मैथुन करते हैं। परन्तु आप यह नहीं कह सकते कि उन्होंने ब्रह्मचर्य तोड़ा है। सामान्य जीवन

में आप स्थूल रूप का अनुभव करते हैं। इसे यौन कामोत्ताप कहते हैं। परन्तु इसी स्तर और गुण वाला अनुभव आपको आज्ञा चक्र में भी हो सकता है। इसे आप विलक्षण ब्रह्मचर्य कहेंगे।

मनुष्य को जो अनुभव होते हैं, वे कहाँ से आते हैं, देखकर, सुनकर अथवा पहचानकर? यदि आपके शरीर में एक पिन चुभाई जाये, तो आपको दर्द कहाँ होगा? जहाँ पिन चुभी है वहाँ दर्द होगा, परन्तु क्या वही आपके दर्द का स्रोत है? क्या सचमुच आपको उसी स्थान पर दर्द का अनुभव होता है या उस अंग से सम्बन्धित मस्तिष्क के केन्द्र में यह अनुभव होता है।

यदि दर्द के अनुभव का केन्द्र मस्तिष्क में होता है, तो आपको उस जगह उसका अनुभव क्यों होता है जहाँ पिन चुभाई जाती है? इसलिए कि आपका मन स्थूल है, विकसित नहीं है। यही कारण है कि आपको दर्द का अनुभव मस्तिष्क के केन्द्रों में नहीं होता। यह अनुभव उस जगह होता है जहाँ पिन चुभती है। परन्तु यदि आप योगी हैं तो यह अनुभव आपको मस्तिष्क में हो सकता है। क्योंकि, दर्द की घटना यथार्थ में मस्तिष्क में घटित हो रही है। वहाँ नहीं जहाँ पिन चुभ रही है। पुन: इसी प्रकार यदि आप योगी हैं तो आपको यौन क्रिया का अनुभव भी अन्यत्र होगा। वहाँ जहाँ से यह अनुभव पैदा होता है, वहाँ नहीं जहाँ समाप्त होता है। इसलिये अनुभव का एक स्थूल केन्द्र होता है तथा दूसरा मूल केन्द्र होता है।

कल्पना कीजिये, आप एक बहुत सुन्दर फूल देखते हैं। कहिये यह सुन्दरता का अनुभव क्या आपकी आँखों से पैदा हो रहा है? नहीं। यह अनुभव कहीं और उत्पन्न होता है। इसका स्थान आपके मस्तिष्क में है, आपकी चेतना में है, मन में है। एक ऐसा केन्द्र होता है, जहाँ सभी अनुभव घटित होते हैं। उस केन्द्र में पहुँचिये। उसे तांत्रिक अनुभव कहते हैं। अनेक लोग यह सोचने की महान् भूल कर बैठते हैं कि सामान्य यौन सम्बन्ध ही तंत्र है। यदि बात ऐसी ही होती तो पाशविक क्रिया को भी तंत्र की कोटी में रखा जा सकता था।

ब्रह्मचर्य का एक और भी प्रकार होता है जो गृहस्थों के लिये है। जब गृहस्थ लोग बीमार, उदास, परेशान, क्रोधित, भूखे अथवा अति भोजन किये हों अथवा यात्रा कर रहे हो तो उन्हें अनुशासन में रहना चाहिए। इन अवसरों पर संभोग से दूर रहें। उसे अनुशासित ब्रह्मचर्य कहा जाता है। भारत में हिन्दू गृहस्थों को इसके पालन की शिक्षा दी जाती है। यह भी ब्रह्मचर्य है, क्योंकि आप अपनी ऊर्जा को नष्ट होने से बचाते हैं।

तीसरे प्रकार का ब्रह्मचर्य वह है जिसमें मन में यौन क्रिया की इच्छा ही नहीं उठने दी जाती है। परन्तु यह सबके लिये कतई उपयोगी नहीं कहा जा सकता है। लाखों में एक दो ही इस पूर्ण ब्रह्मचर्य को साधने में सफल हो पाते हैं। परन्तु यह सब पर थोप दिया जाये तो पागलखाने में तिल रखने के लिये भी जगह नहीं बचेगी। मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ जो अपने पूर्ण ब्रह्मचर्य का दावा करते हैं, परन्तु स्वयं बड़े ही घिनौने ढंग से जीवन बिताते हैं।

स्त्री और पुरुष के बीच यौन सहवास विकास का प्राकृतिक अंग है। प्रकृति के हर क्षेत्र में दो विरोधी ध्रुवों के बीच समागम होना स्वाभाविक घटना है। जीवन, ऊर्जा और पदार्थ की सृष्टि तब तक संभव नहीं है जब तक धनात्मक और ऋणात्मक शक्तियों का संगम नहीं होता। ऊर्जा के निर्माण का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तरीका मैथुन है। यह ऊर्जा के निर्माण की सर्वोच्च परिकल्पना है।

मनुष्य अपनी आदिम प्रकृति द्वारा बँधा हुआ है। वह ऊर्जा के इस उच्च दर्शन को नहीं समझ पाता। वह तो इन्द्रिय सुख के पीछे दौड़ता है। वह यह भी नहीं जानता कि इस आनन्द का कारण ऊर्जा के दो विरोधी ध्रुवों का समागम होता है। कभी-कभी स्त्री-पुरुष संतान के लिये मैथुन में प्रवृत्त होते हैं। वे यह भी नहीं जानते कि गर्भ में बच्चे का निर्माण वहाँ ऊर्जा के दो ध्रुवों के मिलन की अभिव्यक्ति है। यह ऊर्जा के खेल जगत् का नियम कहलाता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, महासागर और पृथ्वी, सबके सब ऊर्जा के संयोग के कारण ही विद्यमान हैं।

ऊर्जा का अंतिम स्रोत प्रकृति है। यह समस्वर यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त ऊर्जा हमारे शरीर, मन और चेतना में भी मौजूद रहती है। उसमें कहीं और कभी ठहराव नहीं आता। वह गतिशील है। यदि आप इसे उच्च ध्येय के लिये दिशांतरित न कर पायें तो यह आपके स्थूल सांसारिक जीवन में अभिव्यक्ति ढूँढ़ती है। भारत में ऋषि-मुनियों ने अनुभव के द्वारा इस सत्य को जाना था। मनुष्य के स्थूल भौतिक जीवन में यौन क्रिया के रूप में इस ऊर्जा की अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने इस विज्ञान को तंत्र नाम दिया था।

तंत्र उन्मुक्त यौन क्रिया का मार्ग कदापि नहीं है। वह एक युक्ति है जिसके द्वारा यौन ऊर्जा को स्थूल स्तर से उठाकर उच्च तल पर ले जाया जा सकता है। इस प्रक्रिया को अंजाम देने के लिये किसी खास पंथ अथवा

सम्प्रदाय पर चलने अथवा ईमान लाने की जरा भी आवश्यकता नहीं है। आध्यात्मिक ज्ञानालोक की प्राप्ति के उद्देश्य से यौन ऊर्जा के उदात्तीकरण के निमित्त कुछ अभ्यास और प्रक्रियायें होती हैं। प्राचीन काल में इन युक्तियों और तकनीकों की जानकारी लोगों को थी। विभिन्न संस्कृतियों के पुरातत्त्वीय अवशेषों में इनके प्रमाण आज भी मिलते हैं। हालाँकि यह बात अलग है कि आज इन तकनीकों का लोप-सा हो गया है और मनुष्य यौन क्रिया का अनुभव केवल स्थूल स्तर पर करता है। उसने कभी इस अनुभव के आदिम स्रोत तक वापस लौटने की कोशिश नहीं की। अर्वाचीन समाज में यौन क्रिया को लेकर भयंकर कुंठा, क्षोभ, हताशा, अपराध-बोध और न जाने कितनी मानसिक व्याधियाँ व्याप्त हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि किसी ने भी यौन और मैथुन के उच्चतम प्रयोजन को समझने की कोशिश नहीं की है।

तंत्र के मतानुसार प्रत्येक स्त्री-पुरुष को तीन आधारभूत क्रियाओं की अच्छी जानकारी होनी चाहिये। ये क्रियायें हैं–वज्रोली, सहजोली और अमरोली। सभी को अंतिम रूप से यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि यौन क्रिया का अंतिम सर्वोपरि प्रयोजन मूलाधार चक्र का जागरण है। मैथुन में जो क्षणिक आनंद का अनुभव होता है वह उच्चतम शाश्वत आनंद की मात्र झलक या झरोखा होता है जिसके पार आप आनंद के अथाह साम्राज्य को देख सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपार आध्यात्मिक क्षमता के उद्घाटन की अन्य अनेक युक्तियाँ हो सकती हैं। आप इसे तपस्या, उपवास, प्राणायाम आदि द्वारा भी जाग्रत कर सकते हैं, परन्तु इनमें सबसे सहज, सुलभ और त्वरित साधन समुचित ढंग से किया जाने वाला मैथुन है। यौन जीवन का मात्र इतना ही प्रयोजन है।

कुण्डलिनी के जागरण का अनुभव असहनीय होता है। सामान्य मैथुन में चरमानन्द की अनुभूति मात्र कुछ क्षणों के लिये होती है। यही क्षणिक अनुभव महान् विस्फोटक होता है। कल्पना कीजिये, तब क्या होगा जब यह अनुभव दस या पन्द्रह मिनटों का होगा। अधिकतर स्त्री-पुरुष तो इसे संभाल ही नहीं पायेंगे; इसलिये यौन जीवन या मैथुन को इस महान् अनुभव का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है। इससे भावनायें संतुलित होती हैं, वासनाएँ शांत होती हैं और मानसिक उत्तेजना में कमी आती है। इस प्रकार दिन-ब-दिन आप अपने आंतरिक जीवन से, चेतना से अवगत होते हैं।

जब पुरुष और स्त्री एक साथ रहते हैं तो वे शिव और शक्ति के प्रतीक होते हैं। इसलिये उन्हें आध्यात्मिक उद्देश्य के लिये, संतान को जन्म देने के तथा ऊर्जा की अभिव्यक्ति के लिये इस कृत्य में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रेम और आकर्षण में कोई पाप नहीं लगता, परन्तु इसमें भी स्पष्टता और समझदारी का बहुतांश होना चाहिए, अराजकता का नहीं। केवल तभी मैथुन उच्च चेतना के जागरण का निमित्त बन सकता है।

यौन क्रिया और मैथुन, चूँकि आपके विकास के अनिवार्य अंग हैं, इनमें बुरा कुछ भी नहीं है। आपके शरीर, मन और भावनाओं के सर्वांगीण विकास में इसकी अहम् भूमिका होती है। यदि आपको लगे कि आपको इसकी जरा भी आवश्यकता नहीं है तो पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाइये। परन्तु यह मानी हुई बात है कि संभोग न तो बुरा है और न ही गंदा, वह एक प्राकृतिक कृत्य है। परन्तु इसके साथ-ही-साथ ऊर्जा के क्षय को रोकना, उसे संचित करना तथा उच्च उद्देश्य और अनुभव के लिये दिशांतरित करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि मैं भाग्यशाली हूँ, क्योंकि मेरे पिता ने मुझे मेरी माता की कोख से जन्म दिया है। मैं कोई पापकृत्य के फलस्वरूप पैदा नहीं हुआ हूँ। जब मेरे माता-पिता मिले होंगे तब प्यार, सौन्दर्य और आनन्द का एक साथ अनुभव किया होगा। मैं उस रोमांचकारी अद्वितीय अनुभव की ही उपज हूँ। अब आप समझ गये होंगे कि मैं पाप, शर्म और अपराधबोध की उपज कतई नहीं हूँ। कदाचित् मेरे माता-पिता ने यह सोचा होता कि हम पापकृत्य कर रहे हैं तो निश्चित ही मैं भी पापी और दुराचारी हुआ होता। परन्तु यह विचार ही एकदम गलत है। मैं तो ऊर्जा के दो भिन्न ध्रुवों के स्वस्थ, रोमांचकारी समागम की उपज हूँ। ऋणात्मक तथा धनात्मक, माता तथा पिता के संयोग की ठोस अभिव्यक्ति हूँ।

आपको यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिये कि आप अपने माता-पिता के सुखद संयोग की उपज हैं। जब आप अपने जीवनसाथी के साथ मैथुन क्रिया में रत हों तब भी आपका यही विचार होना चाहिए कि आप निसर्ग के एक जरूरी कार्य को सम्पादित कर रहे हैं। आपका मन एक उच्च धरातल पर सक्रिय हो, सांसारिक बातों को परे हटा दीजिये, दुःख और पीड़ा को थोड़ी देर के लिये भूल जाइये, यहाँ तक कि स्वयं को भी भूल जाइये। जिस क्रिया में आप तल्लीन हैं, थोड़ी देर के लिये उसके परे चले जाइये, देश-काल की

भी छुट्टी कर दीजिये और केवल उस सर्वोच्च आनन्द में, सागर में नमक की तरह स्वयं को लीन कर दीजिये। तभी आपको जो बच्चा होगा वह महान् चेतना का धनी, जीवनमुक्त योगी कहलायेगा।

प्रश्नोत्तर

सभी धर्म पुकार-पुकार कर कहते हैं कि उच्च अनुभव की उपलब्धि के लिये यौन क्रिया में संयम करो। तंत्र की इस विषय में क्या राय है?

कुछ लोग कहते हैं कि संतति के लिये मैथुन आवश्यक है। धर्म भी इसकी वकालत करता है। इस विषय में दूसरी विचारधारा आधुनिक युग में प्रचलित है। उसके अनुसार आनंद के लिये मैथुन बुरा नहीं माना जाता। एक तीसरी विचारधारा यह मानती है कि आध्यात्मिक अनुभव के लिये, समाधि के लिये मैथुन आवश्यक है। तंत्र तीसरे मत का पोषक है। यह मत उपयुक्त भी लगता है, क्योंकि कुण्डलिनी-जागरण और मैथुन के बीच चोली-दामन का सम्बन्ध है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि संसार में जो लोग मैथुन करते हैं, सक्रिय यौन जीवन जीते है उन सबकी कुण्डलिनी जाग ही जायेगी।

वे सब लोग जो यह मानते हैं कि कुण्डलिनी के जागरण में संभोग सहायक होता है, उन्हें सबसे पहले कुछ आधारभूत क्रियाओं में सिद्धहस्त होना चाहिये। वैसे तो मैथुन अपने आप में एक पाशविक कृत्य माना जाता है। इसके द्वारा उस महान् अनुभव की क्षणिक उपलब्धि होती है जिसके लिये स्त्री-पुरुष इसमें पुनः-पुनः प्रवृत्त होते हैं। परन्तु इसके बाद हासिल होता है , दुःख, हताशा और निस्तेज।

परन्तु हठ योग की कुछ क्रियाओं के अभ्यास से; जैसे, पुरुष के लिये वज्रोली, स्त्रियों के लिये सहजोली, शांभवी मुद्रा, कुंभक, श्वास की चेतना के साथ "सोऽहं" मंत्र का जप तथा अन्य क्रियाओं के नियमित अभ्यास द्वारा आपको संभोग से कुछ अनोखे अनुभव होंगे जो कुंडलिनी जागरण के अनुभव जैसे होंगे।

धर्मों ने अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये कर्मकाण्ड आदि को अपनाया था। आदि युग में जिंदा रहने के लिये उन्हें पुराणपंथी बनना पड़ा। अन्यथा उनका नामोनिशान बाकी न रहता। इसलिये तंत्र का भी लोप हो

गया, क्योंकि तंत्र की बातें, नियम और सिद्धान्त तत्कालीन लोगों के गले नहीं उतरती थी। इसीलिये तंत्र विज्ञान रहस्यों के घेरे में गुम हो गया। अब केवल बंद कमरों में लोगों से छिपकर इसकी शिक्षा दी जाती तथा अभ्यास कराया जाता था। उस समय के लोगों से यह कहने का किसी को साहस नहीं होता था कि यौन क्रिया के माध्यम से कुण्डलिनी जाग्रत हो सकती है। कोई इसे मानने को तैयार ही नहीं होता था, क्योंकि धर्मों ने यह घोषित कर रखा था कि यौन क्रिया या संभोग पापपूर्ण कृत्य है, अवांछनीय है, इससे दूर रहने में ही खैर है, अन्यथा सीधे नरक में जाना पड़ेगा। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि इतने सब के बावजूद लोग यौन जीवन का आनंद लूटने से चूकते नहीं थे। चोरी छिपे इसमें प्रवृत्त होते थे।

संसार में गिने-चुने कुछ ही ऐसे लोग मिलेंगे जिन्होंने कभी यौन क्रिया अथवा संभोग का अनुभव नहीं किया है। भले ही उन्होंने व्यावहारिक रूप से इसका अनुभव न किया हो, परन्तु स्वप्न में तो इसका आनंद उठाया ही होगा। मान लें उन्होंने स्वप्न में भी इसका अनुभव न किया हो तो बाहर पशु-पक्षियों को इस क्रिया में रत तो देखा ही होगा। इसके बाद भी मनुष्य स्वयं को यह कहकर छलने से बाज नहीं आता कि संभोग एक अपवित्र कर्म है। तो फिर प्रश्न यह उठता है कि यह अपवित्र कर्म आज तक अस्तित्त्व में क्यों है? ईश्वर ने आज तक इसका हरि ॐ क्यों नहीं किया? एक अपवित्र कर्म से सृष्टि कैसे चल सकती है? ईश्वर इसकी इजाजत देता ही क्यों है? खैर, यह आपके सोचने का विषय है।

तंत्र में विस्तारपूर्वक इस नाजुक विषय पर प्रकाश डाला गया है। अनेक तांत्रिक ग्रंथों का आज तक अँग्रेजी में अनुवाद नहीं हो पाया है। परन्तु आज कुछ ग्रंथ अँग्रेजी भाषा में उपलब्ध हैं। ऐसा ही एक ग्रंथ है जिसका नाम विज्ञान भैरव तंत्र है। यह अँग्रेजी में अनूदित है। मूल तांत्रिक दर्शन में मैथुन एक बड़ा ही व्यवस्थित कृत्य कहा गया है। यह भी कहा गया है कि जब आप हठ योग की क्रियाओं में दक्ष हो जाते हैं, जब आपका प्राणशक्ति पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है, जब शरीर और मन आपका कहा मानते हैं तब आपका स्खलन पर भी नियंत्रण स्थापित हो जाता है। जब आप स्खलन को रोकने में सफल होते हैं तब चरम आनंद के अनुभव को लंबा खींच सकते हैं। मान लीजिये, आप इस अनुभव को दो मिनट तक टिका सकें तो एक विस्फोट घटित होगा, जिसे कुण्डलिनी का जागरण कहते हैं।

हमें सामान्य संभोग में जिस क्षणिक आनंद का अनुभव होता है वह इतना आह्लादकारी होता है कि हम पुन: उसकी झलक पाने के लिये मैथुन क्रिया की ओर प्रवृत्त होते हैं। अब यदि इस अनुभव की अवधि किसी प्रकार बढ़ाई जाये, इसकी तीव्रता तथा रोमांचकता वैसी ही हो तो जरा कल्पना कीजिये कितना महान् आश्चर्य घटित होगा। आपके समक्ष देश, काल का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, आप भावातीत समाधि में चले जायेंगे और फिर आपका मन इस साधना को कभी नहीं छोड़ना चाहेगा।

यदि पूरे अवधान के साथ यह अनुभव पाँच मिनट तक स्थिर रखा जा सके तो तंत्र की वह मान्यता फलीभूत हो सकती है जिसमें संभोग द्वारा तन और प्राण एक-दूसरे से संयुक्त किये जाते हैं।

आध्यात्मिक विकास के संदर्भ में पवित्रता का क्या स्थान और महत्त्व है?

भले ही प्रश्न एक व्यक्ति का हो, परन्तु इसके उत्तर का सम्बन्ध हजारों-हजार लोगों से है। पवित्रता कोई यथार्थता नहीं है। यह सबके लिये है भी नहीं। इसका सम्बन्ध मनुष्य के मन और भावनात्मक व्यवहार से है। लाखों में कोई एक परम पवित्र मिलेगा। प्रकृति के लिये ऐसे व्यक्ति का निर्माण संभव हो सकता है। परन्तु इस व्यर्थ की मगजपच्ची से कोई लाभ नहीं होगा और न ही यह आपको कुछ देगा।

हमेशा सेक्स के विचार में खोये रहना, परन्तु कभी उसका अनुभव न करना एक प्रकार की स्नायविक व्याधि है। आपको भय लगता है, आप स्वयं को पापी और अपराधी मानने लगते हैं। आप ही बताइये, आध्यात्मिक आलोक की उपलब्धि के सामने पवित्रता का ढोंग रचाने से लाभ ही क्या है? क्या हम इसके दूसरे अहम् पहलू पर विचार नहीं कर सकते कि संभोग से संयम कर हम एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक नियम को नकार रहे हैं। आप प्रति-प्रश्न कर सकते हैं कि "क्या आप भोजन के बिना नहीं रह सकते?" अथवा यह भी कि "क्या आप श्वास बाहर रोककर जीवित नहीं रह सकते?"

हम मनुष्यों को प्रकृति के नियमों का सम्मान करना ही होगा। हम अराजकता के वातावरण में नहीं रहना चाहेंगे, क्योंकि अराजकता सबसे बुरी अवस्था होती है। मनुष्य के व्यवहार और प्रकृति के नियमों में समायोजन होना चाहिए। ऐसा नहीं कि व्यवहार उत्तर तो प्राकृतिक नियम दक्षिण हों।

मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि पुरुष और स्त्री शिव और शक्ति के प्रतीक होते हैं। उन्हें आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक-दूसरे के निकट आने देना चाहिए। उन्हें भिन्न ऊर्जा ध्रुवों के संयोग के फलस्वरूप संतान को जन्म देने की इजाजत मिलनी ही चाहिए। प्रेम, मोहब्बत और एक-दूसरे के लिये आकर्षण जरा भी पाप नहीं है। परन्तु इसमें स्पष्टता, संयम अनुशासन के लिये भी अवश्य स्थान होना चाहिए। अराजकता इससे दूर ही रहे तो अच्छा है। मनुष्य के दु:ख का कारण मात्र इतना ही है कि वह अपने यौन व्यवहार में अराजक हो जाता है। परन्तु यदि ऐसे लोगों के बीच एक-आध परम पवित्र व्यक्ति मिल जाये तो हम उसके सम्मान में नतमस्तक हो सकते हैं।

आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में यौन क्रिया साधक है या बाधक?

एक चाकू आपकी जान ले सकता है और रक्षा भी कर सकता है। यह इस बात पर निर्भर है कि आप उसका किस प्रकार उपयोग करते हैं। यदि आप उससे किसी की जान ले लें तो वह मारक हो सकता है और यदि उसकी सहायता से किसी मरीज का आपरेशन करें तो वह प्राणदाता हो सकता है। आपके विकास के स्तर के अनुसार यौन क्रिया का भी एक विशिष्ट उद्देश्य होता है। वह आपके आध्यात्मिक उत्थान में सहायक हो सकती है। परन्तु सचाई यह है हम यौन क्रिया के प्रयोजन को समझने से ही चूक गये हैं।

मनुष्य के मन में यौन क्रिया के विचार को लेकर एक प्रकार की अपराध भावना पायी जाती है और वह स्वयं को इससे मुक्त नहीं कर पाता। यह भी सच है कि आप पर यौन क्रिया की माँग का बड़ा दबाव पड़ता रहता है। इसीलिये आप इसमें प्रवृत्त होते रहते हैं। संसार में ऐसे पागलों की कमी नहीं है जिन्होंने कभी यौन क्रिया का अनुभव ही नहीं किया हो। प्रत्येक को इसका अनुभव होता है। किसी को इसे नकारने की भूल ही नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह एक सर्वकालिक सत्य है। यदि ऐसा न होता तो आज इसका अस्तित्व ही नहीं न रह पाता।

आप ऐसा क्यों कहते हैं कि मैं ब्रह्मचारी हूँ? क्या महज इसलिये कि आप मुझ पर यह प्रभाव डालना चाहते हैं कि आप बड़े महान् हैं? मैं तो आपको पागलों की श्रेणी में ही रखूँगा, महान् लोगों की नहीं। प्रकृति के नियम कोई मनुष्य द्वारा निर्मित तो नहीं हैं और न ही ये किसी देश के संविधान में पाये

जाते हैं। मनुष्य ने तो यह नियम नहीं बनाया कि आप सुबह बिस्तर से उठकर शौच जायेंगे और न ही किसी आदमी ने यह नियम बनाया कि रात्रि में आप सोयेंगे अथवा यह कि रात्रि में आपको भय लगे और आप असुरक्षा का अनुभव करें। ये सबके सब प्रकृति के नियम हैं। उसी ने इन्हें बनाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राकृतिक नियम क्या हैं। जो नियम आपके व्यक्तित्व के विकास तथा शरीर धारण के लिये बनाये गये हैं वे प्राकृतिक नियम कहलाते हैं। इसलिये आपको यह समझना जरूरी है कि इन नियमों के पीछे प्रकृति का एक प्रयोजन छुपा होता है। यौन क्रिया और संभोग के विरुद्ध इतनी बहस करने के बाद आज भी यह उतना ही सच है कि यह मानव अस्तित्व की एक अहम् माँग है, आवश्यकता है, भूख है। आप किसी भी कीमत पर इसकी अनदेखी नहीं कर सकते। यदि श्वास-प्रश्वास जरूरी है, यदि शरीर के स्वाभाविक कार्य जरूरी हैं तो यौन क्रिया भी उतनी ही आवश्यक है, महत्त्वपूर्ण है। सबसे प्रथम आवश्यकता यह है कि आप इस शर्त को बिना शर्त स्वीकार करें।

अब अगला सत्य यह होगा कि क्या मैं सेक्स की उपेक्षा कर उच्च अनुभव प्राप्त कर सकता हूँ? ठीक है, शायद मैं इसमें कुछ हद तक सफल हो जाऊँ। परन्तु सामान्य औसत व्यक्ति का क्या होगा? इसलिये हमें सबसे पहले इस विषय पर तंत्र की सम्मति जानने की कोशिश करनी चाहिए। तंत्र कहता है, "वह सब कुछ जिसे मनुष्य गिरा हुआ मानता है, उसके लिये ऊपर चढ़ने का सोपान होना चाहिए।" तंत्र स्पष्ट घोषणा करता है कि मनुष्य को अपना श्रम और समय यौन अनुभव को उच्च आयाम देने की दिशा में खर्च करना चाहिए।

यह मेरी स्थापित मान्यता है कि यौन जीवन आध्यात्मिक साधना है। इसलिए कृपा कर अपनी पत्नी के साथ बैठकर इस विषय पर स्पष्ट राय बना लीजिये, अथवा अपने पति के साथ सलाह कर किसी अनुभवी योग्य गुरु की तलाश कीजिये। परन्तु याद रखिये, गुरु कभी भी विख्यात हस्तियाँ नहीं रहे हैं। उनकी ख्याति दिग्दिगन्त में कभी नहीं फैली, वे गुमनाम रहे हैं। उनसे यह कला सीखकर घर में इसका अभ्यास कीजिये। फिर आपको एक दिन स्वयं अनुभव होगा कि जो कुछ मैं आपसे कह रहा हूँ वह शत-प्रतिशत सत्य है।

जल में कमल

कर्म संन्यास दीक्षा के बाद आपके जीवन में एक नया अर्थबोध आता है। हर वस्तु यथावत् रहती है, परन्तु जहाँ तक उनके साथ आपका सम्बन्ध है, उसके दर्शन में अवश्य नयापन आ जाता है, जो शुभ है। इसका आध्यात्मिक प्रयोजन होता है। जगत् में जहाँ तक वस्तुओं तथा व्यक्तियों का सवाल है, उनके साथ हमारे सम्बन्ध, तनाव तथा दुःख जुड़े होते हैं। इनसे भय, दुःख, तनाव और दबाव की सृष्टि होती है। इसे बदलने की जरूरत है। वास्तविकता तो यह है कि हम जीवन में जिसके संपर्क में आते हैं, वह हर वस्तु तथा व्यक्ति तटस्थ होता है। वह हमारे सुख-दुःख का स्रोत कतई नहीं हो सकता। परन्तु हम अपने त्रुटिपूर्ण दर्शन और दृष्टिकोण के कारण सुख-दुःख का निर्माण कर लेते हैं तथा दूसरों को उसका कारण कहते फिरते हैं।

कर्म संन्यास के बाद इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है। कोई भी वस्तु, व्यक्ति अथवा अनुभव हमारी विधायक अथवा निषेधात्मक प्रतिक्रिया के लिये जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। इसे कर्म संन्यास दर्शन के नाम से पुकार सकते हैं। आपको जल में कमलवत् रहना सीखना चाहिए। कमल जल में जन्म लेता, पलता और बढ़ता है। परन्तु फिर भी जल से अछूता रहता है। जब भी आप कमल का फूल तोड़ते हैं वह सूखा ही रहता है। हमें भी कर्म संन्यासी के रूप में इसी प्रकार रहना चाहिए।

संन्यासी सांसारिक जीवन से मुख मोड़ लेता है। उसे किसी से लेना-देना नहीं होता। परन्तु कर्म संन्यासी ऐसा नहीं कर सकता। वह जीवन के ऐसे क्षेत्र में प्रवेश लेता है जहाँ उसे बड़ी सावधानी के साथ बढ़ना होता है। उसकी स्थिति दाँतों के बीच जीभ की तरह होती है। यदि आप जरा भी असावधान रहें तो कल्पना कर सकते हैं कि जीभ की क्या हालत होगी। न तो आप अच्छी तरह बात कर

सकेंगे और न ही कुछ खा-पी सकेंगे। इसी तरह कर्म संन्यासी को भी दक्षतापूर्वक विधायक और निषेधात्मक घटनाचक्रों के बीच जीवनयापन करना होता है।

कभी सुख होता है तो कभी दु:ख, कभी सफलता मिलती है तो कभी विफलता। ये दोनों ही स्थितियाँ आपको एक झटका दे जाती हैं। शटल कॉक की तरह आप कभी इस सिरे पर तो कभी उस सिरे पर फेंके जाते हैं। कभी आप सुख के पंखों पर उड़ते हैं तो कभी दु:ख के थपेड़े खाते हैं। जिस तरह फुटबॉल खिलाड़ियों की ठोकरें खाती कभी इस गोल में तो कभी उस गोल में पहुँचती रहती है। इस स्थिति से उबरने के लिये आपको कुछ भी विशेष करने की आवश्यकता नहीं होती। बस, आपको हर स्थिति के लिये एक उपयुक्त दृष्टिकोण विकसित करना होता है।

अब यह दर्शन क्या है? इसका कोई नामकरण नहीं किया जा सकता। यदि मैं इसे वैराग्य कहूँ तो यह समूचे कर्म संन्यास दर्शन को अपने दायरे में नहीं समेटता, क्योंकि बाहर से यदि देखा जाये तो आप आम आदमी की तरह जीवन के दलदल में गहरे धँसते दिखते हैं। अब कर्म संन्यासी के रूप में आप कुछ भी नहीं त्यागते। लोगों तथा वस्तुओं के साथ आपका सम्बन्ध कर्मों के फल, लाभ-हानि, जय-पराजय, मान-अपमान, इन सबका आपको अनुभव करना होता है। आप इनमें से किसी से भी बच नहीं सकते।

आप कुछ घटनाओं और उनके अनुभवों से आँखें बंद कर सकते हैं। जब मरुस्थल में शुतुरमुर्ग पर आक्रमण होता है तो वह रेत में अपना सिर छुपा लेता है और सोचता है कि अब मैं सुरक्षित हूँ। दुश्मन मेरे पास नहीं पहुँच सकता। परन्तु आपको उसकी तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए। आप जीवन में किन्हीं अनुभवों को अस्वीकार नहीं कर सकते। वे सभी आपके साथ हर स्थिति में रहेंगे। आप जहाँ भी जायें, वे छाया की तरह आपके साथ होंगे। आपको उनका सामना करना ही होगा। इस दृष्टिकोण से हर अनुभव आपके लिये कीमती होता है – यहाँ तक कि वह अनुभव भी जिसमें आपकी पत्नी, पति, बच्चे, मित्र आपकी अपनी श्रेष्ठता अथवा हीन भावनायें, अपराधबोध अथवा असामान्य यौन जीवन आपके कष्ट और क्लेश के कारण होते हैं। यदि आप अभद्र और जिद्दी हैं, दूसरों के शुभाकांक्षी और दानी हैं, शोषक अथवा शोषित हों तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। आपको जीवन की प्रत्येक ऊँच-नीच से कुछ-न-कुछ सीखना होगा। आपको न तो अपने राग से लड़ना है और न ही खींचातानी कर वैराग्य को उसका स्थानापन्न बनाना है। आप केवल जीवन के माध्यम से ही अपनी प्रकृति की गहराई और उसकी सर्वव्यापकता का अनुभव कर सकते हैं। इसे कर्म संन्यास का मार्ग कहते हैं।

संतुलन की खोज

आजकल अनेक लोग जीवन में आध्यात्मिकता लाने की युक्तियों की तलाश में रहते हैं। इसके पूर्व कि आपके दैनिक सांसारिक जीवन के कार्यकलापों और आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा के बीच तालमेल स्थापित हो सके, आपको दो प्रकार के जीवन की परिकल्पना को विदा करना होगा; क्योंकि आध्यात्मिक और सांसारिक जीवन एक-दूसरे के पूरक होते हैं। आप इनमें से किसी में भी रहते हुए दूसरे जीवन में प्रविष्ट हो सकते हैं। आप इच्छा द्वारा ही अनिच्छा में जा सकते हैं। किसी की भी उपेक्षा अथवा अनदेखी नहीं कर सकते। जब तक आप इन्द्रिय भोगों से नहीं गुजरेंगे आपके जीवन में वैराग्य नहीं आ सकता। इसी प्रकार राग तथा ममता भी आपको वैराग्य की अवस्था में पहुँचाने के साधन हो सकते हैं। जब आप सांसारिक जीवन में रहते हैं तब उसकी क्षणभंगुरता को समझने का प्रयास कीजिये, उसका विश्लेषण कीजिये और जानने का प्रयास भी कीजिये कि यह जीवन आपको क्या कुछ देता है। यदि आपका विश्लेषण सही होगा तो आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इस जीवन से केवल मृगतृष्णा ही टूटती है तथा निम्न और उच्च जीवन की बेहतर समझ आती है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने चार प्रकार के पुरुषार्थों की चर्चा की है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म का तात्पर्य सद्गुणों से है, अच्छे कार्यों से है। अर्थ का उद्देश्य स्वार्थ प्रेरणा आदि से है, काम का तात्पर्य मनोकामनाओं और उनकी पूर्ति से है तथा मोक्ष का तात्पर्य हर प्रकार के द्वन्द्व तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति से है। मोक्ष की अवस्था में मन अन्य तीन के पीछे नहीं भागता।

जीवन में इन चार पुरुषार्थों का स्वस्थ तालमेल होना चाहिए। एक गृहस्थ के जीवन में अर्थ और काम का विशेष स्थान होता है। धर्म और मोक्ष उसके आंतरिक गुण होते हैं, जो उसे उच्च जीवन में पहुँचने की प्रेरणा और दिशा

प्रदान करते हैं। संन्यासी तथा कर्म संन्यासी के जीवन में धर्म और मोक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अर्थ और काम का स्थान गौण होता है। उनके जीवन में इन चारों का इस प्रकार स्वस्थ समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए।

वेद तो हमेशा यही घोषणा करते आये हैं कि एक जीवन दूसरे उच्चतर जीवन में कूदने का मंच होता है। जैसे ब्रह्मचर्य गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार होता है, वैसे ही गृहस्थाश्रम वानप्रस्थ का तथा वानप्रस्थ संन्यास आश्रम का प्रवेश द्वार होता है। इसका तात्पर्य यह कतई नहीं होता कि आप घर, परिवार तथा व्यवसाय से छुट्टी ले लें। सबके सब आपके मन और दर्शन के क्रमागत विकास के साधन होते हैं।

स्नातक तथा स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के लिये आपको दस, पंद्रह वर्षों तक कठोर साधना करनी तथा अपनी छोटी-मोटी इच्छाओं, वासनाओं का त्याग करना होता है। अनुशासन में रहना पड़ता है। इसके बाद आप गृहस्थाश्रम में जाते हैं। वहाँ आपको आशा-निराशा, जय-पराजय तथा मान-अपमान के बहुमुखी अनुभवों से गुजरना तथा पग-पग पर समायोजन करना होता है। कभी दुर्घटनायें होती हैं तो कभी विरोध। परन्तु इन सबके बीच से आपको अपना मार्ग बनाना होता है। यह भी तो योग साधना ही है जो आपकी चेतना को मांज-धोकर चमकाती-निखारती है।

गीता में अट्ठारह अध्याय है। अंतिम अध्याय का नाम 'मोक्ष संन्यास योग' है। इसमें सब कर्मों के त्याग और मोक्ष की प्राप्ति की चर्चा है। गीता के प्रथम अध्याय का शीर्षक क्या है? 'विषाद योग।' क्या आप विश्वास कर सकते हैं कि विषाद, हताशा और निराशा भी कोई योग हो सकते हैं? क्या विषाद, हताशा और निराशा भी आपकी चेतना के विकास में सहायता कर सकते हैं? हम जानते हैं कि हठ, कर्म, राज, ज्ञान, भक्ति, क्रिया, मंत्र और लय योग हमारी चेतना को विकसित करते हैं। परन्तु विषाद, हताशा, दु:ख, शोक आदि किस प्रकार चेतना को विकसित करने के उपादान हो सकते हैं? यही गीता की प्राथमिक कल्पना है तथा इसी के चारों ओर उसका ताना-बाना बुना गया है।

गीता की मान्यता है कि यम, नियम से योग शुरू नहीं होता। वह किसी धार्मिक, दार्शनिक अथवा कट्टरपंथी दर्शन से भी शुरू नहीं होता। योग उस क्षण प्रारंभ होता है जब आप अत्यंत क्रोधित होते हैं तथा स्वयं को संतुलित करने की कोशिश करते हैं, जब आप पर वासनाओं का चौतरफा हमला होता है और आप स्वयं को संभालने की कोशिश करते हैं। जब आप पत्नी

और बच्चों को पीटना और त्यागना चाहते हैं, परन्तु उसी क्षण आपके मन में किसी कोने से आवाज आती है, अपने निर्णय पर दुबारा विचार करो। जब आप लोगों से घृणा करते हैं, परन्तु आपका मन कहता है, "नहीं, मुझे घृणा नहीं करनी चाहिये।" जब आप अपने काम-धंधे से, दुकान के काम से, पारिवारिक झंझटों से पूरी तरह थक चुके होते हैं, आप आत्महत्या करने का निर्णय ले लेते हैं अथवा ऐसा ही कोई घातक निर्णय कर बैठते हैं तब तुरंत आपके भीतर से एक आवाज उठती है, "ठहरो! तुम्हें अभी जिन्दा रहना है।" इसे कहते हैं संतुलन। इसी संतुलन की प्राप्ति, योग का सर्वप्रथम उद्देश्य है अथवा यों कहें कि यह योग का प्रथम सोपान है तो अनुचित नहीं होगा।

इसीलिये कृष्णार्जुन संवाद का प्रथम अध्याय गीता में 'विषाद योग' के नाम से जाना जाता है। जब आप विपत्तियों से घिरे हों, आपके चारों ओर गहन अंधकार हो, जब आपको जीवन में दूर-दूर तक आशा की किरण न दिखलाई पड़े, अथवा जब आपको अपनी पत्नी लाइलाज लगे, जीवन में सुधार की कोई गुंजाइश न रह जाये, व्यवसाय में दिवालियापन अपरिहार्य लगे तो यही वह गंभीर क्षण होता है, जब योग का प्रारंभ किया जाना चाहिए।

सांसारिक तथा आध्यात्मिक जीवन दो पृथक् डिब्बों की तरह नहीं होते। यह तो आप हैं। आप सोचते कुछ और अनुभव कुछ और करना चाहते हैं। सांसारिक और आध्यात्मिक अथवा यौगिक जीवन के बीच एक सेतु होता है, जिसके बीच कोई 'स्वामित्वहीन जमीन' (नो मैन्स लैण्ड) नहीं होती। मन, बुद्धि, अहंकार और भावनायें चित्त और चेतना से सम्बन्धित प्रक्रियाएँ हैं। हमें योग तथा कर्मयोग आदि, किसी से भी इन्हें परिमार्जित करना है।

यदि आप श्रीराम और महर्षि वशिष्ठ के वार्तालाप को, जिसका 'योग-वाशिष्ठ' में संकलन किया गया है, पढ़ें तो पायेंगे कि उसमें इसी विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। बारह वर्ष की अवस्था में श्रीराम के जीवन में इतना परिवर्तन आया कि जीवन में उनकी रुचि ही समाप्त हो गयी थी। वे हाथ-मुँह नहीं धोते और न नहाते थे। खेलकूद तथा शिकार में उनकी रुचि समाप्त हो गई थी। वे राजदरबार के कार्यों में भी शामिल नहीं होते, न तो भोजन करते और न ही माता-पिता के दर्शन करते थे।

यह देखकर उनके पिता दशरथ एक दिन उनके पास आये और पूछने लगे, "राम, यह कैसी अनुशासन हीनता है? तुम इतने उदास कैसे हो गये?" श्रीराम ने कहा, "पिताजी, मैंने अनुभव किया है कि इस समूची सृष्टि की रचना माया है।

सभी कुछ क्षणभंगुर और नाशवान् है। इसमें से कुछ भी शाश्वत नहीं है। हम लोग राज्य शासन और व्यवस्था के नाम पर जो कुछ करते हैं वह सबका सब हमारी वासनाओं के कारण होता है। वासना ही हमें प्रेरित करती है।"

श्री दशरथ बोले, "राम, तुम्हें क्या हो गया है? तुम तो महान् दार्शनिक जैसी बातें कर रहे हो। मैंने तो ये बातें गुरुदेव के मुख से सुनी थीं। परन्तु मुझे लगता है तुम कहीं-न-कहीं गलती कर रहे हो। ऐसी बात नहीं कि जो तुम कह रहे हो वह गलत है। मैं उसे शत-प्रतिशत सही मानता हूँ। यह समूची सृष्टि नाशवान् है। जीवन के भोग, आमोद-प्रमोद क्षणिक हैं। जीवन असत्य है और हमारी जो उपलब्धियाँ हैं, वे हमारी अच्छी-बुरी वासनाओं का ही परिणाम हैं। मैं इन बातों से सहमत हूँ। फिर भी लगता है कि तुम कहीं-न-कहीं गलती कर रहे हो। तुम कहाँ गलती कर रहे हो तुम्हें स्वयं मालूम नहीं है। तुम गुरुदेव के पास जाकर क्यों नहीं इन बातों का स्पष्टीकरण कर लेते?" श्रीराम बोले, "मैं कहीं नहीं जाऊँगा। मैं सुबह से शाम और शाम से सुबह तक अपने कमरे में चुपचाप बैठा रहता हूँ, कुछ करता-धरता नहीं।" हम कह सकते हैं कि उस समय श्रीराम बड़े विषाद और ग्लानि के अनुभव से गुजर रहे थे।

जब श्रीराम गुरुदेव के पास जाने के लिये किसी तरह राजी नहीं हुए तब श्री दशरथ उनके पास गये और श्रीराम की दशा की जानकारी दी। तब वशिष्ठ श्रीराम के पास आये। श्रीराम अकेले चुपचाप एक आसन पर बैठे थे। वशिष्ठ ने उनके मस्तक का स्पर्श कर उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा, "राम, आओ हम कुछ वार्तालाप करें।" श्रीराम और वशिष्ठ ने जीवन-दर्शन पर वार्तालाप किया। उन्होंने सृष्टि, आत्मा, पदार्थ और ऊर्जा की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया, ऊर्जा और चेतना आदि गहन, गंभीर विषयों पर विचार-विमर्श किया। अंत में श्रीराम को इस गूढ़ वार्तालाप से ज्ञानालोक की उपलब्धि हुई। उन्हें इस समूचे वार्तालाप से एक चीज की उपलब्धि हुई जो मैं आप लोगों से कहने जा रहा हूँ। वह यह कि जो लोग सांसारिक तथा आध्यात्मिक जीवन को एक-दूसरे से पृथक् और भिन्न मानते हैं वे सत्य से बहुत दूर होते हैं। उनकी इस मान्यता में जरा भी सत्यांश नहीं होता। सत्य कभी एकाधिक नहीं होता। सत्य हमेशा एक रहता है, और एक रहेगा।

इस प्रकार श्रीराम जी शान्त हुए। उन्हें शान्ति मिली। वे पुनः राजकाज में यथापूर्व प्रवृत्त हुए। योगवाशिष्ठ की शेष कथा आप पढ़ लें।

योग वाशिष्ठ की झलक

'योग वाशिष्ठ' भारत के एक अत्यंत विख्यात प्रचीन ग्रंथ का नाम है। इसका शाब्दिक अर्थ 'महर्षि वशिष्ठ का योग' है। वशिष्ठ एक युग द्रष्टा महान् ऋषि हुए हैं जो श्रीराम के गुरु थे। वे सूर्य वंश के कुलगुरु भी थे।

'योग वाशिष्ठ' में श्रीराम और उनके गुरु महर्षि वशिष्ठ के बीच वार्तालाप का संकलन है। इसका मुख्य विषय यह है कि क्या कर्म अथवा उसका परित्याग आध्यात्मिक ज्ञानालोक की उपलब्धि में सहायक हो सकता है। वशिष्ठ कहते हैं कि अपने कर्त्तव्य का पालन और त्याग, दोनों ही इस दिशा में आवश्यक हैं। पक्षी को उड़ने के लिये दो पंखों की आवश्यकता होती है। इसी तरह अध्यात्म के सोपान पर चढ़ने के लिये कर्त्तव्य की पूर्ति और आंतरिक त्याग, दोनों की समान आवश्यकता है।

इस वार्तालाप का सीधा सम्बन्ध श्रीराम की अपने जीवन के विषय में किंकर्त्तव्यविमूढ़ता से है। बचपन में उन्हें बारह वर्षों तक विद्याध्ययन करने तथा गुरु के पवित्र सान्निध्य में रहने के लिये भेजा गया था। परन्तु वहाँ से लौटने पर श्रीराम अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने लगे तथा पारिवारिक कार्यकलापों से उदासीन रहने लगे। वे बुझे-बुझे रहते, परिवार तथा मित्रों में उनकी कोई रुचि नहीं रह गई थी। वे अपने कमरे में मनन-चिंतन करते, चुपचाप अकेले बैठे रहते थे।

उनकी यह दशा देख महाराज दशरथ काफी परेशान हुए। एक दिन उन्होंने श्रीराम को बुलाकर पूछा, "पुत्र, तुम बारह वर्षों तक गुरु के पास उनके आश्रम में रहे हो। अब तुम वहाँ से लौटे तो हमने आशा की थी कि तुम अपने कर्त्तव्य और जिम्मेदारियाँ पूरी करोगे। तुम्हें क्या हो गया है कि तुमने स्वयं को चारों ओर से खींच लिया है? जीवन के प्रति तुम्हारी उदासीनता का क्या कारण है?"

श्रीराम ने कहा, "चूँकि संसार में सब कुछ क्षणभंगुर है, मुझे उसमें जरा भी रुचि नहीं रह गई है। हर सुख क्षणिक और नाशवान् है। इसलिए मैं स्वयं को जीवन के भोग-विलास में संलग्न नहीं करना चाहता। जब जीवन ही नाशवान् है तब उसके कार्यकलापों में हिस्सा लेने का कोई अर्थ नहीं है। जीवन स्वयं अनिश्चित और अल्प है, क्योंकि कोई भी यह नहीं जानता कि वह अगले क्षण जीवित रहेगा अथवा नहीं। व्यक्ति जितना अधिक कर्म करता है उतने ही संस्कार संचित होते हैं। संस्कार जितने अधिक होते हैं, दु:ख भी उसी अनुपात में बढ़ते हैं। दु:खों की बाढ़ के साथ चिन्ता और परेशानियाँ भी बढ़ती हैं और इनके साथ-साथ व्यक्ति जन्म-मृत्यु के जाल में उलझता चला जाता है। यह एक अंतहीन क्रम है। इसलिये मैं स्वयं को जीवन और उसके कर्मों से विलग रखना चाहता हूँ।"

पुत्र की बातें सुन महाराज दशरथ परेशान हुए। उन्होंने गुरुदेव से प्रार्थना की कि वे श्रीराम के जीवनदर्शन को सुधारें। इसी संदर्भ में श्रीराम और वशिष्ठ का वार्तालाप हुआ, जो 'योग वाशिष्ठ' में संकलित है। वशिष्ठ श्रीराम को आध्यात्मिक जीवन का रहस्य समझाते हैं तथा कर्म और आत्मसाक्षात्कार के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं कि यह जरूरी नहीं कि कर्म को त्याग कर व्यक्ति केवल ध्यान करे। अनेक लोगों की यह धारणा है कि कर्म का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि कर्म करने से उनके संस्कार बनते हैं। वे समझते हैं कि व्यक्ति कर्मों से अपवित्र होता है, इसलिये साधक को जीवन से अवकाश ले लेना चाहिए। वशिष्ठ कहते हैं कि यह कतई आवश्यक नहीं है। उनका मत है कि संसार में रहते हुए तथा अपने कार्यों को करते हुए व्यक्ति को उच्च आध्यात्मिक जीवन के लिये प्रयास करते रहना चाहिए।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कर्मयोग रहित ध्यान वांछित फल प्रदान नहीं करता। आध्यात्मिक प्रगति के लिये इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति आवश्यक है। इसलिये कर्म करना जरूरी माना गया है। मनुष्य और उसकी इच्छाओं के बीच चोली-दामन का सम्बन्ध है। इच्छाओं के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता, परन्तु हम अपराधबोध से कष्ट उठाते हैं। इसी कारण हम बहुधा स्वयं को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करते हैं कि इच्छायें हैं ही नहीं और यदि हैं तो उन्हें मान्यता देने की आवश्यकता नहीं है।

कर्म क्या है? अपनी इच्छा को कार्य रूप में परिणत करना, अपनी महत्त्वाकांक्षा को अभिव्यक्ति प्रदान करना कर्म है। आपके भीतर यदि इच्छा है तो वह आपको

कार्य करने के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार कर्म इच्छा का प्रतिफल होता है। जो कर्म नहीं करते हैं, वे अपनी इच्छाओं को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर सकते। उनकी इच्छा मन के किसी कोने में दबी रह जाती है। मनुष्य में तीन प्रकार की इच्छायें होती हैं–प्रजनन और वंशवृद्धि, धन वृद्धि तथा इन्द्रिय सुख। ये इच्छाओं के तीन प्रकार हैं। आपको इन सभी की पूर्ति करनी पड़ती है। यदि आप कर्म से मुख मोड़ेंगे तो इच्छाओं का दमन होगा और आपकी आध्यात्मिक प्रगति अवरुद्ध होगी। भले ही आप घंटों ध्यान क्यों न करें। इसलिये आप जो कर्म करते हैं उनके द्वारा दबी हुई और अनभिव्यक्त इच्छाओं का उन्मूलन होता है। अत: इच्छाओं का परित्याग कतई वांछनीय नहीं है।

योग वाशिष्ठ में एक दृष्टांत कथा आती है जिसमें एक राजा वैराग्य की अधिकता से अभिभूत हो गया था। वह राजकाज छोड़कर ध्यान और तपस्या के लिये दूर एकांत जंगल में चला गया। उसकी अनुपस्थिति में उसकी रानी चुड़ाला ने राज्य का संचालन किया। राजा नहीं जानता था कि उसकी पत्नी एक प्रतिभावान् योगिनी थी। एक दिन रानी को ऐसा लगा कि राजा जंगल में व्यर्थ समय गँवा रहा है। इसलिये उसने राजा का मार्गदर्शन करने का निश्चय किया।

वह एक दिन सूक्ष्म रूप में वहाँ जा पहुँची जहाँ उसका पति ध्यानस्थ था। उसका सूक्ष्म शरीर राजा के समक्ष जैसे ही उपस्थित हुआ, राजा ने आँखें खोल दीं। राजा ने पूछा, "आप यहाँ क्या कर रही हैं?" रानी बोली, "मैं आपसे यह कहने के लिये उपस्थित हुई हूँ कि आपकी अनुपस्थिति में राज्य का संचालन करते हुए मुझे सिद्धि प्राप्त हुई है, जबकि आप यहाँ ध्यान और साधना करते हुए सो रहे हैं।" राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, परन्तु साथ-ही उसने अनुभव किया कि उसकी पत्नी जो कह रही है वह अक्षरश: सत्य है।

राजा ने आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिये पत्नी से आग्रह किया। रानी ने कहा, "विवाहित जीवन आध्यात्मिक जीवन को जरा भी अपवित्र नहीं करता। धन और वासनाएँ आत्मा को नहीं छूते। उनका बाहरी अस्तित्व आत्मा से भिन्न होता है। यदि आप पानी और पेट्रोल को मिलायें तो उनका अस्तित्व पृथक् ही रहता है।" इसी प्रकार विवाहित और आध्यात्मिक जीवन अलग हैं। जो ऐसा समझते हैं कि सांसारिक जीवन आध्यात्मिक जीवन को अपवित्र करता है, भयानक भूल करते हैं।

जब आप कर्म से नाता जोड़ते हैं तब दु:ख उठाते हैं, जबकि कर्म स्वयं दु:ख का कारण नहीं होता। कर्म के साथ आपका तादात्म्य आपके दु:ख का,

स्नायविक रोग का कारण होता है। इसलिये योग वाशिष्ठ कहता है कि कर्म करते समय इस बात की सावधानी रखें कि आप कर्म से आंतरिक स्तर पर जुड़े न रहें। कर्म का विरोध करना व्यर्थ है। वशिष्ठ श्रीराम को देश, काल, वस्तु, विचार, कल्पना, भावना आदि का आध्यात्मिक प्रगति और बंधन से सम्बन्ध समझाते हैं। वे कहते हैं कि किस प्रकार इच्छा मनुष्य को बाँधती अथवा मुक्त करती है। आप प्रेम और घृणा, दोनों करते हैं। ये आपको कब बाँधते हैं और कब बंधन से छुड़ाते हैं, वशिष्ठ इसका विशद् विवेचन करते हैं।

वशिष्ठ एक राजा और उसकी पत्नी लीलावती की कथा श्रीराम को सुनाते हैं। एक दिन पति-पत्नी आपस में राजनैतिक और पारिवारिक विषयों पर चर्चा कर रहे थे। इसी बीच रानी सो जाती है। नींद में उसे सपना आता है कि वह बूढ़ी हो कर मर गई। एक बालिका के रूप में उसका पुनर्जन्म होता है। जवान होने पर उसका विवाह होता है, बच्चे होते हैं, और पुन: बूढ़ी होकर वह मर जाती है। सपने में इस क्रम की सात बार पुनरावृत्ति होती है। इसके बाद उसकी आँख खुल जाती हैं। उसे सोये दो ही मिनट हुए थे। राजा का कथा प्रवाह चल रहा था। इस अल्पकाल में उसे सात जन्मों का अनुभव हुआ। यह अनुभव यथार्थ था, क्योंकि सात जन्मों में उसने बचपन, युवावस्था तथा संतान सुख भोगा, बुढ़ापे का कष्ट उठाया तथा मृत्यु का सामना किया। जहाँ तक अनुभव का सम्बन्ध था, उसके द्वारा देखा गया सपना सच था। यह सही है कि जब उसकी चेतना का स्तर जाग्रत चेतना के स्तर पर लौटा तो उसके अनुभवों का कोई अर्थ नहीं रह गया था। परन्तु वह उस अनुभव से गुजरी अवश्य थी।

इसी प्रकार यदि आप अपनी चेतना के स्तर को ऊँचा उठा सकें तो वर्तमान में जो कुछ भी आपके आस-पास घटित हो रहा है, आपकी मानसिक और भावनात्मक स्थितियाँ, जिनका आप दैनिक जीवन में सामना करते हैं, सबका सब लीलावती के अनुभव की तरह अप्रासंगिक रह जाता है। जब लीलावती सपना देख रही थी तब जो कुछ भी घटित हो रहा था वह उस समय सच था। परन्तु जैसे ही उसने मन की दशा बदली, सब कुछ सापेक्ष्य रह गया। ठीक इसी प्रकार हमारे सब अनुभव, लोग जिनसे हम मिलते हैं; हमारे कार्य तथा भावनायें हमें ठोस और उचित लगते हैं। परन्तु यदि चेतना के उच्चतर स्तर से इन्हें देखें तो ये अयथार्थ लगते हैं। जिन अनुभवों से हम गुजरते हैं, वे अंतिम नहीं हैं, सापेक्ष्य होते हैं।

वशिष्ठ श्रीराम को समझाते हुए कहते हैं कि अनुभव के अनेक स्तर होते हैं। प्रत्येक स्तर पर आपको होने वाले अनुभव यथार्थ लगते हैं। परन्तु जब आप चेतना के उस स्तर का अतिक्रमण करते हैं तब सब-के-सब अनुभव जो यथार्थ लगते हैं, जो अनुभव ठोस और सच्चे लगते हैं, वे सचमुच वैसे नहीं होते। उनके सच लगने का कारण हमारे मन का उनके साथ तादात्म्य होता है।

यदि आपको लगता है कि आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने कर्म और कर्त्तव्यों का त्याग करना जरूरी है तो निश्चय ही आप भटक गये हैं और आध्यात्मिक जीवन की मूल बात को पकड़ने में असमर्थ रहे हैं। कर्म और ज्ञान दोनों सापेक्ष हैं, क्योंकि वे मन के अनुभव हैं। मन के द्वारा हमें जो अनुभव होता है वह सीमित होता है। पूर्ण अनुभव केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब आप मन की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। आप मन का अतिक्रमण तब तक नहीं कर सकते जब तक कर्म के द्वारा कर्म का अतिक्रमण नहीं कर लेते।

वशिष्ठ ने श्रीराम से कहा, "देखो राम, तुम्हें राजा बनने और राजकाज चलाने के लिये काम करना है। तुम्हें राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थापना करनी है। तुम्हें अनेक कार्य करने होंगे। इसमें कोई बुराई नहीं है। परन्तु एक चीज याद रखो। हर वस्तु एक विचार है, ज्ञान और कर्म भी विचार है, त्याग, इच्छा और वासनायें भी विचार हैं। यहाँ तक कि आध्यात्मिक अनुभव भी विचार है। समूचा विश्व ही माया का विस्तार है, विचारों का पुँज है।

वार्तालाप का समापन करते हुए वशिष्ठ कहते हैं, "भले ही संसार मिथ्या हो, उसके कार्यों में अवश्य भाग लो, क्योंकि तुम्हारी भागीदारी भी यथार्थ नहीं है। तुम्हारे चारों ओर जो कुछ घटित हो रहा है, भले ही वह मूर्खतापूर्ण क्यों न हो, उसमें अपनी भूमिका अदा करो। मूर्खों के साथ मूर्ख बनो।"

आप सम्राट् हो सकते हैं, प्रधान सेनापति, स्वामी, प्रशासक, गृहिणी, व्यवसायी, कलाकार, इंजीनियर और वेश्या भी। ये सब आपके कर्मों की मात्र अभिव्यक्तियाँ हैं। वशिष्ठ कहते हैं, "राम, तुम राजा बनकर राजकाज चलाओ, तुम्हारा कोई भी राजकीय कार्य तुम्हारे आध्यात्मिक जीवन का रोड़ा नहीं बन सकता। वस्तुओं और कर्त्तव्य से मुँह मोड़ना त्याग नहीं कहलाता। असली त्याग विचारों का त्याग और उनसे स्वयं को असंलग्न रखने में है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने दायित्वों का निर्वाह अवश्य करना चाहिये। केवल तभी उसके कर्म आध्यात्मिक जीवन में रुकावट नहीं डालेंगे।

कर्म

विश्व में हर चीज कर्म के नियम द्वारा संचालित होती है। यह नियम स्वयं में पूर्ण है। जब हमारे समक्ष कर्म की चर्चा होती है तो हम उसका तात्पर्य अपने द्वारा किये जाने वाले कर्मों से लगाते हैं। परन्तु बारीकी से विचार करें तो उसका केवल इतना अर्थ नहीं होता। हर वस्तु का एक निहित उद्देश्य होता है जो कभी दृश्य तो कभी अदृश्य होता है। यह सब कुछ एक निश्चित नियम के अधीन होता है, जो प्रकृति द्वारा निर्मित है। इसे कर्म कहते हैं। अब चूँकि हम विश्व के एक घटक हैं, इसलिये जब हम कर्म के इस नियम की चर्चा करते हैं तो इसका तात्पर्य हम से ही होता है। इस भूमंडल पर मनुष्य का आगमन उसका जीवन, परिवार, घर तथा इस रंगमंच से उसकी विदाई, सब कुछ निश्चित नियमों के अंतर्गत होता है।

प्रकृति इस महान् कर्म-सिद्धान्त की नियामक होती है। इस नियम के अधीन मनुष्य जन्म लेता, सुख-दु:ख भोगता और अपने प्रारब्ध को पूरा करता है। मनुष्य का जन्म प्रकृति विकास का परिणाम है। चौरासी लाख योनियों में प्रयत्न एवं चूक के परिणामस्वरूप मानव का यह रूप प्रस्तुत हुआ है। जब हम आधुनिक विज्ञान का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि लाखों-लाख जाति वर्गों के निर्माण के उपरांत ही मानव जीवन अपने वर्तमान रूप में आ सका है।

विगत चौरासी लाख योनियों में भ्रमण की अवधि में प्रकृति ने स्वयं ही विकास का महान् कार्य सम्पन्न किया है। योनि भ्रमण में उसने चेतना के विकास का स्वयं नियंत्रण और नियमन किया है। जब मनुष्य ने अपने वर्तमान रूप में जन्म लिया, उसके साथ एक विशिष्ट चीज ने भी जन्म लिया, जिसे व्यक्ति का सिद्धान्त कहते हैं। इस नियम के अस्तित्व में आने के बाद प्रकृति का काम हल्का हो गया है, वह कुछ अंशों में स्वतंत्र हो गई, क्योंकि इसके

बाद मनुष्य के कर्म ही उसके आगामी विकास को निश्चित करने लगे। उसके सुख-दु:ख, लाभ-हानि का निर्धारण उसके अपने कर्मों के अनुसार होने लगा। अब मानव शरीर में प्रकृति का महत्त्व केवल पर्यवेक्षिका के रूप में रह गया।

मानव देह में जन्म के साथ उसके शरीर में पूर्वजन्म की कुछ प्रवृत्तियाँ भी आने लगीं। इनमें प्रमुख प्रवृत्तियाँ आहार, निद्रा, भय और मैथुन हैं। इन प्रवृत्तियों के साथ प्रकृति ने उसमें ज्ञान की आकांक्षा तथा देश और काल की चेतना को भी उत्पन्न किया। मनुष्य में विराट् विश्व के साथ अपने अस्तित्व की चेतना भी विकसित हुई। इसी चेतना के आधार पर मनुष्य अपने कर्मों की दिशा निर्धारित करने में सक्षम हुआ। उसने अपनी इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, आनंद और पीड़ा का स्वरूप भी तय किया। इन इच्छाओं से प्रेरित होकर उसने कर्मों की सृष्टि की, जिनके द्वारा उसका अगला जन्म निर्धारित हुआ। फिर यह क्रम अनवरत रूप से चलने लगा।

मृत्यु के पश्चात् भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर जीवन में व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों, इच्छाओं तथा वासनाओं द्वारा उसकी चेतना प्रभावित होती रहती है। शरीर को रथ की संज्ञा दी गयी है। वह शरीर नहीं होता। शरीर में आत्मा निवास करती है। इस शरीर रूपी रथ का सारथी बुद्धि होती है। आत्मा स्वयं कोई कर्म नहीं करती। वह अकर्त्ता तथा अभोक्ता होती है। वह समस्त घटनाओं तथा कर्मों का मूक द्रष्टा होती है। बुद्धि प्रेरक तत्त्व होती है, जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति के लिये प्रेरित करती है।

उपर्युक्त बातों को एक दृष्टांत द्वारा अधिक आसानी से समझा जा सकता है। कल्पना कीजिये, चार चक्रों वाला एक रथ है जिसमें एक सारथी तथा पाँच घोड़े जुते हैं। इस रथ के सारथी के पीछे वाले आसन पर एक यात्री बैठा है। यह हमारे संपूर्ण अस्तित्व का प्रतीक है। हमारी बुद्धि, कर्त्ता अथवा प्रेरक तत्त्व होती है जो इस पथ में सारथी के स्थान पर बैठी है। पाँच घोड़ों द्वारा यह रथ खींचा जाता है। अब यदि घोड़े नियंत्रण में न हों और यदि सारथी मदिरा के नशे में अपना संतुलन खो चुका हो तो यह निश्चित मानिये कि रथ में सवार यात्री का भयानक अंत निकट है।

परन्तु इसके विपरीत यदि पाँच घोड़े अनुशासित तथा सारथी के नियंत्रण में हों और यदि सारथी भी पूरी तरह होश में हो, तो निश्चय ही यात्री अपनी मंजिल तक पहुँचने में सफल होगा। दोनों ही स्थितियों में आत्मा इन बातों से सर्वथा अप्रभावित रहती है। वह रथ में तो बैठी है, परन्तु उसे इस बात की

जरा भी चिंता नहीं होती कि रथ, घोड़ों और सारथी के साथ क्या घटित होने जा रहा है। या तो रथ सुरक्षित अपनी मंजिल पर पहुँच जायेगा, या अनियंत्रित घोड़ों और मद्यप सारथी की करतूतों के फलस्वरूप बीच रास्ते में ही तहस-नहस हो जायेगा। आत्मा इसकी जरा भी चिन्ता नहीं करती। ये दो प्रकार के कर्म होते हैं, जिनका हमें जीवन में सामना करना होता है।

इसलिये जब हम कर्म की चर्चा करते हैं, तो हमें यह याद रखना चाहिये कि जब व्यक्ति कर्म करता है, तो उसमें उसका शरीर, इन्द्रियाँ तथा बुद्धि शामिल होती हैं, परन्तु उसकी आत्मा मूक निष्क्रय द्रष्टा की भाँति इसके कार्यों को देखती तो है, किन्तु उसके परिणामों से जरा भी प्रभावित नहीं होती।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस उपमा को बड़े ही रोचक ढंग से समझाया गया है। वह कहता है कि फलों के एक वृक्ष की शाखाओं पर दो पक्षी बैठे हैं, एक ऊपर की शाखा पर तथा दूसरा निचली शाखा पर बैठा है। निचली शाखा पर बैठा पक्षी फलों पर लगातार चोंच मार रहा है। चूँकि उसे प्रत्येक फल कड़वा लगता है, वह मुँह में रखे उसके एक अंश को थूक देता है। ऊपर की शाखा पर बैठे पक्षी को फलों को खाने में कोई रुचि नहीं है। वह केवल अपने मित्र के कार्यों को द्रष्टा-भाव से देखता रहता है।

अंत में निचली शाखा पर बैठा पक्षी अपने मित्र को ऊपर बैठा देखकर कहता है,"अरे! तुम फल क्यों नहीं खाते?" ऊपर वाला पक्षी शान्तिपूर्वक उत्तर देता है, "मैं इन फलों को चख चुका हूँ और अब इन्हें चखने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। परन्तु तुम क्यों इन सभी फलों में अपनी चोंच मार रहे हो? पहले तुम्हें यह तय करना चाहिये कि तुम्हें इन्हें खाना है कि नहीं। और जब खाओ तो इन्हें पूरी तरह खा लो, भले ही यह कड़वा हो अथवा मीठा। यदि तुम्हें कड़वे फल पसंद नहीं हैं तो उन पर चोंच ही क्यों चलाते हो। वृक्ष के सारे फल ही कड़वे हैं। ऐसी बात नहीं कि कोई फल मीठा और कोई कड़वा हो। तुम्हें अपनी बुद्धि द्वारा सोचना चाहिए कि इस वृक्ष के सभी फल कड़वे हैं।"

निचली शाखा पर बैठे पक्षी ने कहा, "अच्छा मित्र, तो आओ हम इस वृक्ष से उड़ चलें और किसी ऐसे वृक्ष को खोजें जिसके सभी फल बढ़िया और मीठे हों।"इस प्रकार कथा आगे बढ़ती है तथा कहती है कि वे दोनों पक्षी एक से दूसरे वृक्ष पर उड़ते रहे। इस प्रकार वे हजारों वृक्षों पर गये, परन्तु सब जगह उनके अनुभव एक जैसे रहे, अंत में वे एक स्थान पर विश्राम के लिये पहुँचे। वे हार गये थे। यह वृक्ष बड़ा विशालकाय था। उस पर पत्तों की भरमार थी,

परन्तु फल एक भी नहीं था। वरिष्ठ पक्षी ने अपने साथी से कहा, "मित्र अब तुम ऐसी जगह आ पहुँचे हो जहाँ तुम्हें कड़वे फलों को चखने और थूकने की जरा भी आवश्यकता नहीं है।"

यह अंतिम वृक्ष मानव योनि का प्रतीक है। वरिष्ठ पक्षी आत्मा का प्रतिनिधि है। इसे सर्वोच्च चेतना का भी प्रतीक कह सकते हैं। दूसरा पक्षी जीवात्मा अथवा बुद्धि का प्रतीक है। बुद्धि द्वारा प्रेरित होकर जीवात्मा चेतना के विकास के उद्देश्य से अन्यान्य योनियों में जन्म लेती रहती है। जब वह मृत्यु को प्राप्त होती है, तो अपनी आगामी यात्रा में संस्कारों का समूह साथ ले जाती है। इस प्रकार उसका आवागमन चलता रहता है।

अब जीवात्मा को पूर्व जन्मों में किये अपने कर्मों के अनुरूप अगामी जन्मों के लिये शरीर मिलते रहते हैं। हर अनुभव अविनाशी होता है, हर कर्म जीवात्मा पर बीज अथवा संस्कार छोड़ जाता है। जीवात्मा लाखों-लाख योनियों में चक्कर काटती रहती है। हर योनि के संस्कार बीज रूप में उसकी चेतना में संचित होते रहते हैं। इन संस्कारों की संख्या की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये असंख्य होते हैं।

हमारी प्रत्येक इच्छा, वासना तथा अनुभव के संस्कार बीज रूप में चेतना की अकूत गहराई में संचित होते रहते हैं। हम अपनी इन्द्रियों तथा मन द्वारा जो भी कार्य करते हैं, वे भले ही कितने ही क्षुद्र क्यों न हों, अपने संस्कार छोड़ जाते हैं। जिस प्रकार एक टेप रिकार्डर आपके प्रत्येक शब्द को रिकार्ड कर लेता है, ब्रह्माण्डीय मन आपके प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य का लेखा-जोखा रखता है।

आपका प्रत्येक भौतिक और मानसिक कार्य अपने प्रतीक रूप में, जिसे संस्कार कहते हैं, चेतना द्वारा अंकित कर लिया जाता है, संचित हो जाता है। क्या आपने किसी पौधे के बीज को देखा है? यदि आप बीज को देखें तो उसमें आपको वृक्ष के दर्शन नहीं होंगे, परन्तु उस बीज में समूचा वृक्ष छुपा रहता है। उस बीज में समूचा वृक्ष अदृश्य सोया पड़ा रहता है। इसी प्रकार शरीर, मन बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा हम जो भी छोटे-बड़े कार्य करते हैं, हमारे उन सभी चेतन, अचेतन कार्यों का लेखा-जोखा हमारी आत्मा अथवा चेतना रखती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे गहन व्यक्तित्व में लाखों संस्कार या बीज अन्तर्निहित रहते हैं।

सांख्य और वेदान्त दर्शनों के मतानुसार हमारा सूक्ष्म शरीर संस्कारों को संचित करता है। प्रत्येक अनुभव सर्वप्रथम इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं, फिर

वह मन में पहुँचता है जो उसकी पहचान करता है। फिर यह पहचान अथवा सूचना अवचेतन मन में पहुँचती है जो उसकी पहचान करता है। इसके कुछ समय बाद अचेतन में चली जाती है। पुन: वहाँ कुछ समय रहने के बाद बीज रूप में ये संस्कार हमारे प्रत्येक जन्म और परिस्थितियों में प्रभावशाली होते हैं। हमारा वर्तमान जन्म, कर्म, व्यक्तित्व, प्रेरणा, इच्छायें, सफलता, विफलता आदि सब के सब हमारे अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुरूप हैं, जिन्हें हम आज भी साथ लिये फिर रहे हैं।

हर जन्म में कुछ नये संस्कार बीज रूप में हमारे इस संचय में वृद्धि करते हैं। पिछले संचय में से कुछ तो हमारे वर्तमान जन्म में नि:शेष हो जाते हैं और कुछ नये जुड़ जाते हैं। इस प्रकार हम कर्मों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम कोटि के कर्म उन बीजों से बनते हैं जो परिपक्व हो चुके हैं। दूसरी कोटि के कर्म उन बीजों के परिणामस्वरूप होते हैं, जो अभी बन रहे हैं तथा सूक्ष्म शरीर में पहुँच रहे होते हैं और तीसरी कोटि के कर्म उन पुराने बीजों के कारण होते हैं, जो अब फल देने के लिये एकदम तैयार होते हैं।

आइये, इस बात को अधिक व्यावहारिक ढंग से समझने की कोशिश करें। आप कुछ हजार बीज लाकर अपने भंडार कक्ष में रख लेते हैं। उचित अवसर आने पर आप इस स्टॉक में से एक हजार बीज निकाल कर बो देते हैं। अब ये बीज सुंदर पौधों के रूप में बढ़ते तथा समय आने पर फल प्रदान करते हैं। मौसम के अंत में आप इन बीजों को एकत्र कर पुन: अपने भंडार कक्ष में रख देते हैं। पुन: बुआई के मौसम में आप कुछ हजार बीज निकाल कर बो देते हैं। उनमें जो फल लगते हैं, उन्हें आप मजे से खाते हैं। वे फल मीठे, कड़वे, कसैले भी हो सकते हैं। फिर मौसम के अन्त में आप बीजों को एकत्र कर भंडार में रख देते हैं। जीवन में कर्मों की यही प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।

हमारा वर्तमान जीवन हमारे पिछले कर्मों का फल है। इस जीवन में हम जबकि पूर्व कर्मों का फल भोग रहे हैं, हम नये कर्म भी करते जा रहे हैं। हमें कभी भी यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि केवल हमारे महत्त्वपूर्ण कर्मों का लेखा-जोखा रखा जाता है और दूसरे छोटे-मोटे कर्मों को वैसे छोड़ दिया जाता है। प्रकृति के विशाल साम्राज्य में आपका अदना-सा भी कार्य अनदेखा या अलेखित नहीं रहता। सबका लेखा-जोखा बड़े व्यवस्थित ढंग से

रखा जाता है। यह मानवकृत नियम तो नहीं है, जिसमें कभी-कभी बड़े-से-बड़ा अपराधी भी कानून की पकड़ से बच जाता है। यहाँ कोई भी छोटा-बड़ा कर्म प्रकृति की आँख से बच नहीं सकता।

अधिक विस्तार में न जाकर मैं अपनी बात को यह कहकर समाप्त करना चाहूँगा कि हमारा जीवन कुछ और नहीं, बल्कि हमारे कर्मों का क्रीड़ा क्षेत्र है। हमने भूतकाल में जो बोया था उसका फल आज चख रहे हैं। आज तो बोयेंगे, भविष्य में उसका फल चखेंगे। हम जैसा बोते हैं, वैसा काटते हैं। यह प्रकृति का अटल नियम है। जीवन अनंत है, मृत्यु एक वाक्य के अंत में पूर्ण विराम है तथा अगले वाक्य का प्रारंभ। शरीर सृष्टि के संपूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं है। शरीर के अतिरिक्त बुद्धि और आत्मा का भी अस्तित्व होता है। आत्मा ही सत्य और अस्तित्व की समग्र अभिव्यक्ति होती है।

उपर्युक्त दृष्टांत कथा का वृक्ष आध्यात्मिक चेतना का प्रतीक है, जिसके द्वार पर हम मानव शरीर के माध्यम से पहुँच चुके हैं। हम अनेक वृक्षों के फल चख और थूक आये हैं। परन्तु मैं समझता हूँ कि अब वह समय आ चुका है कि हम सर्वोच्च चेतना की भाषा को, उसके सत्य को समझें तथा प्राप्त करें। संध्या में हम उस वृक्ष पर अवश्य पहुँचें जहाँ फलों को चखने की हमारी इच्छा ही समाप्त हो जाये, जैसा कि अँग्रेज कवि रॉबर्ट फ्रास्ट ने अपनी एक कविता में लिखा है–

जंगल बहुत प्यारे हैं, अन्धेरे और गहन,
लेकिन मुझे अभी वायदे पूरे करने हैं,
और मीलों दूर जाना है, सोने के पहले,
और सोने से पहले, मीलों दूर जाना है।

प्रश्नोत्तर

कर्म क्या है और अपने व्यक्तिगत कर्मों के प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण होना चाहिये? क्या हम अपने कर्मों को बदल सकते हैं? हाँ, तो कैसे?

कर्म तीन प्रकार के होते हैं–संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। जो कर्म फल देने की स्थिति में होते हैं उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। आपको उन्हें हर हालत में भोगना

होता है। उनसे बचने का कोई उपाय नहीं होता। आप क्रियमाण कर्मों को नियंत्रित कर सकते हैं। यदि आपमें पर्याप्त आत्मबल है, यदि आपको उच्चतर शक्तियों की सहायता उपलब्ध है तो आप इन कर्मों में गुणात्मक परिवर्तन ला सकते हैं।

क्रियमाण कर्मों से निपटने के लिये आपको सत्संग करना चाहिए, साधु-संतों के पवित्र सान्निध्य में रहना चाहिए तथा विधायक वातावरण की तलाश करनी चाहिए, ताकि आदतें सुधरें, अच्छे विचार निर्मित हों तथा चरित्र और व्यक्तित्व में निखार आये। जब आप आश्रम में आकर रहते और काम करते हैं, तब अपने वर्तमान कर्मों को सकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं। यदि आप इन्हें उचित दिशा नहीं देंगे तो यही कर्म संचित होकर आगे आपका प्रारब्ध बनायेंगे। इसलिये इन्हें आरंभ में ही समाप्त करना चाहिए।

संचित कर्मों को नियंत्रित और नि:शेष करना भी बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु उन्हें भी संतुलित करने की युक्तियाँ हैं। तपस्या कीजिये, सादगीपूर्वक रहिये, इन्द्रिय भोगों से यथासंभव संयम कीजिये तथा ध्यान और योग की नियमित साधना कीजिये। आपको पर्याप्त मंत्र जप भी करना चाहिए। जब आपको लगे कि पूर्वजन्म में आपके कर्म बड़े निम्न दर्जे के रहे हैं तब आपको उन्हें निष्प्रभावी करने की प्रक्रिया में जुट जाना चाहिए। यदि आप ऐसा करेंगे तो कुछ काल पश्चात् जब वे आपका प्रारब्ध बनेंगे तब अपना प्रभाव दिखाना प्रारंभ कर देंगे।

तीसरे प्रकार के कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं। उन्हें भोगे बिना कोई गुजारा नहीं। आप उनसे कतई बच नहीं सकते। इसके लिये आपको अपना स्वभाव और विचार दर्शन बदलना चाहिए। बस यही कुछ कर पाना आपके बस में होता है। जब एक बार आपने मनुष्य योनि में जन्म ले लिया तो इन्हें भोगना अवश्यंभावी हो जाता है। यदि आप उच्च दार्शनिक विचारधारा वाले हैं तो आप पूर्ण संतुलन के साथ प्रारब्ध का मुकाबला कर सकेंगे। इसके विपरीत आप मूर्ख और निम्न विचार वाले हैं तो रोकर, चीख-चिल्लाकर प्रारब्ध को भोगेंगे। प्रारब्ध का जमकर सामना करने के लिये यह बड़ा आवश्यक है कि आपका विचार-दर्शन ऊँचे दर्जे का हो।

फिर भी मैं आपसे यह कहना चाहूँगा कि कर्म का सिद्धान्त बड़ा रहस्यमय है। आपको कर्म के मायाजाल से बाहर आने के लिये बड़े कठोर परिश्रम की आवश्यकता है। छोटे-मोटे कर्मयोग से काम चलने वाला नहीं है।

प्रारब्ध और मुक्त इच्छाशक्ति के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध है?

सांख्य योग तथा अन्य दर्शनों में इस विषय पर बहुत कुछ कहा गया है। यौगिक शब्दावली में इसके लिये दो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। इन्हें प्रारब्ध अथवा भाग्य कहा गया है। प्रारब्ध विकास की योजना का ही अंग होता है, वह हमारे तमाम संचित कर्मों का संचय होता है। यदि आप किसी टोकरी में फल या फूल देखते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे किसी वृक्ष अथवा पौधे से उत्पन्न हुए हैं। ये फल अथवा फूल उस वृक्ष तथा पौधे का प्रारब्ध ही तो है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य पुरुषार्थ कहलाता है। इसे स्वतंत्र इच्छाशक्ति भी कहा जाता है। इन दो योजनाओं को, इन दो ब्रह्माण्डीय नियमों को भली-भाँति समझना जरूरी है। समग्र कर्मों का फल प्रदान करना अथवा जीवन प्राप्त करना ही प्रारब्ध कहलाता है। जन्म अथवा मृत्यु उसी महान् योजना का अंग है जिसे प्रारब्ध कहते हैं।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि पुरुषार्थ अथवा स्वतंत्र इच्छाशक्ति क्या है। पुरुष का तात्पर्य आत्मा अथवा उच्चतर चेतना होता है। जब आप स्वयं को शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् कर लेते हैं, जब आपका इनसे तादात्म्य नहीं रह जाता, जब आपको उच्च बातों का अनुभव होने लगता है, तब आपको इस पुरुष अथवा उच्चतर चेतना का अनुभव होने लगता है। जब आपको इस चेतना की उपलब्धि हो जाती है तो वह देश, काल अथवा प्रारब्ध द्वारा सीमित नहीं हो सकती। वह प्रारब्ध के परे हो जाती तथा स्रष्टा बन जाती है। परन्तु यह घटना हर किसी के साथ घटित नहीं होती। लाखों में एक-आध आत्मा इस बिन्दु तक पहुँच पाती है।

अपने प्रारब्ध के कितने अंश को हमें स्वीकार करना तथा कितने अंश को बदलने का प्रयास करना चाहिए?

यदि हमारा मन और इच्छाशक्ति कमजोर हुए तो हम जीवन-प्रवाह में पतवार विहीन नौका की तरह बहते रहेंगे। परन्तु यदि एक बार मानसिक एकाग्रता के नियमित अभ्यास द्वारा हम शक्ति अर्जित कर लें, दृढ़ इच्छाशक्ति के स्वामी बन सकें तो निश्चय ही अपने भाग्य के निर्माता बन सकते हैं, उसकी दिशा बदल सकते हैं, घटनाओं पर नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। इतिहास में अनेक महामानवों ने ऐसा किया है और यह क्रम आगे भी जारी रहेगा।

प्रारब्ध को बदलने और जीवन में गुणात्मक परिर्वतन लाने के लिये आपको प्रकृति के अटल नियमों को खोजना होगा। वैज्ञानिकों ने अव्यक्त प्राकृतिक नियमों का उद्‌घाटन किया और एक बड़ी सीमा तक प्रकृति पर अपना नियंत्रण और स्वामित्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है। वैज्ञानिकों ने अनेक असंभव बातों को संभव कर दिखाया है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को भी शरीर और मन के नियमों तथा उनकी महान् शक्तियों को खोजना तथा जानना होगा। आप जैसे-जैसे इन रहस्यों पर से पर्दा हटायेंगे, अधिकाधिक क्षमतावान् बनेंगे तथा इन अनन्त शक्तियों का प्रयोग कर जीवन और प्रारब्ध अथवा भाग्य को बदलने तथा मनचाहा स्वरूप प्रदान करने में सफल होंगे।

सकारात्मक तथा निषेधात्मक प्रारब्ध को समझाने की कृपा करें?

जिस प्रकार दिन और रात आते-जाते रहते हैं, उसी प्रकार सकारात्मक और नकारात्मक प्रारब्ध भी आते-जाते रहते हैं। नकारात्मक प्रारब्ध को दु:ख और पीड़ा कहते हैं। इसके विपरीत सकारात्मक प्रारब्ध सुख और मौजमस्ती कहलाता है। जब सुख आता है तो हमारे पैर जमीन पर नहीं पड़ते, हम फूले नहीं समाते। हम पर एक नया नशा चढ़ जाता है। हम सोचने लगते हैं कि सुख कभी समाप्त नहीं होगा। हम यह नहीं समझते कि धूप-छाँव की तरह यह भी बदलने वाला है।

अत: सुख के दिन में जब भाग्य हमारे अनुकूल हो, हमें अत्यंत विनम्र होना चाहिए। हमें इन दिनों बड़ा संवेदनशील भी होना चाहिए, क्योंकि दिन के बाद रात अवश्य आती है। सुख की सम्पूर्ण कालावधि में हमें इस तरह रहना चाहिए, मानो हम घोर दु:ख में हों, तभी हम संतुलित मन से नकारात्मक प्रारब्ध का सामना कर सकेंगे।

परन्तु बहुधा होता इससे उल्टा ही है। जब हम पर दु:ख पड़ता है, जब भाग्य हमारे विपरीत होता है तब हम टूट जाते हैं, रोते, चीखते-चिल्लाते हैं तथा इस उसको अपने दु:खों के लिये दोषी ठहराते हैं, ईश्वर को भला-बुरा कहते हैं, प्रकृति तथा स्वयं को कोसते नहीं अघाते। हम भगवान से पूछते हैं, “तू हमें किस बात की इतनी सजा दे रहा है?” फिर प्रार्थना करते हैं, “हे प्रभु! हमें इस दु:ख से जल्दी उबार। यह अब मेरी सहनशक्ति से अधिक हो गया है, आदि-आदि।”

इसके विपरीत जब भाग्य हमारे अनुकूल होता है, सुख और सफलता हमारे चरण चूमती है तब हम फूले नहीं समाते। हमारा घमंड बढ़ जाता है। हम कहते हैं, "मैंने इस उद्योग व्यवसाय को स्थापित किया, यह कार जर्मनी से मँगायी। यह सब मेरे कठिन श्रम और सूझबूझ का फल है। यह घर मैंने अपने श्रम और धन से बनाया है, आदि-आदि।" अब इस समस्त ताने-बाने में ईश्वर और उसकी कृपा का कहीं भी नामोनिशान नहीं मिलता। ईश्वर तो सर्वत्र कर्त्ता रूप में विद्यमान होता है। परन्तु वह सुख के साम्राज्य में कहीं भी दूर-दूर तक नजर नहीं आता है। वहाँ तो 'मैं'और 'मेरा' का ही एकछत्र साम्राज्य होता है।

इतना ही नहीं, जैसे ही हम सुख के साम्राज्य में पहुँचते हैं, तत्काल हमारे भीतर एक बड़ा परिवर्तन आता है। हमारी बातचीत का ढंग बदल जाता है, हमारे विचार रचनात्मक होते हैं तथा वार्तालाप में एक जोश और उमंग दिखने लगती है। हम यह पूरी तरह भूल ही जाते हैं कि अभी-अभी कुछ दिन पूर्व हम कितने दु:ख में थे। इसलिये अपने कर्म, संस्कार और वासनाओं से हमें बड़ी सावधानीपूर्वक निपटना चाहिए तथा प्रारब्ध के प्रति उचित दृष्टिकोण बनाये रखना चाहिए। याद रखिये, किसी भी कीमत पर आप प्रारब्ध की पकड़ से बच नहीं सकते। आपको उसका सामना करना ही पड़ेगा। भले ही आप संत, महात्मा, गृहस्थ, पापी, अपराधी ही क्यों न हों, प्रारब्ध आपको छोड़ने वाला नहीं है। उसके दरबार में हेराफेरी, रिश्वत, सिफारिश आदि के लिये कोई जगह नहीं होती।

पुनर्जन्म क्या है?

आत्मा जीवन-दर-जीवन अपना पीछा करती है। उसे इस बात से कुछ लेना-देना नहीं होता कि आप क्या करते हैं। वह आपके सुख-दु:ख से सर्वथा निर्लिप्त रहती है। वह आपकी जीवन-यात्रा का एक मूक द्रष्टा और साक्षी होती है। इसलिये कभी भी यह मत पूछिये कि आत्मा का क्या होता है अथवा यह कि उसका पुनर्जन्म क्यों होता है। परन्तु पुनर्जन्म लेने वाली जीवात्मा को जब एक दिन उसकी मात्र एक झलक मिल जाती है तो वह जीवनमुक्त हो जाती है।

आज आप उसे देख नहीं पाते। सिर्फ पुस्तकों में उसके विषय में पढ़ते हैं, परन्तु आपको उसका अनुभव नहीं होता। हो सकता है, अगले जन्म में भी

आप उसका अनुभव न कर पायें। यह भी हो सकता है कि इस अनुभव के पूर्व आपको सैंकड़ों-हजारों जन्मों से गुजरना पड़े। परन्तु यदि एक बार आपको यह ज्ञात हो जाए कि भूतकाल से अभी तक आप जो कुछ भी करते रहे हैं वह सब निरर्थक हैं, अथवा यह कि आप उस वैकल्पिक महान् अस्तित्व के दर्शनों के लिये तड़प उठें, अथवा यह सोचने के लिये ठहर जायें कि मैं यह सब क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ, तो शायद आपको उस आत्मा की एक झलक मिल जाए। इसके बाद तो आपकी गिनती महान् भाग्यवान्, विरले लोगों में होने लगेगी। बस, उसी दुर्लभ क्षण की उपलब्धि के लिये जन्म-जन्मांतर में आत्मा आपका पीछा करती रहती है। इसलिये यह सोचना ही गलत है कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है। तुम्हारा भाग्य या प्रारब्ध ही पुनर्जन्म से गुजरता है। तुम्हारी इच्छायें, वासनायें, जिजीविषा आदि उस महान् क्षण की प्रतीक्षा में पुनर्जन्म से गुजरती हैं।

मानवता की क्या भूमिकाएँ हैं? वह किधर बढ़ रही है?

मैं प्रलय का पक्षधर नहीं हूँ। मानवता के प्रति मैं बड़ा आशावादी हूँ। मुझे किसी महाविनाश की पदचाप सुनाई नहीं पड़ रही है। मैं ऐसा भी नहीं मानता कि मानवता का एक बड़ा भाग महाविनाश के कराल गाल में समा जायेगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि मानव बेहतर-से-बेहतर होगा।

मुझे ज्ञात है कि भूतकाल में मनुष्य ने असह्य पीड़ायें झेली हैं, परन्तु आज तो हम अध्यात्मपूर्ण जीवन बिताने के लिये मुक्त हैं। आज तक मानवता के इतिहास में कभी भी इतनी महान् आध्यात्मिक क्रांति नहीं आई जितनी आज चारों ओर दिखलाई दे रही है। न केवल वयस्क और बूढ़े, बल्कि बच्चे भी आज अध्यात्म की राह पर चल रहे हैं। यह असाधारण बात है। इसमें अकल्पनीय संभावनायें छुपी नजर आ रही हैं।

हमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह याद रखनी चाहिए कि यदि हमारी यह आध्यात्मिक खोज यथावत् जारी रही तो निश्चय ही हमारा सामाजिक जीवन बड़ा महान् और विकसित होगा। तकनीकी उन्नति के फलस्वरूप आज के मनुष्य के पास खाली समय की कोई कमी भी नहीं रह गई है। भूतकाल में तो विज्ञान ने हमें इतना कुछ नहीं दिया था। परन्तु आज तो हम अपना भोजन मिनटों में बना लेते हैं, किसी दूरस्थ स्थान में मात्र कुछ ही घंटों में पहुँच सकते हैं। इसलिये योगाभ्यास के लिये हमारे पास काफी समय बचा रहता है।

भूतकाल में मनुष्य को अस्तित्व के लिये बड़ा संघर्ष करना पड़ता था। वह पैदल चलकर घंटेभर में मात्र कुछ ही मील जा पाता था। परन्तु आज तो वह ध्वनि से भी तेज गति से घंटेभर में सैंकड़ों मील जा सकता है। इसलिये तकनीकी प्रगति ने हमें जो सुख और आराम तथा ढेर सारा फालतू समय दिया है, हमें उसे नष्ट नहीं करना चाहिए। हमें उन कार्यों में अपना धन, समय और शक्ति खर्च नहीं करनी चाहिए जो हमारी आध्यात्मिक उन्नति नहीं करते।

अतएव मुझे क्षितिज पर आशा की रजत किरणें दिखलाई पड़ती हैं। हो सकता है चूँकि मैं एक आशावादी व्यक्ति हूँ, मुझे ऐसा लगता हो। मुझे उन तमाम भविष्यवाणियों की भी जानकारी है जो प्रलय के दिनों की घोषणा करती थीं। मैंने भविष्यवाणियों से भरी पुस्तकें भी पढ़ी हैं, परन्तु उनसे जरा भी सहमत नहीं हूँ। मैं यह कदापि नहीं मानता कि ये भविष्यवाणियाँ कभी घटित होंगी।



श्रीमद्भगवद्गीता का दर्शन

अनेक शताब्दियों से गीता भारतीय तथा विदेशी आध्यात्मिक साधकों का मार्गदर्शन करती आई है। मात्र सात सौ श्लोकों वाला यह लघु ग्रंथ कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच के वार्तालाप का संकलन है।

कौरवों और पाण्डवों की सेनायें आमने-सामने युद्ध प्रारंभ करने के संकेत की प्रतीक्षा में सन्नद्ध खड़ी थीं। अर्जुन पाण्डवों की सेना का प्रधान सेनापति था तथा श्रीकृष्ण उसके सारथी थे। जब अर्जुन ने दोनों ओर की अपार सेना को लड़ने के लिये तैयार खड़ी देखा, तो उसके मन में बड़ा विषाद हुआ। वह जिन्दगी से निराश हो गया। हथियार रथ में रख उसने युद्ध करने से इन्कार कर दिया। उसकी यह दशा देख श्रीकृष्ण ने उसे उपदेश देना प्रारंभ किया कि उसे किस तरह व्यवहार करना चाहिए। इस कृष्णार्जुन संवाद में यौगिक जीवन और व्यवहार का सार भर दिया गया है। इसलिये गीता को योगशास्त्र भी कहा गया है।

गीता में अट्ठारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय को 'अर्जुन विषादयोग' कहा गया है। हममें से बहुत-से लोग समझते हैं कि आसन-प्राणायाम से योग का प्रारंभ होता है। कुछ अन्य लोगों की मान्यता है कि अनुशासन तथा आत्म-नियन्त्रण द्वारा योग का प्रारम्भ होता है, परन्तु गीता की मान्यता है कि जब आप निराशा के गर्त में होते हैं तभी योग प्रारंभ होता है। योग उस समय प्रारंभ होता है जब आपकी समस्त कल्पनायें टूट जाती हैं, जीवन का मोह भंग हो जाता है, जब आप गहन उदासी और हताशा में डूब चुके होते हैं, आपका मन और मस्तिष्क टूटने की कगार तक पहुँच चुका होता है। ऐसे मौके पर आप क्या करते हैं? क्या इस अवसर पर आप परिस्थिति और अपनी मानसिक स्थिति से

समझौता करते हैं? अथवा इस परिस्थिति को बदलने और सुधारने का प्रयत्न करते हैं? कमजोर-से-कमजोर व्यक्ति तथा अज्ञानी भी कोशिश यही करता है कि उसकी परिस्थिति सुधरे, बदले।

अपनी बात को अधिक बोधगम्य बनाने के लिये मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि अपने भूतकालीन जीवन पर जरा पीछे मुड़कर दृष्टि डालें। उस अवसर को खोज निकालें जब आपका मन दुःख में डूबा, विघटन की स्थिति में था। आप पर विपरीत दिशाओं से दबाव पड़ रहा था, आँखों से आँसू बह रहे थे, हृदय पीड़ा और हाहाकार से भरा था, आप अनिर्णय की स्थिति में थे तथा क्रोधावेग में परिस्थिति को पीठ दिखाकर भाग जाने की मानसिकता थी। आप जानते थे कि सत्य और यथार्थ क्या है, परन्तु आप उसे स्वीकारने की स्थिति में जरा भी नहीं थे।

उस स्थिति को याद कीजिये, जब आपके मन पर विपरीत पक्षों का दबाव पड़ रहा था तथा आप यह तय नहीं कर पा रहे थे कि क्या करें, क्या न करें। उस अवसर पर आपने क्या किया था? मैं समझता हूँ कि अधिकतर लोग ऐसी स्थिति से बाहर निकलने की कोशिश करते हैं। कुछ लोग प्रयत्न करना छोड़ हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना तथा परिस्थिति को जैसी है वैसी ही स्वीकार कर लेना पसंद करते हैं। कुछ तो आत्मघात तक कर लेते हैं, पागल होकर मानसिक अस्पतालों में जा पड़ते हैं, अथवा पिस्तौल की गोली से कुछ लोग परिस्थिति के समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं और कुछ लोग ऐसा करना पसंद नहीं करते, अपना मानसिक संतुलन बनाये रखते हैं तथा उस परिस्थिति से बाहर आने की जोरदार कोशिश करते हैं। बस, यही बाहर आने के प्रयास का क्षण योग का प्रारंभ होता है।

जब आप अपने मन को मजबूत कर हिम्मत से परिस्थिति और समस्या का सामना करते हैं, वही जीवन में योग का प्रथम अध्याय होता है। आत्म नियंत्रण, अनुशासन, मदिरा-त्याग, स्त्री-त्याग, धूम्रपान का त्याग आदि योग के प्रथम सोपान नहीं होते। प्रथम अध्याय तो तब प्रारंभ होता है जब आप अपनी उदासी, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता तथा स्थिति की गंभीरता को पहचानते हैं तथा उस पर विजय पाना चाहते हैं, उससे बाहर निकलने के लिये जोरदार कोशिश प्रारंभ करते हैं।

इसके अतिरिक्त गीता में एक और महत्त्वपूर्ण बात की चर्चा की गई है। वह यह कि हमारा समूचा जीवन ही एक यौगिक प्रक्रिया है। आप जीवन को

दो पृथक् भागों में विभक्त नहीं कर सकते। आप ऐसा नहीं कह सकते कि 'यह योग है, यह योग नहीं है।' केवल आसन, प्राणायाम तथा ध्यान भी योग नहीं है। सुबह से शाम तक आप जिस तरह जीवनयापन करते हैं वह सबका सब योग है। यही गीता का केन्द्रीय प्रयोजन है। इसी सत्य के चारों ओर गीता का ताना-बाना बुना गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं, "तुम जो भी करते हो, खाते-पीते हो, देते-लेते हो, जिन सुख-दु:खों को भोगते हो, वह सबका सब योग है।"

पीड़ा मनुष्य का शुद्धिकरण करती है। इसी तरह जीवन में जो भी परिस्थिति आपके समक्ष उपस्थित होती है वह आपकी चेतना को विकसित करती है। मंजिल की ओर एक मिलीमीटर आगे ले जाती है। जब आपका शरीर रोगों से पीड़ित होता है, प्रेमी अथवा प्रेमिका आपको छोड़ जाती है, आपके समक्ष स्थिति अत्यंत गंभीर हो तो कभी भी भाग्य अथवा विधाता को दोष न दीजिये। ऐसा न कहिये कि भगवान आपसे सख्त नाराज हैं। यह कहना कि माँ अपनी संतान को सजा दे रही है, उसका सरासर अपमान है, उसके साथ घोर अन्याय है। माँ तो संतान से नि:स्वार्थ प्रेम करती है। वह अपने प्रेम के प्रतिदान की जरा भी अपेक्षा नहीं रखती। वह संतान को कैसे सजा दे सकती है? इसी प्रकार ईश्वर भी अपने बच्चों को कभी सजा नहीं देता।

जो भी कठिनाइयाँ, भीषण परिस्थितियाँ आपके जीवन में आती हैं, उनका मूल प्रयोजन आपका आध्यात्मिक तथा चेतनात्मक विकास होता है। यदि आप किसी शारीरिक बीमारी से कष्ट भोगते हैं तो उसके बाद आप स्वस्थ ढंग से रहना सीखेंगे। यदि आप अपने किसी दुर्व्यवहार द्वारा कठिनाई में पड़ते हैं तो आप भविष्य में ठीक तरह व्यवहार करना सीखेंगे। इसलिये जीवन की प्रत्येक अच्छी-बुरी स्थिति योग का ही अंग होती है। मनुष्य परिस्थिति से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और इसी कारण कष्ट भोगता है। संसार की कोई भी वस्तु आपके कष्ट का कारण नहीं हो सकती और न ही कोई व्यक्ति आपके दु:खों के लिये जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। आपका परिस्थिति विशेष से लगाव ही आपको दु:ख अथवा सुख पहुँचाता है।

याद रखिये, आपका मन सोचता रहता है, आपकी बुद्धि निर्णय लेती है, आपका अवचेतन मन वस्तुओं को याद करता है तथा आपको स्व की चेतना प्रदान करता है और इसके अतिरिक्त आपका अपना अहम् भी होता है। यही अहम् दूसरों से आपके प्रेम, घृणा तथा सुख-दु:ख का कारण होता है। यदि आप साहसी हैं तो उसका कारण आपका अहम् है। यदि आप कमजोर और

डरपोक हैं तो उसका कारण भी आपका अहम् ही है। सम्पन्नता आपको छोड़ गई है और इस कारण आप अत्यंत दु:खी हैं तो इसके पीछे भी आपका अहम् ही कार्य करता है। हमारा व्यवहार और भावनायें भी अहम् से जुड़ी होती हैं। इसलिये गीता कहती है कि जीवन की परिस्थितियों तथा व्यक्ति के अहम् का उनसे जुड़ा होना ही उसके अपार दु:ख-दर्द का कारण होता है। यदि आप इन विशेष परिस्थितियों से अपने अहं को पृथक् रख सकें तो फिर दु:ख, शोक, पश्चाताप, आदि कुछ भी नहीं रह जायेंगे।

जब जीवन की ऊँची-नीची परिस्थितियों के साथ व्यक्ति का अहं नहीं जुड़ा रहता है तब उसकी मानसिक प्रतिक्रियायें भी सर्वथा भिन्न होती हैं। यह बात व्यक्ति के स्वास्थ्य, व्यवसाय, सम्बन्धी, प्रेमी और मित्र आदि सब पर लागू होती है। समूचा खेल तमाशा व्यक्ति के अहं की भागीदारी के कारण ही होता है। समझदार को अपना काम करते रहना चाहिए। उसे उन अपेक्षाओं को पूरा करना चाहिए जो उससे की जाती हैं। गृहणी या कार्यालय लिपिक के रूप में आपको अपने दायित्वों को पूरी क्षमता के साथ पूरा करना चाहिए। भले ही आप सेना के प्रधान सेनापति हों, प्रशासक हों, आपको हर स्थिति में अपने कार्यों को पूरा करना चाहिए।

आपके और दूसरों के कार्यों के बीच एक अंतर होना चाहिये। आप जैसी भी स्थिति में हों, कभी भी उसके साथ अपने अहं को न जोड़िए। हमेशा सोचिये, "मैं सिर्फ निमित्त हूँ। मेरे माध्यम से ईश्वर काम ले रहा है। असली कर्त्ता तो वही है।" यही कर्म योग की सच्ची भावना है। परन्तु कर्मयोग का मूल दर्शन इससे भिन्न है। आप सुख-दु:ख क्यों भोगते हैं? प्रेम क्यों करते हैं? जीवित क्यों हैं? जीवन का प्रयोजन क्या है? हम सब क्यों भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, जिनका अंत में न कोई अर्थ होता है न प्रयोजन? आप एक विशाल मकान बनाते हैं। फिर या तो आपकी मृत्यु हो जाती है या भूकम्प से मकान ढह जाता है। बेहतर तो यही था कि आप मकान बनाते ही नहीं।

यदि आप इन बातों का बारीकी से विश्लेषण करें तो पायेंगे कि हर वस्तु और कार्य के पीछे एक ठोस तर्क होता है। यह सम्पूर्ण बाहरी जगत् उस मन का विस्तार है जो आपके भीतर है। यह संसार आपकी इच्छाओं, वासनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं की ठोस अभिव्यक्ति है। अब यदि आप इन्हें कार्य रूप में परिणत नहीं करते तो आपके कर्म और संस्कार किस प्रकार नि:शेष होंगे? संक्षेप में, यह संसार आपके कर्मों की निष्पत्ति है, जब तक आप

अपने कर्मों को समाप्त नहीं करते आप जीवनमुक्त नहीं हो सकते, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रश्नोत्तर

आध्यात्मिक उन्नति के संदर्भ में कर्मयोग का क्या महत्त्व है?

जब आप फल की अपेक्षा से कुछ कार्य करते हैं तो उसे कर्म कहते हैं। परन्तु इसके विपरीत आप बिना किसी फलाकांक्षा के कार्य करते हैं तो उसे कर्म योग कहा जाता है। जब फलाकांक्षा सहित कर्म होता है, तब क्या होता है? आप हमेशा अपने प्रयत्नों के फलाफल के विषय में ही सोचते रहते हैं। इससे आपका मन भी प्रभावित होता है और यह भी निश्चित नहीं रहता कि आप क्या कुछ खोने जा रहे हैं। यदि आपका कोई व्यवसाय है तो उसमें आपकी बड़ी दिलचस्पी होती है। इसलिये आपकी दुकान अथवा व्यवसाय में जो भी कुछ होता है उससे आपका मन अत्यंत प्रभावित होता है, उसका स्वरूप ही बदल जाता है। परन्तु जब आप कर्म योग करते हैं तो आपका मन उसके फलाफल की जरा भी चिन्ता नहीं करता। वह बेदाग रहता है, भले ही इस समय आपका शरीर कितना ही रुग्ण क्यों न हो, कार्य का परिणाम उसे प्रभावित नहीं करता।

उदासी और स्नायविक विषाद मनुष्य के कर्म के फलाफल के प्रति आसक्ति के परिणामस्वरूप होते हैं। कुछ मनुष्यों का मन मजबूत होता है। इस कारण वे बड़ी-से-बड़ी मुसीबत से बाहर निकल आते हैं। परन्तु कमजोर मन वाले इनसे बुरी तरह टूट जाते हैं। जीवन में जरा भी कुछ प्रतिकूल हुआ नहीं कि वे उदासी और निराशा के गर्त में डूब जाते हैं। पहले तो वे बड़े निराश हो जाते हैं, फिर भय और कुंठा से ग्रस्त होकर आत्महत्या तक करने का विचार करने लगते हैं। इन सब का परिणाम यह होता है कि उनका स्नायविक तथा मानसिक विघटन हो जाता है, हृदयाघात होता है एवं अन्ततः उनकी इहलीला ही समाप्त हो जाती है। इस पूरी श्रृंखला के पीछे कर्म के फलाफल को लेकर मनुष्य को बेचैनी, चिंता और परेशानी होती है।

यदि ऐसे लोग योग की सहायता चाहें तो उन्हें सबसे पहले कर्मयोग करना चाहिए। इससे उन्हें फौरन राहत मिलेगी। आध्यात्मिक विकास के लिये भी कर्मयोग का प्राथमिक महत्त्व होता है। आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में तीन

प्रमुख बाधाएँ आती हैं, इनमें से प्रथम मानसिक अपवित्रता, दूसरी मानसिक विक्षेप और तीसरी मतिभ्रम अथवा माया होती है। इनमें से माया अथवा मतिभ्रम की बाधा को भक्तियोग द्वारा दूर किया जा सकता है तथा मन की अपवित्रता को कर्मयोग की साधना द्वारा दूर किया जा सकता है।

हम किस प्रकार कर्मयोग द्वारा अपने कर्मों को रूपांतरित कर सकते हैं?

हर व्यक्ति को अपने दैनिक कार्यों को कर्मयोग दर्शन द्वारा रूपांतरित करना चाहिए। आपके दैनिक कार्यों का उद्देश्य आध्यात्मिक होना चाहिए। आपको अपने कार्यों के पीछे प्रकृति के उद्देश्य को ही देखना चाहिए। यदि आप कर्म करना ही छोड़ बैठें तो आपके मन को विकास का आधार ही नहीं मिलेगा।

इसके पूर्व कि आप कर्मयोग के वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करें, आपको यह भली-भाँति समझना होगा कि कर्मयोग का उद्देश्य आपके मन को एक स्थायी आधार प्रदान करना है। ध्यानयोग में भी मन को बार-बार अपने आधार पर टिकाना होता है। परन्तु यदि मन की पूर्ण शुद्धि के पूर्व, सतोगुणी अवस्था की प्राप्ति के पूर्व आप ध्यान का अभ्यास करेंगे तो बार-बार तमोगुणी अवस्था में जायेंगे। इस अवस्था को टालने के उद्देश्य से ही कर्मयोग करने की सलाह दी जाती है, क्योंकि हमारी कुछ इच्छायें, वासनायें और महत्त्वाकांक्षायें होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिये भी व्यक्ति को कर्म करना ही पड़ता है।

अपने दैनिक जीवन में घर-गृहस्थी को चलाने के लिये हम जो कर्म करते हैं उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण अत्यंत भौतिकवादी रहता है। जब भी हमारे मन में आध्यात्मिक जीवन का कोई विचार आता है, उसके साथ ही हम कर्मों के परित्याग के बारे में सोचने लगते हैं। हमें लगता है कर्मों का त्याग किये बिना हम आध्यात्मिक जीवन में कदम भी नहीं रख सकते। आश्रम में भी यदि किसी से काम करने के लिये कहा जाये तो वे सभी कर्मों को माया कहकर कोई काम करने से इन्कार करते हैं। वे कहते हैं कि कर्म मनुष्य को बाँधता है। परन्तु यह तो सरासर गलत है। कर्म कैसे मनुष्य के बंधन का कारण बन सकता है। प्रकृति ने तो मनुष्य की मुक्ति के उद्देश्य से कर्म का विधान किया है। कर्म द्वारा ही मनुष्य को अतल गहराई में अपने मन के व्यवहार के ढंग का पता चलता है। आगे चलकर इसी मन द्वारा आध्यात्मिक चेतना की प्राप्ति भी होती है।

मन और आध्यात्मिक चेतना दो पृथक् चीजें नहीं हैं। एक अवस्था में दूध, दूध होता है तो दूसरी अवस्था में उसे दही कहते हैं। वही दूध तीसरी अवस्था में मक्खन और चौथी अवस्था में घी बनता है। अपनी अंतिम अवस्था में वही दूध हमारी कढ़ी का एक घटक होता है। ठीक इसी प्रकार एक अवस्था में स्थूल शरीर होता है, दूसरी में इच्छाएँ, वासनाएँ, तीसरी अवस्था में आत्मिक अनुभव तथा अन्तिम अवस्था में सर्वोच्च सत्य दर्शन।

आत्मा अथवा अंतिम यथार्थ ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अलग रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है। मन भी इन अनेक अवस्थाओं में से एक अवस्था होता है। अत: आप उसे कभी समाप्त नहीं कर सकते। आप उसे शुद्ध कर कूड़ा-कर्कट बाहर फेंक सकते हैं। दूसरी भाषा में इसे संस्कारों का निष्कासन भी कहते हैं। तब शुद्ध मन के केन्द्र में, आधार में आत्मा अथवा परम चैतन्य की झलक देखने को मिलेगी। इसलिये कर्मयोग, ऐसे कार्य को कहते हैं जो पूरी सजगता और क्षमता के साथ, कार्य के लिये, कार्य के उद्देश्य से किया जाता है। इसमें शरीर और मन, दोनों एकाग्रतापूर्वक संलग्न होते हैं। भले ही कार्य धन के रूप में आपको कोई प्रतिफल प्रदान न करे, फिर भी आप पूरी बुद्धिमानी से उसे करते हैं, उसके फलाफल की जरा भी चिन्ता नहीं करते। साथ-ही आपमें कर्त्तापन या अहं नहीं होता, आप स्वयं को निमित्त तथा ईश्वर को वास्तविक कर्त्ता मानते हैं। कर्मयोग में ईश्वर यंत्री तथा व्यक्ति यंत्र होता है। कर्मयोग की केन्द्रीय भावना भी यही होनी चाहिए।

यदि गृहस्थ अपने दैनिक कर्मों को कर्मयोग का रूप देना चाहें तो सबसे पहले उन्हें आध्यात्मिक विकास के संदर्भ में कर्मयोग की भूमिका को स्वीकारना होगा। इसके बाद वे जो कुछ करें, उसमें उन्हें आनंद आयेगा। वे जो भी सही-गलत कार्य करें वह कर्म होता है। उसे कर्मयोग में बदला जा सकता है, बशर्ते कि उनमें समझबूझ हो, तैयारी हो।

हम कभी-कभी अपने कार्यों से ऊब क्यों जाते हैं?

यह काम के प्रति आपके सोचने के ढंग के कारण होता है। यदि कार्य के प्रति आपका दृष्टिकोण सही है तो आप वही कार्य पचास वर्ष तक भी कर सकते हैं। जब आप अपने काम को दूसरों की सेवा का अवसर समझें, अपना पवित्र कर्त्तव्य माने तो उसमें कभी उकताहट नहीं आ सकती। परन्तु जब आप कार्य को अपने विकास का उपादान समझेंगे, आनंद का स्रोत

मानने की भूल करेंगे तब निश्चय ही कुछ समय बाद आपका मन उससे भर जायेगा, भागने लगेगा।

इसलिये दूसरों के हित की भावना से, न कि अपने भले के लिये काम करना बड़ा आसान और मन बहलाने वाला होता है। उस कार्य से प्रेरणा मिलती है। यह कर्मयोग का रहस्य है। इसे थोड़े ही लोग समझ पाते हैं। जब आप अपने भले के लिये, अपने आनन्द और विकास के उद्देश्य से काम करते हैं तो वह कर्म कहलाता है, बंधनकारक बनता है। परन्तु जब काम में आपका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, दूसरों की सेवा ही आपके काम का प्रयोजन होता है तब उस काम से आपका मन बंधनमुक्त होता है, उसकी साफ-सफाई होती है और आपको कर्मयोग का भरपूर लाभ मिलता है।

कर्मयोग कहीं भी और कभी भी किया जा सकता है। इसके लिये आश्रम में रहना कोई जरूरी पूर्व शर्त नहीं है। परन्तु मुश्किल तो यह है कि बहुत थोड़े लोग कर्मयोग के आधारभूत दर्शन को समझते हैं। उनमें कर्मयोग के प्रति एकदम सही दृष्टिकोण और मनोवृत्ति का अभाव पाया जाता है। आश्रम में आप कर्मयोग करने का सही दृष्टिकोण सीख सकते हैं। अन्यथा आप स्वयं के लिये बैल की तरह कार्य करते समूचा जीवन खपा दें, अपने लिये अनगिनत दु:ख, पीड़ा और परेशानियों का निर्माण कर डालें, पर कभी भी दूसरों के लिये काम कर उनकी और अपनी पीड़ा, दु:ख-दर्द और परेशानी दूर नहीं कर पायेंगे।

इसलिये कर्मयोग जीवन का अत्यंत आवश्यक अंग है। जिस प्रकार जीवन धारण करने के लिये खाना, पीना, सोना और चलना-फिरना आवश्यक है, उसी प्रकार कर्म करना भी कम आवश्यक नहीं है। स्वयं के लिये आप जो काम करते हैं उससे नये-नये कर्मों की, संस्कारों और बंधनों की रचना होती है। इसलिये अपने सभी कार्यों को दूसरों की सेवा और ईश्वर की आराधना के रूप में करते जाइये। इससे आपके जीवन में सादगी, स्वतंत्रता और आनंद की वर्षा होगी। ईश्वर की कृपा और प्रसाद-स्वरूप आपकी समस्त आवश्यकतायें अपने आप पूरी होती जायेंगी। न तो आप स्वयं को कभी अकेला महसूस करेंगे और न ही कोई पीड़ा भोगेंगे। आपका मन शांत और संतुलित होगा तथा शरीर स्वस्थ होगा। ऐसे व्यक्तियों के पास लोग खिंचे चले आते हैं। कोई उनसे दूर नहीं रहना चाहता। यह सब कर्मयोग द्वारा संभव है।

स्वाभिमान और साधना

मैं मानता हूँ कि जीवन में कर्म संन्यास की भूमिका को समझ पाना बड़ा कठिन है। इससे भी कठिन है उसके आदर्शों का दैनिक जीवन में व्यवहार और सामान्य जीवन की प्रक्रिया को गतिमान रखना। हमारे मन की रचना ही कुछ इस ढंग की है कि दो विपरीत शक्तियों को जीवन में समन्वित करना कठिन होता है। या तो हम स्थूल भौतिक तल पर कार्य कर सामान्य अनुभवों से गुजरते हुए बहिर्मुखी ढंग से जीते हैं, आध्यात्मिक जीवन और उसके अनुभवों की अनदेखी करते हैं अथवा अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों की कीमत पर आध्यात्मिक जीवन में छलांग लगाकर उसमें डूबने-उतराने लगते हैं।

जीवन में इन अतियों के उदाहरण खोजने कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक तरफ हमें त्यागी, उदास संत-महात्मा देखने को मिलते हैं, जो भौतिक पारिवारिक जीवन को हरि ॐ कर चुके होते हैं। वे शरीर, मन और इन्द्रियों से सम्बन्धित जीवन को नकार चुके होते हैं। ये लोग भावातीत जीवन को ही सब कुछ मानते हैं। इनका अपना जीवन वर्जनाओं, कुंठाओं, अंगूर खट्टे हैं की भावना से भरा होता है। दूसरी ओर ऐसे लोगों की भरमार है जो आकंठ भौतिक जीवन में डूबे होते हैं। वे उच्च आध्यात्मिक जीवन तथा उसके अनुभवों के बारे में किंचित् भी चिंतित या परेशान नहीं होते। उसकी आवश्यकता की उन्हें जरा भी अनुभूति नहीं होती। वे शरीर, मन, इन्द्रियों तथा उनके विषयों को ही सब कुछ मानते हैं। शरीर ही उनका अंतिम सत्य होता है। इससे आगे कुछ होता है, इसकी वे जरा भी परवाह नहीं करते। जो कुछ वे देखते और समझते हैं, वही उनके लिये सब कुछ और अंतिम होता है।

कर्म संन्यास की विचारधारा और दर्शन को स्वीकार कर लोगों को इसमें दीक्षित कर हम जीवन के उपर्युक्त दो पक्षों के स्वस्थ समन्वय का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि प्रकृति के नियमों की मान्यता है कि भौतिक इन्द्रिय अनुभव उतने ही ठोस और सत्य हैं जितने आध्यात्मिक तथा भावातीत अनुभव। जिस आसानी से सांसारिक अनुभव प्राप्त होते हैं, आध्यात्मिक अनुभव भी प्राप्त किये जा सकते हैं। वे कोई कपोल-कल्पना नहीं होते। गृहस्थ के रूप में अभी तक आपको जो अनुभव हुए हैं, आज हो रहे हैं और आगे भी होंगे, वे सब-के-सब आपके आध्यात्मिक जीवन के अंग हैं, आपके विकास के लिये जरूरी हैं, वे जरा भी बाधक नहीं हो सकते। कर्म संन्यासी को सही बात समझने की जरूरत है।

जीवन में कुछ भी त्याज्य नहीं है, निंदनीय नहीं है। जैसे-जैसे आपका विकास होता है, अनेक बुरी आदतें, लतें पीछे छूटती जाती हैं। उदाहरण के लिये, जब आप वृद्ध होते हैं तो आपके दाँत गिर जाते हैं। यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। आप उन्हें एक-एक कर बाहर निकाल फेंकते हैं। इसी प्रकार सिर के बाल पकने लगते हैं। क्या बूढ़े दिखने के लिये आप किसी सैलून में जाकर अपने बालों को सफेद कराते हैं? इसी प्रकार हम जिसे इन्द्रिय भोग, लिप्सा, आत्मबल का ढुलमुलपन, बुरी आदतें, कमजोरियाँ, आदि नामों से पुकारते हैं और हीनता की दृष्टि से देखते हैं, वे सब एक के बाद एक समाप्त होने लगते हैं। आपको कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार समय आने पर साँप अपनी केंचुली उतार फेंकता है उसी प्रकार आपकी आदतें, भोग-लिप्सा तथा वह सब कुछ जिसे आप प्रगति के रास्ते का रोड़ा कहते हैं, अपने आप चले जाते हैं। आपको कोई परेशानी नहीं होती।

कर्म संन्यासी के मन में अपनी जीवनशैली के प्रति आदर और प्रशंसा का भाव होना चाहिए। एक बार एक व्यक्ति सर विंस्टन चर्चिल के पास गया और कहने लगा, “सिगार पीना छोड़ दीजिये, यह बुरी आदत है।” चर्चिल ने पूछा, “क्यों छोड़ दूँ, इसकी सुगंध बड़ी मनभावन है। इसे पीने से शरीर और मन में ताजगी आ जाती है, मुझे मजा भी आता है और फिर यह मेरी कल्पना शक्ति को प्रेरणा भी तो प्रदान करता है।” वह व्यक्ति बोला, “परन्तु सिगार पीना फेफड़ों के लिये हानिकारक है। इससे तो कैंसर भी हो सकता है।” चर्चिल ने उत्तर दिया, “यह सब वाहियात बातें हैं।” अपने जीवन के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा ही दृष्टिकोण होना चाहिए। “मेरी आदतें गंदी हैं, मेरा

मन नकारात्मक बातों से भरा है, मैं सुधर ही नहीं सकता।" ये सब बेकार की बातें हैं। कर्म संन्यासी को अहंवादी नहीं होना चाहिए। परन्तु उसे इन कुंठाओं को पालना और उनकी पीड़ा भी नहीं झेलनी चाहिए।

जैसा कि मैं अनेक बार दुहरा चुका हूँ, आप ब्रह्माण्डीय नियमों और प्रकृति के नियमों के अधीन हैं। इन नियमों के तहत आपका अपना विशेष व्यक्तित्व है, सोचने-समझने का विशेष ढंग है, अपने विश्वास और मान्यतायें हैं, कमजोरियाँ आदि सबकी सब निराली है। न आप किसी के जैसे हैं और न ही कोई आप जैसा है। इससे परेशान होने और मुक्त होने के लिये अनावश्यक उछलकूद की कोई जरूरत नहीं है। जरा ठहरिये, धैर्य रखिये। यदि आपमें धैर्य है तो जिस प्रकार समय आने पर साँप केंचुल से बाहर निकल आता है, आप भी उन बातों से मुक्त हो जायेंगे जो आज आपको बुरी लगती हैं। आपको इससे निकलने के लिये कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि आदतें हमेशा बनी रहने वाली नहीं होतीं। आपके मन में विचारों का एक प्रवाह चलता रहता है। कोई भी विचार वहाँ ज्यादा देर नहीं टिकता। इसी प्रकार आदतें भी बदल जाती हैं।

इसलिये कर्म संन्यासी को अपने समग्र व्यक्तित्व का स्वागत करना चाहिए, उसे स्वीकारना चाहिए। उसे कुंठा, वर्जना तथा नकारात्मकता को अपने भीतर नहीं पालना चाहिए, क्योंकि आप भी विश्व रंगमंच पर अपनी भूमिका निभाने वाले एक कलाकार हैं, महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यदि केवल एक बार आप अपने महत्त्व को, अपने प्रयोजन को जान लें, समझ लें, उसका सम्मान करें, अपने शरीर, पत्नी, बच्चों, मानसिक अवस्था, विचारधारा, धर्म, नैतिकता आदि सबको स्वीकार कर लें तो आपकी आध्यात्मिक प्रगति में आश्चर्यजनक गति आ सकती है। परन्तु इसके विपरीत यदि आप हीनभावना, अपराधबोध, भय तथा कुंठा आदि से ग्रस्त रहें, यदि यही सोचते रहें, "मैं बड़ा बुरा व्यक्ति हूँ, मेरा मन बुराइयों से भरा है। मैं कमजोर हूँ, विलासी हूँ, आध्यात्मिक जीवन के लायक नहीं हूँ।" तो फिर आप कहीं के नहीं रह जायेंगे। ये कर्म संन्यासी की विशेषतायें नहीं कही जा सकतीं।

आज से अपने समग्र व्यक्तित्व का सम्मान करना शुरू कीजिए। भले ही आप अत्यंत भोगी, कमजोर मन वाले, जो भी हैं, जैसे भी हैं, स्वयं को स्वीकार कीजिए। इसके बाद ही अपनी आध्यात्मिक साधना, हठयोग, राज,

भक्ति, कर्म, क्रिया, कुण्डलिनी, नाद अथवा मंत्र योग, जो भी आप करेंगे, आपको आश्चर्यजनक फल प्रदान करने वाला होगा, आपको असाधारण अनुभव होंगे।

प्रतिदिन बिना नागा, कम-से-कम दस मिनट अपनी साधना संकल्पपूर्वक कीजिये। भले ही आप अस्वस्थ हों, जो कुछ आपसे करने के लिये कहा गया है, उसमें आपकी आस्था हो या न हो, आप उसे समझें अथवा न समझें, आपको उसके कुछ परिणाम मिलें अथवा न मिलें, साधना कीजिये। कम-से-कम दस मिनट तक शान्तिपूर्वक आँखें बंद कर बैठ जाइये, मन को भ्रूमध्य में एकाग्र कीजिये। चाहें तो किसी अन्य केन्द्र में भी एकाग्र कर सकते हैं। अपने मंत्र के जप के साथ-साथ ध्यान कीजिये, श्वास का ख्याल कीजिये, उसके साथ मंत्र को दुहराते जाइये।

बस, प्रतिदिन कम-से-कम दस मिनट इतना अवश्य कीजिये। भले ही इसमें आपका मन साथ न दे, भले ही इसमें कितना ही समय क्यों न लगे, धैर्य न छोड़िये, लगन के साथ करते जाइये। कभी शिकायत न कीजिये, "मेरा मन ही स्थिर नहीं हो पाता।" कर्म संन्यास की दीक्षा का यही सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि आप समय दे सकें तो अधिक देर बैठिये, आसन-प्राणायाम कीजिये और चाहे जो भी यौगिक क्रियाएँ कीजिये। परन्तु याद रखिये, नियमितता बहुत जरूरी है। यदि आप कुछ माह नियमपूर्वक साधना करें, फिर कुछ माह तक सब कुछ छोड़ दें, पुनः प्रारंभ करें तो इसे नियमितता नहीं कहा जा सकता। जब आप साधना बंद करते हैं तो आपकी नियमितता भंग हो जाती है। साधना में मात्रा का उतना महत्त्व नहीं होता जितना नियमितता का होता है। आगे चलकर आपको जो अनुभव होंगे वे आपकी साधना के कम, परन्तु नियमितता के अधिक परिणाम होंगे।

कुछ लोगों को तेजी के साथ एक के बाद एक अनुभव होना प्रारंभ हो जाते हैं। उन्हें आंतरिक शक्तियों, प्रकाश, ध्वनियों तथा रूपों की अनुभूति होती है, परन्तु मैं आपसे जो बात कहना चाहता हूँ वह यह कि इन अनुभवों के पीछे मत दौड़िये। इनसे उदासीन रहिये। यही साधना का गुप्त रहस्य है, कुंजी है। यदि आपका मंत्र ॐ है, आप उसके स्वरूप पर मन को एकाग्र करते हैं तो भले ही कोई प्रकाश, रूप, आकार, ऊर्जा आदि कुछ भी क्यों न दिखे, आप उसे अस्वीकार कर केवल ॐ, ॐ कहते जाइये। आपको अपने मंत्र की ध्वनि अथवा स्वरूप से किसी कीमत पर संपर्क नहीं तोड़ना है। इसके

बदले किसी भी काल्पनिक अनुभव को स्वीकार न कीजिये। अपने प्रतीक से बढ़कर कोई भी अनुभव नहीं होना चाहिए। इस बात को गाँठ बाँध लीजिये। इस बात से जरा भी परेशान होने की आवश्यकता नहीं है कि आपको अच्छे अनुभव क्यों नहीं हो रहे हैं। बस, आपके बाहरी प्रतीक का आंतरिक अनुभव ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। यदि ज्योति आपका प्रतीक है, तो आँख बंद करते ही भीतर उसका दिखना सबसे बड़ा अनुभव है। अब यही अनुभव किसी भी तल पर हो, इसका होना ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें केवल चेतना की गहराई भिन्न होगी, परन्तु आपके प्रतीक के स्वरूप में तो कोई अंतर नहीं आयेगा। इस बात को हमेशा ध्यान में रखना।

हममें से अनेक लोग एक बड़ी साधारण-सी भूल करते हैं। हम साधना के लिये नेत्र बन्द कर बैठते हैं और थोड़ी देर तक ॐ अथवा अन्य मंत्र को जोर-जोर से दुहराते हैं। इसके बाद हमें रूप, रंग तथा दृश्य आदि दिखना प्रारंभ हो जाते हैं। हम उन अनुभवों के प्रवाह से बेखबर बहने लगते हैं, उनमें गुम हो जाते हैं। कुछ समय पश्चात् हम यथार्थ जगत् में लौट आते हैं। अनेक लोगों को तो अनुभवों तथा दृश्यों के इस रोमानी जगत् में सैर करना बड़ा अच्छा लगता है। भीतर में प्रकाश, त्रिभुज, फरिश्ते देखना, ध्वनियाँ सुनना, विचित्र चीजें देखना, जंगल और सागर की सैर करना आदि स्वयं में आंतरिक आनंद प्रदान करने वाले अनुभव होते हैं। परन्तु याद रखिये, आपको इन्हें टालना है। इनमें रमना नहीं है।

इसमें आपको कुछ कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ेगा। एक बार आप मन को एकाग्र कर अपने मंत्र का जप प्रारंभ करेंगे तो थोड़ी देर तो सब ठीक-ठाक चलेगा। आपका प्रतीक बंद आँखों के सामने स्थिर रहेगा, मन एकाग्र होगा। परन्तु थोड़ी देर बाद आपका इनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायेगा और आप दृश्यों, रंगों, संगीत की भूल-भूलैया में गुम हो जायेंगे। जब आँख खोलेंगे तो कहेंगे, "अरे! मेरा प्रतीक ही गुम हो गया था और मैं न जाने किस लोक में पहुँच गया था।"

इसलिये आंतरिक जगत् में स्वयं को गुम होने से बचाइये, क्योंकि आंतरिक चेतना का विस्तार अनंत है। उसका न तो कोई नक्शा होता है और न ही सीमायें। वहाँ न तो दिशाबोध है और न ही आपके मार्गदर्शन के लिये किसी के पदचिह्न। आप चाहें जिधर जा सकते हैं, हर तरफ आपको भिन्न अनुभव होंगे। आप उस अनुभव का पीछा करेंगे तो गुम हो जायेंगे। फिर कुछ

महीनों अथवा वर्षों बाद आप इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इन अनुभवों से कोई लाभ नहीं होता।

ये आत्मीय अनुभव कहलाते हैं। कभी-कभार आपमें अतीन्द्रिय क्षमता के दर्शन भी हो सकते हैं, परन्तु ये अनुभव स्थायी नहीं हो सकते। हो सकता है कुछ समय के लिये आपमें दूरदर्शन, दूरश्रवण, विचार-संप्रेषण, आदि जैसी विलक्षणतायें आ जायें। परन्तु आप वर्षों इन क्षमताओं के धनी नहीं रह पायेंगे। इन अनुभवों का समय तथा अवधि निश्चित होती है। जिस प्रकार फूल थोड़े समय के लिये खिलता है और अपना सौन्दर्य तथा सुरभि बिखेरता है, ये क्षमतायें भी आती और चली जाती हैं।

एक बार मैंने स्फटिक पर साधना द्वारा दूरदर्शन की क्षमता अर्जित कर ली थी। स्फटिक में मुझे सब बड़ा साफ-साफ दिखलाई पड़ता था। परंतु अब ऐसी बात नहीं है, क्योंकि फूल की तरह यह क्षमता भी कुछ समय बाद आई-गई हो गई। कोई अनुभव स्थायी और अनश्वर नहीं हो सकता। उसका भी जन्म और मृत्यु निर्धारित होती है। इसी प्रकार आत्मीय अनुभवों की भी सीमा होती है, आदि और अंत होता है। वे सीमित होते हैं, अनंत नहीं। परन्तु ध्यान के समय प्रतीक के स्वरूप के दर्शन को हमेशा बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार सभी कर्म संन्यासियों के लिये मैंने दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट कर दी हैं। प्रथम तो यह कि अपने समग्र व्यक्तित्व, आदतों, जीवनशैली तथा व्यक्तित्व को स्वीकार कीजिये, उसके प्रति सम्मान की भावना बनाइये। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नियमपूर्वक बिना नागा अपनी साधना के लिये कम-से-कम निर्धारित समय अवश्य दीजिये। हर कीमत पर नियमितता का पालन कीजिये। इसके साथ मैं आशा करता हूँ कि सब ठीक-ठाक चलेगा, आपका मंगल होगा।

आंतरिक रूपान्तरण

जब आप गृहस्थ जीवन से असंतुष्ट होकर उससे बाहर आने के लिये छटपटाने लगते हैं, तब उसे अपना आध्यात्मिक पुनर्जन्म मानिये। परन्तु कदाचित् आप उससे मुक्ति न पा सकें तो आपको गृहस्थ जीवन में एक भिन्न चेतना के साथ रहना चाहिये। इसे ही कर्म संन्यास के नाम से जाना जाता है।

गृहस्थ जीवन में आप कर्मों में उलझे रहते हैं। यहाँ आप जो भी कर्म करते हैं उनसे पुन: नये कर्मों की सृष्टि होती है। उनसे ही संस्कार बनते हैं। संस्कारों से आपके बन्धन का कारण आपकी आसक्ति है, क्योंकि आप जो कुछ करते हैं, उससे स्वयं को संलग्न करते हैं। परिवार से, बच्चों से, अपनी जिम्मेदारियों से स्वयं को संयुक्त करना संभव है। अब यह दूसरी बात है कि इसमें आपका दृष्टिकोण रागपूर्ण रहता है अथवा वैराग्यपूर्ण। सामान्यत: होता यह है कि इनसे आपका सम्बन्ध आसक्ति पर आधारित होता है। आज तक किसी ने भी आपको परिवार, रिश्तेदारों, मित्रों तथा धन-संपत्ति के साथ वैराग्यपूर्वक बर्ताव की शिक्षा नहीं दी है। जीवन को वैराग्यपूर्वक जीने की कला का नाम ही कर्म संन्यास है।

वैराग्य सोचने मात्र से नहीं आता। वह कोई दिमागी प्रक्रिया भी नहीं है। जब तक आपको कुछ ऐसे अनुभव नहीं होते जो आपके मन की गुणवत्ता को बदल दें, आप वैराग्य के तात्पर्य को नहीं समझ पायेंगे। अनासक्ति, संन्यास, वैराग्य आदि को समझने के लिये बौद्धिक प्रक्रिया पर्याप्त नहीं होती। इसके लिये भिन्न प्रकार का मन होना जरूरी है। इसलिए मन का शिक्षण और प्रशिक्षण आवश्यक है। बौद्धिक स्तर पर आप जानते हैं कि कुछ भी आपका नहीं है और हर वस्तु क्षणिक तथा नाशवान् है। आप भले ही प्रतिदिन इन बातों को दुहराते रहें, परन्तु चूँकि हर वस्तु और व्यक्ति से आपका ममत्व होता है, आप स्वयं को बाह्य रूप से हर घटना से जुड़ा हुआ अनुभव करते हैं।

एक समय की बात है कि एक साधु और एक मुसलमान किसी जगह पर पास-पास रहते थे। एक दिन साधु ने अपने पड़ोसी को चीखते-चिल्लाते सुना। वह उसके घर पहुँचा और उसके दु:ख का कारण पूछा। मुसलमान पड़ोसी ने कहा–महाराज! मेरी बकरी मर गई है। साधु बोला–इसमें चीखने-चिल्लाने की क्या जरूरत है, एक-न-एक दिन तो सभी मरते हैं। रोने से बकरी लौट तो नहीं आयेगी। इस तरह साधु ने अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर अपने पड़ोसी को शांत कर दिया।

तीन माह बाद साधु की गाय मर गयी। इससे वह इतना दु:खी हुआ कि अनेक दिनों तक कुटिया से बाहर ही नहीं निकला। मुसलमान पड़ोसी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इसका कारण जानने के लिये साधु की कुटिया में पहुँचा। उसने देखा कि साधु बड़ा उदास और दु:खी है। जब उसने साधु से इसका कारण पूछा तो साधु ने कहा कि मेरी गाय मर गई है। मुसलमान को तुरंत याद आया कि जब उसकी बकरी मरी थी तब साधु ने कैसे-कैसे तर्क देकर उसके दु:ख को शान्त किया था। उसी लहजे में उसने साधु को समझाया कि गाय मर गयी तो क्या हुआ, हर पैदा होने वाली वस्तु एक दिन अवश्य मरती है। साधु ने अपने पड़ोसी की बात काटते हुए कहा कि मुझे तुम्हारी विद्वता भरी बातें सुनने में कोई रुचि नहीं है, क्योंकि भले ही बकरी तुम्हारी रही हो, गाय तो मेरी अपनी थी।

देखा आपने, यही बात हम सब अपने दैनिक जीवन में अनुभव करते हैं। बकरी मरने पर जब साधु मुसलमान को समझा रहा था, उसके मन और बुद्धि का स्तर भिन्न था। परन्तु जब उसकी गाय मरी, उसकी मन:स्थिति पहले जैसी नहीं रह गई थी। वैराग्य या अनासक्ति के लिये कर्मत्याग की कतई जरूरत नहीं है। इसके लिये आपको अपने चिन्तन के दर्शन को एक नई दिशा देने की आवश्यकता है। इसके द्वारा आप प्रत्येक व्यक्ति अथवा वस्तु के साथ अपने सम्बन्धों को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखेंगे। परन्तु इसके लिये भी आपको कुछ अनुभव होना आवश्यक है।

भले ही आपने 'योग वाशिष्ठ' का आद्योपान्त अनुशीलन किया हो, परन्तु यदि आपके परिवार में किसी के साथ कोई दुर्घटना घटती है तो उससे आप प्रभावित हुए बिना नहीं रहते, क्योंकि 'योग वाशिष्ठ' का अध्याय आपकी चेतना के ढाँचे में मौलिक रूपान्तरण नहीं ला सका है। इसके बदले उसने आपके बौद्धिक आयाम को विस्तृत किया है। इसलिये आप केवल इतना कहते हैं कि जीवन क्षणिक है, परन्तु इस विपदा से आप अपने को अप्रभावित नहीं

रख पाते। इसलिये महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी चेतना तथा अनुभूति में परिवर्तन लाइये, जो ध्यान के नियमित अभ्यास द्वारा संभव है। इसमें मंत्र जप तथा आत्म-विश्लेषण की तकनीकें भी बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

प्रत्येक गृहस्थ के लिये कर्म संन्यास जरूरी तथा महत्त्वपूर्ण है। भले ही वर्तमान में आप इसे पूरी तरह स्वीकार करने की स्थिति में न हों, पर वर्ष में कम-से-कम पन्द्रह दिनों तक इसे अपनाकर देखिये। कुछ समय तक परिवार में संन्यासी की तरह रहने में हर्ज ही क्या है? अब आप इसे किस तरह व्यवहार में उतारेंगे? वैदिक परम्परानुसार संन्यासियों के रहने का एक विशिष्ट ढंग होता है। वे खाने, पीने, सोने, चलने-फिरने, मैत्री, भाव, राग, वैराग्य, जीवन-मरण तथा विवाह आदि के विषय में कुछ नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं। अब यदि कोई गृहस्थ वर्ष में कुछ समय इन नियमों के अनुसार रहे और व्यवहार करे तो इससे उसे गृहस्थाश्रम को समझने के लिये एक व्यापक दृष्टिकोण मिलेगा और वर्ष के शेष भाग से सामान्य जीवनयापन के लिये एक दिशा और प्रेरणा मिलेगी।

अनेक लोग गृहस्थ जीवन में सिर्फ इसलिये नहीं रहते कि इसके प्रति उनके मन में विशेष सम्मान की भावना है अथवा गृहस्थ जीवन का अपना रुतबा होता है। वे तो मात्र किसी मजबूरी अथवा अनिवार्यता के कारण एक तरह से 'फँस गया' अनुभव करते हैं। यदि ऐसी कोई अनिवार्यता अथवा मजबूरी न रह जाये तो मैं नहीं समझता कि कोई गृहस्थ जीवन में रहना पसंद करेगा। इसका स्पष्ट कारण मात्र यह है कि अपने विकास के क्रम में हम गृहस्थाश्रम के महत्त्व को समुचित ढंग से समझते ही नहीं। क्या गृहस्थाश्रम का मात्र इतना प्रयोजन है कि व्यक्ति अपनी मानसिक शक्ति को इन्द्रिय सुख भोगों में ही नष्ट कर दे? क्या गृहस्थाश्रम आत्मसाक्षात्कार की पूर्व तैयारी का पड़ाव नहीं हो सकता?

व्यक्ति को कर्म संन्यास कब लेना चाहिए? क्या छप्पन वर्ष की अवस्था में, जबकि आपको हृदयाघात का पहला झटका लग चुका हो अथवा सत्तर वर्ष की अवस्था में जब आपकी सारी जीवनीशक्ति निचुड़ चुकी हो? नहीं, आपको उसी क्षण कर्म संन्यास लेना चाहिए जब आपको यह अनुभव हो कि गृहस्थाश्रम साध्य नहीं साधन है। यह भी कि अपने दैनिक कार्यों में लिप्त रहते हुए भी मेरे भीतर एक नूतन उच्च चेतना प्रस्फुटित होने लगी है, तब उसी क्षण अपने गुरुदेव से कर्म संन्यास, गेरू वस्त्र, माला, साधना और लक्ष्य तथा एक आध्यात्मिक नाम के लिये प्रार्थना कीजिये।

कर्म संन्यासी की एक मंजिल होती है, जबकि गृहस्थ की ऐसी कोई मंजिल नहीं होती। वह तो मात्र जीता है। भविष्य निधि, बच्चों की शिक्षा, शादी तथा जमीन-जायदाद आदि हमारा वास्तविक लक्ष्य अथवा प्रारब्ध नहीं हो सकते। जहाँ तक समग्र अस्तित्व का प्रश्न है, मंजिल दो हो ही नहीं सकतीं। लक्ष्य हमेशा एक होता है। जब आपके गुरु आपको अपना एक वास्तविक लक्ष्य बता देते हैं तब उसी क्षण से आप कर्म संन्यासी हो जाते हैं।

जब आप गेरू वस्त्र धारण करते हैं तो याद रखिये यह रंग गतिशीलता का द्योतक होता है। यह गतिशीलता बाह्य जीवन से नहीं, अपितु आपकी साधना और आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित होती है। गेरू वस्त्र वैराग्य और अनासक्ति का भी द्योतक होता है। परन्तु उसमें निष्क्रियता की मानसिकता थोड़ी भी नहीं होती। वह लक्ष्य के प्रति अपनी गतिशीलता को दर्शाता है। दो गेरू धोतियाँ रखिये और जब आप अपने काम-धंधे से लौटें तो वहाँ की पोशाक उतारकर इन्हें धारण कर लें।

यदि आपके लिये यह कर पाना संभव न हो तो कुछ दिनों के लिये अकेले आश्रम चले आइये। सिर के बाल मुड़ा लीजिये और गेरू वस्त्र धारण कर लीजिये, फर्श पर सोइये, एक बार भोजन कीजिये, ब्रह्मचर्य का पालन कीजिये तथा पूर्ण संन्यासी की तरह रहिये। इस अवधि में धूम्रपान, रेडियो, समाचार-पत्र, राजनैतिक बहसबाजी, व्यवसाय, नौकरी आदि किसी भी विषय पर मगजपच्ची न कीजिये। केवल साधना कीजिये और उसी के बारे में सोचिये। आपके गुरुजी आपको बतायेंगे कि आपको क्या करना है– जप, लिखित जप, गीता अथवा योग वाशिष्ठ का अनुशीलन अथवा आसन-प्राणायाम। यदि वे इस विषय पर कुछ न कहें, मौन रहें तो रसोई और बगीचे में काम कीजिये।

यदि आप वर्ष में मात्र पन्द्रह दिन संन्यासी की तरह जीवनयापन करें तो इससे आपको बड़े गहरे और सुन्दर अनुभव होंगे। इससे आपके मन के स्वरूप तथा व्यक्तित्व में कल्पनातीत सुधार होगा। इसके बाद जब आप घर लौटेंगे तो वस्तुओं, व्यक्तियों तथा घटनाओं को दूसरे ही दृष्टिकोण से देखेंगे। परिवार में शादी, विवाह, जन्म-मृत्यु, लड़ाई-झगड़े तो पूर्ववत् होते ही रहेंगे। परन्तु आप दूसरे ही ढंग से उनसे निपटेंगे। आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को यही भूमिका निभानी चाहिए। यह जरूरी नहीं कि आप जब अपने कार्यालय अथवा जीविका के काम पर जायें तब भी गेरू वस्त्र ही पहने। जब आपने कर्म संन्यास ले लिया है तो पूर्ण गृहस्थ तथा अंशकालिक संन्यासी, दोनों ही रूपों में रहिये।

कर्म संन्यासी के लिये एक जीवन-दर्शन, लक्ष्य और दो गेरू धोती जरूरी होते हैं। आपका एक आध्यात्मिक नाम भी होना चाहिए, क्योंकि माता-पिता ने आपका जो नाम रखा है उसका सम्बन्ध आपके भौतिक शरीर, धर्म और जाति से होता है। परन्तु आपके आध्यात्मिक नाम का सम्बन्ध आपकी आत्मा से होना जरूरी है। जैसे मेरा नाम सत्यानन्द है। जिस दिन गुरुदेव ने मुझे यह नाम प्रदान किया, मेरा प्रारब्ध ही बदल गया। जो दु:ख मेरी जन्म-कुण्डली में लिखा था वह जरा भी सच नहीं उतरा, इसलिये नहीं कि भविष्यवक्ता झूठा था अथवा जानकार नहीं था, परन्तु इसलिये कि मेरा समूचा प्रारब्ध ही बदल गया।

जिस क्षण से आप अपने आध्यात्मिक आत्मबल का प्रयोग करने लगते हैं अथवा जिस क्षण से आप नये ढंग से सोचने लगते हैं, आपका प्रारब्ध बदलना प्रारंभ हो जाता है। चूँकि कर्म संन्यास, आज के युग की एक महती आवश्यकता है, इसलिए उसे तथा वानप्रस्थाश्रम की प्राचीन व्यवस्था को पुनर्जीवित करना जरूरी है। पचास वर्ष की अवस्था आने तक प्रतीक्षा न कीजिये, विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के बाद ही आप चाहें तो कर्म संन्यास ग्रहण कर सकते हैं।

प्रश्नोत्तर

कृपया आध्यात्मिक नाम के महत्त्व पर प्रकाश डालें और यह भी बतायें कि यह किस प्रकार आध्यात्मिक विकास में सहायक हो सकता है?

कुछ लोगों के नाम बड़े विचित्र होते हैं। मेरे पिता के एक मित्र थे, जो पुलिस अधिकारी थे। उनका नाम ब्रिक फील्ड था। उनके एक मित्र थे, जिनका नाम फॉक्स था। आजकल हमें जो नाम प्रदान किये जाते हैं, उनका हमारे व्यक्तित्व से बिलकुल सम्बन्ध नहीं होता। हम जो कुछ भी हैं, उसकी थोड़ी भी अभिव्यक्ति हमारे नाम से नहीं होती। ये नाम तो हमें केवल दूसरों से अलग करते हैं। होना तो चाहिए कि नाम आपके आध्यात्मिक व्यक्तित्व को दर्शायें।

प्राचीनकाल से तथा आज भी भारत में एक प्रथा प्रचलित है, जिसके अनुसार जन्म के समय के आधार पर बच्चे की जन्म-कुण्डली बनाई जाती है जिसमें उसकी राशी, ग्रहदशा आदि का सूक्ष्म विवेचन रहता है। फिर जन्म

के नवें दिन उसके व्यक्तित्व को दर्शाने वाले नाम के प्रथम अक्षर की घोषणा की जाती है। इसके बाद का कार्य माता-पिता करते हैं। परवर्ती काल में इस प्रथा का धीरे-धीरे लोप होने लगा। ज्योतिष विज्ञान तो आज भी है, परन्तु लोग अपने बच्चों का धार्मिक या राष्ट्रीय आधार पर नामकरण करने लगे, जिसमें जन्म कुण्डली की सहायता नहीं ली जाती है। इसलिये व्यक्ति को सही नाम नहीं मिल पाता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नाम बदलने से प्रारब्ध भी बदलता है, क्योंकि नाम की अपनी ध्वनि तरंग होती है और जब नाम बदलता है तब ध्वनि तरंग भी बदलती तथा पुनर्व्यवस्थित होती है। इसलिये जिस नाम का आपकी आत्मा और प्रकृति के साथ तालमेल बैठेगा, उससे आपकी नियति भी बदलेगी।

संसार में अनगिनत लोग हैं। कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नहीं होते। हमारा व्यक्तित्व हमारे कर्मों द्वारा निर्धारित होता है–जैसा कर्म, वैसा व्यक्तित्व। यहाँ व्यक्तित्व से मेरा तात्पर्य भौतिक शरीर, रूप-रंग, राष्ट्रीयता, बुद्धि तथा भावनाओं से नहीं है। हमारा व्यक्तित्व हमारे अपने कर्मों के अनुरूप बनता है।

मान लीजिए, किसी जगह पाँच लोग बैठे हैं, सब-के-सब समान अवस्था के हैं। उनमें से एक चोर, दूसरा संत, तीसरा राजनेता, चौथा जड़ मूर्ख तथा पाँचवाँ दयालु है। अब उनका बाहरी रूप-रंग, अवस्था और राष्ट्रीयता समान है। वे सब एक ही गाँव के रहने वाले हैं, परन्तु उनका स्वभाव भिन्न है। यदि उनमें से जो चोर है वह देखता है कि आप अपना बटुआ बाहर भूल आये हैं तो वह उसे उठाकर भाग जायेगा। जड़ मूर्ख उसे देखता रहेगा, परन्तु यह तय नहीं कर पायेगा कि उसे क्या करना चाहिए। संत उसकी रखवाली करेगा और जब आप लौटेंगे तो आपकी वस्तु आपको सौंप देगा।

उपर्युक्त पाँचों व्यक्तियों का स्वभाव भिन्न है। अब इसी के अनुसार उनके नाम भी होने जरूरी है। होना तो यह चाहिए कि पहले व्यक्ति का श्रीमान् चोर, दूसरे का स्वामी, तीसरे का नेताजी, चौथे का मूर्ख और पाँचवें का दाता हो। यही नामाकरण का तरीका होना चाहिए, जो व्यक्ति के स्वभाव की ओर इंगित करे। यही कारण है कि मैं लोगों को सावधानीपूर्वक उनके स्वभाव के अनुरूप नाम प्रदान करता हूँ।

उदाहरण के लिये, मेरे एक शिष्य का नाम नादमूर्ति है, जिसका सम्बन्ध नाद अथवा ध्वनि से है। अपने आंतरिक और बाह्य स्वभाव के अनुरूप व्यक्ति

का अलग नाम होता है। नाद का अर्थ आंतरिक ध्वनि से होता है। अट्टहास बाहरी ध्वनि है। जब नादमूर्ति हँसता है तो आपको उसकी आवाज सुनाई देती है। परन्तु इसके साथ ही एक आंतरिक ध्वनि भी होती है। इसलिए उसे नादयोग की साधना करनी चाहिए, क्योंकि अपनी कर्म साधना और स्वभाव तथा अपने शरीर और मन के परमाणुओं की संरचना के अनुसार वह सहज ढंग से नाद की प्राप्ति कर सकता है। आंतरिक आध्यात्मिक अनुभव किसी को प्रकाश के रूप में तो किसी को ध्वनि अथवा मंडल के रूप में होते हैं। परन्तु नादमूर्ति को होने वाले इन अनुभवों का स्वरूप शब्द अथवा नाद होगा।

गेरू वस्त्र के महत्त्व पर प्रकाश डालिये, क्या मैं गृहस्थाश्रम में रहते हुए इसे धारण कर सकता हूँ?

जब आप फौज में भर्ती होते हैं तब क्या जींस पहनते हैं? नहीं, तब तो आपको फौजी गणवेश धारण करना होता है। जब आप फौजी गणवेश पहनते, कंधों पर रैंक लगाते और बूटों की आवाज के साथ सलामी बजाते हैं तो आपको लगता है कि अब मैं युद्ध के मोर्चे पर जा सकता हूँ। फौजी गणवेश और बूट आपको भीतरी ताकत और साहस देते हैं। आपने अदालत में देखा होगा कि न्यायाधीश काला चोंगा और विग पहनते हैं।

हर गणवेश का अलग महत्त्व होता है। जो आध्यात्मिक साधक अपने भीतर और आस-पास के वातावरण को अनुकूल बनाना चाहते हैं, अपने बारे में अलग ढंग से सोचना, अनुभव करना तथा गेरू की तरंगों से लाभान्वित होना चाहते हैं, उन्हें गेरू वस्त्र धारण करना चाहिए, क्योंकि गैरिक रंग को गतिशीलता और आध्यात्मिक चेतना का प्रतीक माना गया है।

भले ही आप गृहस्थ हों अथवा संन्यासी, कम-से-कम योग साधना के समय गेरू वस्त्र धारण कीजिये, भले ही वह पैजामा क्यों न हो। गेरू वस्त्र लपेटिये और देखिये कि आपको कुछ भिन्न अनुभव होता है या नहीं। गेरू के अपने कुछ रासायनिक गुण होते हैं जो संन्यासी के लिये लाभदायक होते हैं। परन्तु यहाँ हमारा सम्बन्ध उसकी तरंगों से है, वातावरण से है तथा उन व्यक्तियों के लिये भी इसका महत्त्व है जो संन्यासी नहीं हुए हैं।

ज्ञान और प्रकाश के केन्द्र

भारत में अनेक आश्रम हैं। आश्रमों में लोग कुछ दिनों के लिये आते तथा आध्यात्मिक आत्मावलोकन करते हैं। योग इन आश्रमों की प्रमुख शिक्षा होता है। परन्तु योग केवल भारतीयों की बपौती नहीं है। वह एक समग्र जीवनशैली है। भारत में जो विभिन्न आश्रम हैं उनका ढाँचा और कार्य शैली भिन्न होती है। कुछ हठयोग की शिक्षा देते हैं तो कुछ अन्य योग की, वेदान्त की, तो कुछ तांत्रिक उपासना की।

आश्रम केवल बाह्य ढाँचा नहीं होता। इसका अपना एक प्रभाव होता है। बिना प्रभाव का मंदिर, गिरजाघर, आश्रम या शरीर निरर्थक होता है। प्रभाव उस प्रकाश को कहते हैं जिसकी जरूरत हम सभी अनुभव करते हैं। रात्रि के अंधकार में जब आप कहीं जाने के लिये निकलते हैं तो साथ में टॉर्च अवश्य रखते हैं। यदि आप उसे लेकर न निकलें तो कहीं भी ठोकर खाकर लड़खड़ा सकते हैं, जिससे आपको चोट आ सकती है तथा अस्थि भंग भी हो सकती है। इसी प्रकार मनुष्य के अनुभव भिन्न प्रकार के होते हैं, जिसके लिये सर्वत्र अंधकार के माहौल में उसे प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। हम अपने भीतर स्पष्ट नहीं देख पाते, क्योंकि हमारे मन, विचार, भावनाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ, आदि अंधकार के साम्राज्य में भटकते रहते हैं। कभी-कभार हमें सुखदायक अनुभव होते हैं। ऐसा नहीं कि हममें उनकी पात्रता होती है। वह तो भूले-भटके हम एक साम्राज्य में चलते चल रहे हैं, कभी-कभी सुख की झलक पा जाते हैं। इसलिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपने अन्त: करण को आलोकित करें।

प्रत्येक आश्रम का अपना मार्गदर्शक प्रकाश होना चाहिए। आश्रम के सर्वेसर्वा को भी प्रकाशपुँज जैसा होना चाहिए, ताकि वह अपने यहाँ आने

वाले भक्त शिष्यों के मन को उच्चतर चेतना प्रदान कर आलोकित कर सके। प्रकाश और आंतरिक चेतना समानार्थी होते हैं। जब शिष्य के मन, बुद्धि और हृदय में यह चेतना विकसित होती है तभी हम मानते हैं कि उसका अंतस् आलोकित हो उठा है। जैसे-जैसे यह चेतना विकसित होती है, शिष्य में प्रसन्नता और समझदारी बढ़ने के साथ-साथ परिवर्तन आता है। यही कारण है कि जब हम किसी आश्रम का औपचारिक उद्घाटन करते हैं तो अखंड दीप प्रज्वलित करते हैं।

अति प्राचीनकाल में आश्रम जीवन की परिपाटी डाली गई थी। उस समय इसका प्रयोजन मनुष्य को आश्रय देना अथवा दैनिक जीवन के तनावों से मुक्त करना मात्र नहीं था। वे केवल साधना द्वारा आध्यात्मिक आलोक की झलक नहीं देते थे। उनका उद्देश्य एक ऐसे स्वस्थ वातावरण का निर्माण करना होता था जहाँ सब एक साथ मिलकर श्रम करते थे।

ऋग्वेद में एक मंत्र आता है जिसका अर्थ है–आओ हम एक साथ चलें, बात करें और गाएँ। आश्रमों के पीछे यही भावना तथा प्रयोजन रहते थे। अलग-अलग युगों में आश्रमों के ढाँचे तो बदले, परन्तु भावना वही रही। आश्रम में लोग जल्दी सोते और प्रात:काल उठकर अपने कार्यों में लग जाते हैं। कोई रसोईघर में कार्य करता है तो अन्य लोग बगीचे, खेत, गोशाला अथवा अन्यत्र सामुदायिक भावना के साथ क्षमतापूर्वक लगन से काम करते हैं।

वर्तमान में अधिकतर लोगों की यह मान्यता है कि नियमित ध्यान द्वारा आध्यात्मिक ज्ञानालोक की प्राप्ति होती है, परन्तु मेरी राय में यह शत-प्रतिशत सही धारणा नहीं है। आध्यात्मिक आलोक, साधना और सतत् कर्मयोग का मिलाजुला परिणाम होता है। जब आप परिवार में रहते हैं तब जो कुछ करते हैं, उसे कर्म कहते हैं, कर्मयोग नहीं, परन्तु जब आप ध्यान और कर्मयोग का मिलाजुला अभ्यास करते हैं तब सफलता अपेक्षाकृत जल्दी मिलती है। यही कारण है कि प्राचीन काल में पूरे संसार में ध्यान और कर्मयोग की संस्कृति पाई जाती थी। गृहस्थ अपने भाग-दौड़ भरे जीवन से थोड़ा अवकाश निकाल कर आश्रमों में जाते, वहाँ श्रम करते तथा नई सूझबूझ और ऊर्जा ग्रहण कर लौट आते थे। इससे उनके कार्यों में दक्षता तथा परिवार के सदस्यों के प्रति समझदारी आती थी। वे जीवन को नये दृष्टिकोण से देखने में समर्थ होते थे।

लाखों लोग समाधि के लिये प्रयास तो करते हैं, परन्तु कम लोग ही आगे बढ़ने में सफल हो पाते हैं। जो लोग आगे बढ़ते हैं उनमें भी बहुत कम

मंजिल तक पहुँच पाते हैं। मनुष्य का जन्म और उसकी नियति, समाधि और आत्मसाक्षात्कार होती है। यही वह मौलिक अंतर है जो मनुष्य को पशु से पृथक् करता है। जहाँ तक आहार, निद्रा, भय और मैथुन का सवाल है, मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं है। तो फिर वह कौन-सी विशिष्ट बात है जो मनुष्य को पशु से अलग करती है? मनुष्य आत्मसाक्षात्कार और ज्ञानालोक की आकांक्षा अपने मन में संजोकर उसकी उपलब्धि के लिये पुरुषार्थ करता है। पशु में ऐसी कोई आकांक्षा नहीं होती। इसलिये वह साधना नहीं करता।

योग मार्ग में, घर और आश्रम में कार्य करने की शैली और उसका प्रयोजन क्या होता है? आश्रमों में संन्यासी क्यों और कैसे काम करते हैं तथा आप लोग भी क्यों और कैसे काम करते हैं? संन्यासी और गृहस्थ के काम करने में जो अंतर होता है उसे वैराग्य कहते हैं। वैराग्यपूर्वक काम करना चाहिए। पारिश्रमिक के रूप में पैसा तो मिलेगा ही, यदि आप मजदूर हैं, ड्राइवर हैं तो आपको घंटों के हिसाब से मजदूरी मिलती है, परन्तु जब आपने योग को जीवनशैली के रूप में अपना लिया है, तो फिर काम क्यों करते हैं?

योगी अथवा संन्यासी अपनी चेतना के शुद्धिकरण के लिये कार्य करता है। मन पर मैल की परतें चढ़ी रहती हैं। उन्हें साफ करना जरूरी है। यह केवल तभी संभव होता है जब आप कर्म करते हैं। इसलिये योगी, संन्यासी अथवा उच्च चेतना का धनी व्यक्ति फलाफल से निर्लिप्त, चेतना के परिष्कार के लिये डटकर काम करता है। याद रखिये, वैराग्य का तात्पर्य किसी वस्तु का त्याग नहीं होता। मान लीजिये, आप अपनी नौकरी छोड़ देते हैं। यह त्याग कहा जा सकता है। आप अपनी पत्नी अथवा पति को छोड़कर भाग जाते हैं, वह भी त्याग कहलायेगा, वैराग्य नहीं। यहाँ मैं वैराग्य की बात कर रहा हूँ, त्याग की नहीं।

मेरा विषय किसी वस्तु का त्याग करने की सलाह देना नहीं है। मैं कहता हूँ, जीवन में वैराग्यपूर्वक सबके साथ रहना चाहिए। मैं वैराग्य की बात करता हूँ तो उसका यह मतलब भी नहीं है कि किसी से प्रेम न करो। प्रेम करो भी तो वैराग्य के साथ। इससे आपको स्थायी संतोष मिलेगा। आप कभी हताश-निराश नहीं होंगे। लगावपूर्वक प्रेम करने से आपको कभी सुख तो कभी दु:ख मिलेगा।

जब मैं वैराग्य की बात करता हूँ तब भूलकर भी उसका यह अर्थ न लगायें कि मैं आपको कुछ त्यागने का उपदेश दे रहा हूँ। वैराग्य चिंतन का

दर्शन है, जिससे समझदारी का स्तर ऊँचा उठता है। जब आपमें उच्च स्तर की समझबूझ आ जाये तो आश्रम खड़ा कर लीजिये, इसके पूर्व नहीं। नहीं तो आप घर की जगह आश्रम बना लेंगे और पहले से कहीं अधिक मजबूती के साथ स्वयं को राग से जकड़ लेंगे। आश्रम जीवन ज्ञानालोक की प्राप्ति में सहायक होता है। आश्रम जीवन की संरचना इस प्रकार निर्मित की गई है कि वह पग-पग पर आपको अपने गंतव्य का, अपने उद्देश्य का बोध कराती रहती है। आश्रम में आप दिनभर ध्यान में ही नहीं बैठे रहते। आश्रम में गायें चराते, रसोई में काम करते, बैंक, बगीचे, कार्यालय, कर्मशाला में काम करते, भवनों की साफ-सफाई करते हैं, सुबह से शाम तक प्रत्येक काम में आपको दिव्यता की झलक मिलती रहती है। सूर्योदय के पूर्व से सूर्यास्त के बाद तक आपको आश्रम में चहल-पहल एवं व्यस्तता के दर्शन होते हैं।

आश्रमवासी अत्यंत सादगीपूर्ण जीवन जीते हैं। वहाँ आने वाले अन्यान्य भक्त शिष्य भी उनका अनुकरण करते हुए सादा जीवन अपनाते हैं। आश्रम जीवन की यह सादगी भी एक प्रकार की तपस्या मानी जाती है। जहाँ तक मैंने अन्य आश्रमों को देखा है तथा जहाँ तक मेरे आश्रम का सम्बन्ध है, मेरा एक ही लक्ष्य है–आश्रम में एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिससे आश्रम में रहने वालों के चेतनात्मक आध्यात्मिक विकास को गति मिल सके।

आश्रम को ज्ञान के प्रकाश का केन्द्र होना चाहिए। देश के कोने-कोने से लोग आश्रमों में आकर रचनात्मक कार्यों द्वारा अपना योगदान कर सकें। इसके लिये योग शिविरों का आयोजन होना चाहिए तथा प्रशिक्षित अनुभवी शिक्षकों को इस कार्य हेतु बाहर भेजा जाना चाहिए। यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस पर पर्याप्त ध्यान देने की आवश्यकता है। जबकि देश के नेता तथा कर्त्ता-धर्त्ता उत्तरजीविता के विषय में विचार कर रहे हैं, हम संत-महात्मा आत्मज्ञान तथा उच्चतर चेतना की प्राप्ति की दिशा में प्रयास कर रहे हैं।

अनेक संन्यासियों ने योगविद्या के प्रचार-प्रसार के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया है। इस कार्य को और आगे बढ़ाने के लिये हम अनेक योग साधकों को कर्म संन्यास दीक्षा देने जा रहे हैं। हमें गलत समझने की भूल मत कीजिये। यहाँ मैं पूर्ण संन्यास की नहीं, कर्म संन्यास की बात कर रहा हूँ। हम अनेक लोगों को कर्म संन्यासी बनायेंगे, क्योंकि हमें उनकी जरूरत है। हमें त्यागी, उदास लोगों की जमात खड़ी नहीं करनी है, बल्कि ऐसे लोगों को लेना है, जो वैराग्यपूर्वक गृहस्थ जीवन की अन्यान्य जिम्मेदारियों का निर्वाह

कर रहे हैं। जब गृहस्थ पुरुष तथा स्त्रियाँ व्यावहारिक जीवनयापन करते हुए उसके सुख-दु:ख तथा उतार-चढ़ाव का वैराग्यपूर्वक सामना करते हों तो उसे ही कर्म संन्यास कहा जाता है। आने वाले युग में ऐसे ही कर्म संन्यासी अपने अन्य भाई-बहनों की सहायता तथा मार्गदर्शन कर सकेंगे।

समाज को लोगों के मार्गदर्शन हेतु ऐसे नेताओं को सामने लाना होगा। देश के शासन तंत्र में भी ऐसी मार्गदर्शक समझबूझ वाले व्यक्तियों की आवश्यकता है। देश के सुरक्षा संस्थानों में ऐसे नेताओं की कमी नहीं है। परन्तु मानवता को आध्यात्मिकता के क्षेत्र में आगे बढ़ाने के लिये मार्गदर्शक, अनुभवी नेतृत्व की नितांत आवश्यकता है। इसलिये इस क्षेत्र में मेरी यह स्थापित मान्यता है कि आश्रम समाज को ऐसा नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं।

प्रश्नोत्तर

आश्रमों के जीवन के विषय में विस्तारपूर्वक जानकारी प्रदान करते हुए यह बताने की कृपा करें कि वे मुझे क्या कुछ प्रदान कर सकते हैं?

आश्रम जीवन एक अत्यंत प्राचीन परम्परा रही है। आश्रम वह स्थान है जहाँ आप अत्यंत सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऑस्ट्रेलिया, भारत और पाश्चात्य देशों में अनेक ऐसे स्थान हैं जिन्हें आश्रम कह सकते हैं। परन्तु वे वास्तव में आश्रम नहीं कहे जा सकते। आश्रम के सादगीपूर्ण जीवन में आप अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बहुत अच्छी तरह व्यक्त कर सकते हैं। आश्रम में आप आध्यात्मिक तथा भौतिक पुरुषार्थ करते हैं, अनेक लोगों के साथ मिल-जुलकर रहते हैं, आश्रम के अनेक कार्यों में हिस्सा लेते, एक-दूसरे को नजदीक से जानते तथा समझते हैं। आश्रम जाकर ही आपको पता लगता है कि आप ही अकेले दु:ख और पीड़ा के शिकार नहीं हैं। ऐसे वातावरण प्रदान करने वाले स्थान को ही आश्रम कहते हैं। हम सबके सब, भले ही एक-दूसरे को जानते-पहचानते न हों, एक ही मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं।

आश्रम का वातावरण आध्यात्मिक तरंगों से आविष्ट रहता है। जो आश्रमवासियों एवं आश्रम में आने वाले व्यक्तियों के अनुशासन, उच्च विचार, सेवा, त्याग, समर्पण तथा आध्यात्मिकता द्वारा निर्मित होता है। इसलिये हम सब आश्रम में इस प्रकार रहते हैं कि वहाँ एक शांत, आध्यात्मिक वातावरण निर्मित

हो सके। आश्रमों में नियमित योग साधना कक्षाएँ, ध्यान, योगनिद्रा, कीर्तन आदि की व्यवस्था रहनी चाहिए। इनसे अनुकूल वातावरण का निर्माण होता है, जिसका वहाँ आने वालों को तत्काल अनुभव होता है। इससे आश्रमवासियों के आध्यात्मिक व्यक्तित्व तथा प्रारब्ध में सुधार आता है।

भारत में ऋषिकेश जैसे शांत, एकान्त वातावरण में अनेक आश्रम पाये जाते हैं। यहाँ देश के हर स्थान से लोग थोड़ा अवकाश लेकर प्रतिवर्ष आते हैं, अपने गुरु तथा गुरुभाइयों से मिलते हैं, कर्मयोग करते तथा स्वस्थ वातावरण में स्वयं को पूरी तरह खुला छोड़ देते हैं। यहाँ पर उनका जीवन, खान-पान आदि, घर के जीवन से एकदम भिन्न प्रकार का होता है। आश्रम में आकर घर की सुख-सुविधाओं तथा भोग-विलास की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। यह न तो उचित है और न ही वांछनीय। आश्रम में रहते हुए जीवन की परिपाटी को बदलना आवश्यक है।

दो वर्ष पूर्व कुछ लोग मेरे पास आये थे। वे ऑस्ट्रेलिया में एक आश्रम खड़ा करना चाहते थे। मैंने उनकी योजना पर प्रसन्नता और सहमति प्रदान करते हुए उन्हें बीस-तीस एकड़ जमीन प्राप्त करने के लिये कहा। उन्होंने कहा कि वे वहाँ कुछ अधिक सुख-सुविधाओं के साधन जुटाना चाहते हैं। वे उस आश्रम में टेलीविजन, ठण्डे-गरम पानी की सुविधा आदि जुटाना चाहते थे। मैंने उनसे कहा कि यदि वह आश्रम में 'मोटेल' जैसी सुख-सुविधाएँ जुटाना चाहते हैं तो बेहतर होगा कि उसे सत्यानन्द मोटेल नाम प्रदान करें, उसे आश्रम न कहें, क्योंकि आश्रम ऐसा होना चाहिए जहाँ चोटी के धनवान तथा अत्यंत गरीब तबके के लोग समस्त भेदभाव बिसार कर मिल-जुलकर समान स्तर पर रह सकें। मोटेल में आप बाथ टब, दर्पण, टेलीविजन, फ्रिज तथा बोतलें रख सकतें हैं। ऐसी जगह अनेक लोग आयेंगे, कोई लौटना नहीं चाहेगा, परन्तु कोई भी विकास के पथ पर आगे नहीं बढ़ पायेगा।

जब आप आश्रम आयें और जब तक वहाँ रहें, अपना समय साधना में लगायें। इससे जो भी थोड़ा-बहुत समय बचे, उसे कर्मयोग में लगायें। आश्रम में कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ कार्य अवश्य कीजिये। इससे आपको बड़ी मानसिक शांति मिलेगी। जब आश्रम से वापस जायें तो घर पर भी इस शैली को यथासंभव अपनायें। भले ही आप घर में हू-ब-हू आश्रम जैसा वातावरण, अनुशासन और जीवनशैली न अपना सकें, परन्तु थोड़ा-बहुत परिवर्तन तो कर ही सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ आश्रम जीवन से कुछ-न-कुछ अवश्य सीख

सकता है। यदि आश्रम की सादगी, आध्यात्मिक वातावरण आदि आप घर ले जा सकें तो घर भी एक छोटा-मोटा आश्रम तथा आप उसके मार्गदर्शक गुरु बन सकते हैं।

आपके वे गृहस्थ भक्त जो बार-बार आश्रम नहीं आ सकते, आपके मिशन को आगे बढ़ाने में किस प्रकार योगदान कर सकते हैं?

जो लोग मानवता की सेवा करना चाहते हैं तथा मेरे मिशन को आगे बढ़ाने के इच्छुक हैं, उन्हें मेरी एकमात्र सलाह यही है कि वे स्वयं नियमित योगाभ्यास करें। आप योग को भले ही मेरा मिशन कहें अथवा चाहे जो कहें, परन्तु केवल योग ही मेरा मिशन नहीं है। मैं कोई मिशनरी भी नहीं हूँ। यदि कोई डॉक्टर अपने मरीज को दवा लेने की सलाह देता है, तो वह वास्तव में क्या कर रहा है? वह दवा बेच रहा है अथवा अपने मरीज की सहायता कर रहा है? उसका मिशन क्या होना चाहिए– दवा बेचना या मरीज की सहायता करना?

मैं योग सिखाता हूँ, लोगों को उसका उपदेश देता हूँ, क्योंकि मैंने देखा है कि लोगों की अन्यान्य पीड़ाओं का समाधान योग के पास है। यदि किसी दिन मुझे लगे कि योग यह समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता तो मैं उसकी चर्चा एकदम बन्द कर दूँगा। सिखाना तो दूर रहा, क्योंकि योग न तो मेरा धर्म है और न ही मेरी परम्परा। योग मेरा लक्ष्य नहीं है। हाँ, वह मेरा आधार, अधिष्ठान अवश्य है।

मेरा लक्ष्य है मानवता का आध्यात्मिक कल्याण, चेतनात्मक उत्थान। योग मेरा प्रयोजन नहीं हो सकता। यदि आप इसे अच्छी तरह समझ लें तो जहाँ भी हैं, मेरे कार्य में सहायता पहुँचा सकते हैं। मैंने देखा है कि जब लोग योग सिखाना शुरू करते हैं तब वे उसके अति आग्रही बन जाते हैं। वे योग को ही सबकुछ मानने लगते हैं। इसलिये हमेशा याद रखिये, योग मात्र साधन है, साध्य नहीं। मैं केवल योग सिखाता हूँ। मैं लोगों को शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के लिये आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिये योग सिखाता हूँ, केवल योग के लिये योग नहीं।

यदि मेरे मिशन का लक्ष्य योग बन जाये तो मेरे समस्त शिष्य योग के अति आग्रही बन जायेंगे। जैसा कि हर धर्म में देखने में आया है, आगे चलकर योग भी एक धर्म का रूप ग्रहण कर लेगा। जब भी किसी दर्शन को अनावश्यक महत्त्व दिया जाता है, वह साधन नहीं रह जाता, साध्य बन जाता है, धर्म बन

जाता है। इसी प्रकार एक के बाद एक अनेक धर्म अस्तित्व में आये हैं। भले ही इन धर्मों ने मानवता का कल्याण न किया हो, उसे आगे न बढ़ाया हो, वे विश्व में खून-खराबे और जनविनाश के कारण रहे हैं तथा आज भी उनका अस्तित्व विद्यमान है। इसका कारण मात्र इतना है कि धर्म साध्य बने हुए हैं।

जब किसी धर्म अथवा योग का उद्देश्य विफल हो जाये तो उसी क्षण उसे समाप्त कर देना चाहिए, नष्ट कर देना चाहिए। परन्तु हमने ऐसा कभी नहीं किया। गत कुछ हजार वर्षों में आपने स्वयं देखा होगा कि धर्म ने क्या कुछ अहित नहीं किया है और आज भी धर्म क्या कर रहा है, सब अच्छी तरह जानते हैं, समझते हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इतना कुछ होने पर भी हम चुप बैठे हैं, क्योंकि धर्म हमारा मिशन बना हुआ है, वह आज भी साध्य बन बैठा है, अब वह साधन नहीं रह गया है। परन्तु मैं योग के साथ ऐसा कदापि नहीं होने दूँगा। अन्यथा योग भी निरर्थक जनविनाश का निमित्त बन जायेगा। लोग कहेंगे, योगाभ्यास करो अथवा मरने के लिये तैयार हो जाओ।

आज हम सबको एक बात याद रखनी है। संसारभर के लोग जो दु:ख, पीड़ा और कष्ट भोग रहे हैं उसका स्वरूप आध्यात्मिक है। यही कारण है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान विफल हो रहा है, मनोविज्ञान कसौटी पर खरा नहीं उतर पा रहा है। यही कारण है कि अकल्पनीय तकनीकी विकास की उपलब्धियाँ, धन और संपन्नता, सबके सब मनुष्य को कष्ट मुक्त नहीं कर पा रहे हैं। यही कारण है कि अत्यंत सभ्य, विकसित व्यवस्थित और अनुशासित राजनैतिक व्यवस्थाएँ भी कुछ नहीं कर पा रही हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि आधुनिक मानव की पीड़ा का स्वरूप आध्यात्मिक है। इसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मन की गुणवत्ता से है, आत्मा और आध्यात्मिक दर्शन एवं विचारधारा से है। इसलिये यदि योग को सामने लाया जाए, जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया जाए तो लोगों की अधिकांश समस्याएँ स्वयंमेव समाप्त हो सकती हैं।

इसी कारण मैं लोगों को योग का उपदेश देता हूँ। उन्हें नियमित योगाभ्यास के लिये प्रेरित करता हूँ। अपनी अन्यान्य जिम्मेदारियों के साथ आप एक गृहस्थ हैं। अपनी चेतना में गुणात्मक सुधार लाइये, साथ-ही-साथ नियमित योगाभ्यास कीजिये, चेतना का स्तर विकसित कीजिये तथा यह अनुभव कीजिये कि आप शरीर के अतिरिक्त और भी कुछ हैं। यदि आप ऐसा कर पाते हैं, तो समझिये आप मेरे मिशन की सेवा कर रहे हैं।

मैं किस तरह आपका मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता हूँ, विशेष रूप से उस समय जब आप मुझसे बहुत दूर हों और मेरा मन अनावश्यक आँख-मिचौली न कर पाये?

जब आप अपने ट्रांजिस्टर को किसी रेडियो स्टेशन से मिलाना चाहते हैं तब क्या करते हैं? आप सर्वप्रथम उसका स्विच खोलते हैं, बैटरी की जाँच करते तथा सूई को आगे-पीछे सरकाते हैं।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, गुरु से सम्पर्क जोड़ने के दो तरीके होते हैं। सर्वप्रथम तो आपका गुरु आपके भीतर होता है। हमारे भीतर ऊर्जा का जो व्यापक क्षेत्र है उसके द्वारा हम सब आपस में एक-दूसरे से जुड़े हैं, हम अलग हैं ही नहीं। समस्त मनुष्य, पशु और वनस्पति जगत् आपस में एक-दूसरे से जुड़े हैं। परन्तु हम इस सम्बन्ध सूत्र के बारे में प्राय: अनभिज्ञ हैं, क्योंकि हमें तो सिर्फ बाह्य शरीर दिखाई पड़ता है, ऊर्जा का क्षेत्र तो हमारी आँखों से ओझल ही रहता है। हमें बताया जाता है कि जिस तरह रेडियो-सक्रिय तथा विद्युत-चुम्बकीय-क्षेत्र होता तो अवश्य है, परन्तु हमें दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार हमारे भीतर भी ऊर्जा का क्षेत्र होता है, जिसे हम न देख पाते हैं और न ही समझ पाते हैं।

वैज्ञानिक कहते है कि हम सबके सब आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और प्रत्येक शरीर विराट् ब्रह्माण्ड के भीतर एक लघु ब्रह्माण्ड है। जो कुछ भी विराट् ब्रह्माण्ड में पाया जाता है वह हमारे-आपके शरीर रूपी लघु ब्रह्माण्ड में भी विद्यमान है। यह मात्र कल्पना अथवा विचार नहीं है, यह कोई भ्रमात्मक दर्शन भी नहीं हैं, वरन् यह विज्ञान की आधुनिक खोज और निष्कर्ष है। विज्ञान की अनेक खोजों ने इस बात का सत्यापन किया है। मैं इस सत्य के विस्तार में नहीं जाना चाहूँगा कि किस प्रकार एक अणु में समूचे ब्रह्माण्ड का लघुतम रूप छिपा रहता है। इस बात की विस्तृत जानकारी आपको अपने भौतिकी के प्राध्यापक से प्राप्त हो सकती है।

मैं विराट् ब्रह्माण्ड की लघु ब्रह्माण्ड के रूप में महज इसलिये एक इकाई नहीं हूँ कि मैं एक स्वामी हूँ। आप में से प्रत्येक व्यक्ति भी ऐसी इकाई है। इसका सीधा तात्पर्य यह कि आपके भीतर भी वह सब कुछ विद्यमान है जो विराट् ब्रह्माण्ड में पाया जाता है। इस तरह आपका गुरु भी आपके भीतर हर क्षण उपस्थित रहता है। मात्र कुछ लोगों के लिये मैं बाह्य रूप से गुरु हूँ, परन्तु मैं उन सब में मौजूद हूँ। जब वे मुझसे संपर्क साधने का प्रयास करते हैं तो वे

स्वयं के माध्यम से ऐसा करने की कोशिश करते हैं, क्योंकि मैं तो हर क्षण उनके साथ रहता हूँ। उन्हें मेरे और अपने बीच के भौतिक अंतर को पाटने की जरा भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक दूरी तो मात्र सापेक्ष होती है जिसे आप पाँच हजार अथवा बीस हजार किलोमीटर की दूरी कहते हैं, वस्तुतः वह है कुछ भी नहीं।

सिद्धान्त के रूप में आप यह भली-भाँति जानते हैं कि प्रत्येक दूरी सापेक्ष होती है। एक स्थिति में मेरे और आपके बीच पाँच हजार किलोमीटर की दूरी होती है। परन्तु जैसे ही आप चेतना के क्षेत्र में परिवर्तन लाते हैं, यह दूरी पूरी तरह समाप्त हो जाती है। चेतना के हर स्तर पर दूरी एक जैसी नहीं रहती। जैसे ही आपकी चेतना का स्तर बदलता है, दूरी भी घटती-बढ़ती रहती है। चेतना के एक स्तर पर जो दूरी दस हजार किलोमीटर है, वह दूसरे स्तर पर मात्र एक सेंटीमीटर रह जाती है। इसलिये हम गहन ध्यान की उस अवस्था में गुरु-शिष्य के बीच भौतिक दूरी को दूरी मानते ही नहीं। विशेष रूप से उस समय जब आप ध्यान की गहन अवस्था में जीरोमीटर पर गुरु से सम्पर्क स्थापित करते हैं।

अब यह जीरोमीटर क्या है? जीरोमीटर शून्यता होता है, इसे रीतापन, विचार शून्यता भी कह सकते हैं। परन्तु मैं इसे एक नकारात्मक पद्धति कहता हूँ। आपके मन में एक विचार उठता है और आप कहते हैं, नहीं। इसके बाद दूसरा, तीसरा और चौथा विचार आता है, और आप कहते जाते हैं, नहीं। आप किसी भी विचार पर ध्यान नहीं देते। उन्हें बस उठने और निकल जाने देते हैं। कुछ समय तक यदि आप ऐसा करते रहें तो शून्यता की अवस्था निर्मित होती है। जब यह अवस्था आती है तब आपके और गुरु के बीच सम्बन्ध सूत्र जुड़ जाता है। यह एक तरीका हुआ।

गुरु से सम्पर्क स्थापित करने का दूसरा विधायक तरीका है। इसे आत्यंतिक भक्ति और समर्पण का मार्ग कहते हैं। इसमें शिष्य का गुरु के प्रति गहनतम लगाव और प्रेम होता है। जब आपका मन गुरु के प्रति शत-प्रतिशत समर्पित होता है, सतत् उनका स्मरण करता है, उनकी याद में डूबा रहता है, जब वह आपके सर्वस्व होते हैं तब यह सम्बन्ध पुनः जुड़ता है। इस अवस्था में तो आप खुले नेत्रों से भी अपने गुरु से सम्पर्क कर सकते हैं।

संन्यास के सोपान

जब आप में असंलग्नता का विचार उठता है, फिर भी आप गृहस्थ जीवन में रहते हैं तब उस अवस्था को 'गृहस्थ संन्यास' के नाम से जाना जाता है। यह संन्यास की तैयारी की अवस्था है। जब आप अपने मूल्यों का पुनरावलोकन करें, अपने जीवन-दर्शन पर नये सिरे से पुनर्विचार करें तथा अपने लक्ष्य के बारे में, जिसे प्राप्त करना आपके जीवन का परम लक्ष्य है, चिन्तन प्रारम्भ करें तो मानिये कि आप 'गृहस्थ संन्यास' के लिये तैयार हैं। दूसरे शब्दों में, जब एक गृहस्थ पति, पिता, पुत्री आदि के रूप में आप इस संसार की निरर्थकता को महसूस करने लगते है तथा गंभीरतापूर्वक यह विचार करने लगते हैं कि मैं कौन हूँ तथा मेरे जन्म लेने का वास्तविक प्रयोजन क्या है तो यही सबसे उपयुक्त समय होता है जब आपको गृहस्थ संन्यास अथवा 'कर्म संन्यास' में प्रवेश करना चाहिए।

गृहस्थ के नाते आपको गृहस्थी के सभी कार्य पूरे करने होंगे तथा उसके उत्तरदायित्वों को वहन करना होगा। परन्तु इसके बाद जब आप कर्म संन्यासी बनेंगे तो आपको जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भली-भाँति समझना होगा, उसे हर क्षण अपने सामने रखना होगा। इसके साथ-ही-साथ आपको पूर्ण संन्यास के लिये भी स्वयं को तैयार करना होगा। यद्यपि कर्म संन्यास के विषय में अभी लोगों को पूरी जानकारी नहीं है, तथापि बहुत-से लोग अवश्य इसके बारे में कुछ-न-कुछ जानकारी रखते हैं। वे कुछ समय निकाल कर आश्रमों में रहते हैं, आध्यात्मिक नाम ग्रहण करते हैं, मंत्र लेते हैं और आश्रम में गेरू वस्त्र धारण करते हैं। तब वे लोग घरों में वापस जाते हैं तो वे पूर्ववत् अपनी पत्नी, बच्चों और परिवार के साथ रहते हैं, परन्तु अब उनमें एक अनुशासन, संयम, सामाजिक तथा आध्यात्मिक जागृति और चेतना

होती है। उनका जीवन पहले से कहीं अधिक व्यवस्थित और उद्देश्यपूर्ण होता है।

अराजकतापूर्ण अनियंत्रित जीवन, जिसमें इन्द्रियगत अनुभवों की भरमार होती है, अन्ततोगत्वा हमें बीमारियों, शारीरिक शक्तियों के क्षय तथा मृत्यु के निकट ले जाता है। फिर एक दिन हममें सुबुद्धि का उदय होता है कि जीवन के बहुमूल्य अस्सी वर्ष गँवाकर हमने कुछ भी प्राप्त नहीं किया, सभी सुअवसर हाथ से निकल गये तथा यह समूचा जीवन ही एकदम व्यर्थ चला गया। तब इस समय दुःख, शोक और पश्चाताप के सिवाय कुछ नहीं बचता। इसलिये जब हम जीवन के बारे में सोच-विचार प्रारंभ करते हैं तब हमें गुरु की शरण में जाना चाहिये और उनसे दीक्षा ग्रहण कर पुनर्विचार की प्रक्रिया को गति प्रदान करनी चाहिए।

जीवन में गुणात्मक सुधार लाने के उद्देश्य से एक और प्रकार के संन्यास की भी व्यवस्था है। इसे अस्थायी अथवा अंशकालिक संन्यास के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि यह सबके लिये संभव है तथापि इसे उस समय ग्रहण करना चाहिए, जब आप युवा होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि युवावस्था में आप किसी आश्रम में जाते हैं तथा वहाँ कम-से-कम पन्द्रह दिन संन्यासी की तरह रहते हैं। आश्रम में अपने निवास की यह अवधि अपनी सुविधा के अनुकूल घटा-बढ़ा सकते हैं तथा इसे एक वर्ष भी कर सकते हैं। आप भले ही पुरुष हों अथवा स्त्री, इस निवासकाल में आप आश्रम में साधक, अतिथि अथवा योगाभ्यासी के रूप में नहीं अपितु एक संन्यासी के रूप में रहते हैं।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि आश्रम जीवन अत्यंत सादगीपूर्ण तथा कम-से-कम जरूरतों वाला होना चाहिए। भले ही घर पर आपके पास बेशुमार सुख-सुविधाएँ तथा विलासिताएँ हों, परन्तु जब आप आश्रम जा रहे हैं तो आपको अवश्य परिवर्तन का अनुभव होना चाहिए। अब यदि आश्रम भी घर जैसा अथवा आलीशान होटल जैसा हो, तो फिर वह वांछित परिवर्तन कहाँ और कैसे प्राप्त होगा? आश्रम में तो आपको एक प्रकार का भावनात्मक झटका लगना चाहिए। घर पर आप भले ही मुलायम गद्दों पर सोते हों, परन्तु आश्रम में तो लकड़ी के सख्त तख्त ही मिलते हैं। घर पर आप भले ही तीन या चार स्वादिष्ट व्यंजनों वाला भोजन करते हैं, परन्तु आश्रम में तो आपको सादा भोजन ही मिलता है।

जब आपके शरीर की सभी नस-नाड़ियाँ पूरी तरह शुद्ध हो जायें, मानसिक द्वन्द्व समाप्त हो जायें तो शरीर अपने आप सभी आवश्यक पोषक तत्त्व तथा विटामिन उत्पन्न करने लगता है। मैं यहाँ आदर्श की बात नहीं, बल्कि विज्ञान की बात कर रहा हूँ, क्योंकि अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ हमारे शरीर में विद्यमान रहती हैं। सभी खनिज, लवण, प्रोटीन, विटामिन, जो आपको दूध, फल, घी, तेल, अंडे और मक्खन से प्राप्त होते हैं, उन सबका उत्पादन हमारे शरीर के भीतर ही होता है। शरीर में यह आश्चर्यजनक क्षमता पायी जाती है। परन्तु, चूँकि आप उसे अवसर नहीं देते, अत: वह इनका उत्पादन नहीं कर पाता। अब यदि आप शरीर पर इन तत्त्वों का बोझ लाद दें तो वह भी कहेगा कि जब आप ही बाहर से मुझमें ये वस्तुएँ ठूँसे जा रहे हैं तो मैं ही इन्हें उत्पन्न करने का व्यर्थ कष्ट क्यों उठाऊँ? शरीर के लिए आवश्यक सभी पाचक द्रव्य एवं पोषक तत्त्व उसके भीतर मौजूद रहते हैं। परन्तु हम उनका उपयोग नहीं करते।

इस प्रकार यह संन्यास का द्वितीय सोपान कहलाता है। मेरी राय में प्रत्येक गृहस्थ को इसका अनुभव अवश्य करना चाहिए। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि संसारभर के लाखों-करोड़ों लोगों को कम-से-कम पन्द्रह दिनों के इस अस्थायी संन्यास जीवन का अनुभव अवश्य करना चाहिए। आश्रम में अत्यंत सादगीपूर्ण जीवन बिताइये, केवल जीने के लिये एक अथवा दो समय भोजन कीजिये। जहाँ संसार की चमक-दमक न हो, न रेडियो, न टी. वी., न समाचार पत्र, न पत्रिका-उपन्यास, न शृंगारिक वस्तुएँ, और न ही चिन्ता, परेशानी, इच्छाएँ तथा वासनाएँ ही रहती हैं, वहाँ आप गुरु के पवित्र सान्निध्य में शांत, एकांत, तनाव मुक्त, आत्म-चिंतन और कर्मयोगमय जीवन का आनन्द उठा पाते हैं।

यदि आप चाहते हैं तो गीता, बाइबिल, कुरान अथवा रामायण का स्वाध्याय कीजिये। यदि पढ़ने की इच्छा न हो तो लिखित जप कीजिये। पन्द्रह दिन जब तक आश्रम में रहें, मानसिक एकाग्रता का अनुभव कीजिये। इस सबके पूर्व सिर के बाल मुड़वा दीजिये तथा गेरू वस्त्र धारण कीजिये। यह बहुत जरूरी है। पन्द्रह दिनों के बाद आश्रम छोड़ दीजिये। अपनी पास बुक, चेक बुक, सूटकेस, रंगबिरंगे अत्याधुनिक कपड़े, सब वापस ले लीजिये तथा अपने उद्योग, व्यवसाय आदि में पूर्ववत् जुट जाइये। घर-परिवार के कार्यों में लग जाइये। संन्यास का यह अल्पकालिक अनुभव जहाँ आपका चेतनात्मक

विकास करेगा, वहीं आपको चुनौती भरे जीवन का हिम्मत से सामना करने का बुलंद हौसला भी प्रदान करेगा।

संन्यास का तृतीय और अंतिम चरण वह होता है जब आप सब कुछ छोड़-छाड़कर पूर्ण समर्पण के साथ आध्यात्मिक जीवन बिताना प्रारंभ करते हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को संन्यास के उपर्युक्त सोपानों में से किसी एक को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इसमें किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती न हो, परन्तु इसे स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किया जाना चाहिए। यह सब कुछ आपके मन और चेतना के स्तर तथा उनकी गुणवत्ता पर निर्भर होना चाहिए।



संन्यास और कर्म संन्यास

प्राचीन काल में संन्यास की व्यवस्था उन लोगों की सुविधा के लिये थी जो निष्ठावान् जिज्ञासु होते थे तथा आत्म-साक्षात्कार के लिये साधनामय जीवन बिताना चाहते थे। हमारे पूर्वज यह भली-भाँति जानते थे कि हर व्यक्ति उच्चतम चेतना को प्राप्त करने का पात्र है, क्योंकि आत्मा सभी में विद्यमान है। आपकी श्वास और प्राण आपके जितने नजदीक हैं, आत्मा उससे भी अधिक करीब है। वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार का सर्वोच्च अनुभव हो सकता है।

हमारे पूर्वज यह भी जानते थे कि हम जिस वातावरण तथा सामाजिक परिवेश में रहते हैं, वह आध्यात्मिक ज्ञानालोक की उपलब्धि हेतु सर्वथा अनुकूल नहीं हो सकता। ऐसी सामाजिक व्यवस्थाएँ जो आध्यात्मिक पर्यावरण प्रदान करने के उद्देश्य से संगठित की गई थीं, समय के साथ-साथ जटिल और पथभ्रष्ट हो गईं। हम जिस सामाजिक ढाँचें के अन्तर्गत रहते हैं वह तो आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में जबरदस्त रुकावट सिद्ध हो रहा है, जिससे हृदय, मन और मस्तिष्क का विकास अवरुद्ध होता जा रहा है। हमारे उत्तरदायित्व, परस्पर सम्बन्ध और भावनात्मक मनोरचना, आदि जटिल और दिग्भ्रमित करने वाली हैं और हम सांसारिक कार्यों में इस तरह जकड़े हुए हैं कि हम आध्यात्मिक अनुभव के लिये कितने ही व्यग्र, जिज्ञासु और प्रयत्नशील क्यों न हों; हमें सफलता प्राप्त नहीं होती।

इन्हीं बातों को दृष्टिगत रखते हुए हमारे बुजुर्गों ने ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जो सांसारिक बाधाओं से अछूती थी। इस व्यवस्था को उन्होंने संन्यास आश्रम के नाम से उजागर किया था। एक संन्यासी के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सांसारिक औपचारिकताओं तथा सामाजिक शिष्टाचार को निभाए।

उसके लिये विवाह या अंतिम संस्कार में उपस्थित होना अनिवार्य नहीं होता। इसके अलावा और कई संस्कार, उत्सव आदि होते हैं, जिनमें भाग लेना संन्यासी के लिये अनिवार्य नहीं है। चूँकि ये बातें संन्यासी के लिये अनिवार्य नहीं होतीं, यह परिवर्तन आध्यात्मिक जीवन को सरल बना देता है।

संसार में सभी व्यक्तियों के लिये पूर्ण संन्यास लेना संभव नहीं है। अत: उसके लिये एक दूसरी व्यवस्था भी है, जिसे पूर्ण संन्यास के पूर्व की तैयारी की अवस्था कह सकते हैं। वर्तमान शताब्दी में हम इसे कर्म संन्यास के नाम से जानते हैं। परवर्त्तीकाल में इसे ही वानप्रस्थ के नाम से जाना जाता था। कर्म संन्यासी को समाज तथा परिवार में रहने तथा वहाँ की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियों को पूरा करने की अनुमति रहती है। परन्तु इसके साथ-साथ उसे कुछ अन्य जिम्मेदारियों और आवश्यकताओं को पूरा करने की जरूरत नहीं होती। वह परिवार का मार्गदर्शक होता है, समय-समय पर आदेश और अपनी सम्मति देता है। चूँकि वह आध्यात्मिक लक्ष्य के लिये समर्पित रहता है, वह अपने में स्वतंत्र है।

संन्यासी में पूर्ण समर्पण होता है, उसे व्यक्ति, समाज, परिवार और व्यक्तिगत धन-सम्पत्ति से कुछ लेना-देना नहीं होता। उसे पारिवारिक परिवेश से बाहर निकल कर गुरु आश्रम में गुरु के पवित्र सान्निध्य में कम-से-कम बारह वर्षों तक रहना होता है। इसके पश्चात् वह परिव्राजक के रूप में पुन: बारह वर्षों तक यात्राएँ करता है। अंत में वह आत्मचिन्तन हेतु किसी स्थान पर टिक जाता है। यहाँ वह आत्मचिन्तन तथा आत्मविश्लेषण द्वारा अपने तथा समाज के लोगों के लिये उपयुक्त युक्तियों की खोज करता है। बाद में वह चाहे जो रास्ता अपना सकता है। वह चाहे तो आश्रम खोले अथवा किसी एकांत स्थान में साधना करे, अथवा पुन: परिव्रजन करे।

आजकल संन्यास की शर्तों को पूरा करना बड़ा कठिन हो गया है। प्रेरणा और लगन तो है, परन्तु पृष्ठभूमि और सामाजिक प्रशिक्षण का बहुत अभाव है। अब यदि हम पचास-साठ वर्ष की अवस्था तक यह प्रतीक्षा करें कि तब तक हमारी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ पूरी हो चुकेंगी, तो उस समय तक ठहरने का तात्पर्य होगा, अत्यंत विलंब, जब हम कुछ कर पाने की शारीरिक स्थिति में नहीं रह जायेंगे। वृद्धावस्था हमारे शरीर का इस सीमा तक ह्रास कर देगी कि कुछ कर पाना भी संभव नहीं रह जायेगा। अब ऐसे लोगों से संन्यास की शर्तों को पूरा करने की आशा नहीं की जा सकती। इसलिये संन्यास की मनोवृत्ति

को गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही विकसित करना आवश्यक है। इस समय आप परिवार तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को निभाते हुए स्वयं को संन्यास के लिये तैयार भी कर सकते हैं।

कर्म संन्यासी अंशकालिक संन्यासी होता है। साथ ही वह निष्ठावान् साधक भी होता है। साधना द्वारा उसकी चेतना और बोधक्षमता रूपांतरित होती है। भले ही उसकी पर्याप्त मानसिक तैयारी न हो, परन्तु उसे अपने लिये ठोस अनुशासन और नियम बनाने चाहिये। बहुधा हम अनेक कर्म संन्यासियों को देखते हैं तो हमें लगता है, बेहतर होता वे साधारण गृहस्थ ही रहते, क्योंकि एक गृहस्थ जब स्वयं को गृहस्थी के कार्यों में लगाता है, अपनी इच्छाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करता है तब उसके संचित कर्म धीरे-धीरे समाप्त होने लगते हैं।

जब आपको यह अहसास होने लगे कि इच्छाएँ कभी समाप्त नहीं होतीं और ममता हमारे द्वारा निर्मित की गई है तथा हमारा मन जीवन की घटनाओं की प्रतिक्रियाओं को बढ़ा-चढ़ाकर हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, तो समझिये आपमें संतुलन और आत्मविश्लेषण की तैयारी पूरी हो चुकी है। अब आप स्वयं के लिये एक साधनाक्रम, व्यावहारिक ढंग, घटनाओं को देखने का दृष्टिकोण तथा अपने और दूसरों के बीच सम्बन्धों का दर्शन निर्धारित कर सकते हैं।

अब आप दूसरों के साथ मनमाने ढंग से सम्बन्धित नहीं हो सकते जिससे आपको दु:ख-निराशा हाथ लगे। आपको जीवन की घटनाओं, अन्य लोगों, आस-पास के विषयों में अतिरिक्त सावधानी बरतते हुए चुनाव में सतर्क रहना चाहिये। बेहतर होगा इसके लिये आप तर्क और बुद्धि का इस्तेमाल करें, क्योंकि इनके द्वारा ही आप यह भी तय करेंगे कि घटनाओं तथा व्यक्तियों के प्रति आपकी प्रतिक्रिया तथा अनुभूति कैसी हो।

इसके साथ इन्द्रिय सुखों के संदर्भ में अपनी सीमाओं को समझना एवं जानना भी आवश्यक है। यह सच है कि इन्द्रिय सुख हमारी अनिवार्य आवश्यकता है। हम चाहें भी तो इनसे पलायन नहीं कर सकते। यदि आप इन्द्रियों को उनके विषयों से वंचित रखेंगे तो यह सुख आपके विचारों, कल्पना, स्वप्न, व्यवहार और चिंतन पर छा जायेगा। परन्तु उचित विश्लेषण तथा आत्मावलोकन द्वारा इन्द्रियगत सुख-भोगों को सीमित किया जा सकता है। यह कर्म संन्यास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

संसार में हजारों-हजार कर्म संन्यासी हैं जो उच्चतर अनुभवों की प्राप्ति की दिशा में सक्रिय हैं। परन्तु उनके मन में विविध प्रकार के द्वन्द्व भरे पड़े हैं। जब भी वे क्रियायोग, जप, ध्यान अथवा आत्मचिंतन के लिये बैठते हैं, उनके भीतर विचार और अनुभवों का ज्वार उठता है, जो सत्य के मनोदर्शन को विकृत कर डालता है।

वह कर्म संन्यासी जो यह समझ पाने में असमर्थ है कि इन्द्रिय भोगों को सीमित करना एक आवश्यकता है, जीवन की इस आवश्यकता एवं दर्शन के प्रति लगभग लापरवाह है। वह सोचता है कि चूँकि मैं कर्म संन्यासी हूँ, इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि मैं इन्द्रिय सुखों के पीछे कितना दौड़ता और उनमें कितना लिप्त होता हूँ। वह व्यक्ति घटनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया के मामले में भी कुछ ऐसा ही लापरवाह होता है।

वह ध्यान करने बैठता है, जो आत्मबल का धनी है, जो दृढ़ आत्मविश्वास वाला है, ध्यान की गहराई तक उतर सकता है। राजयोग, भक्तियोग, प्राणायाम तथा कुछ औषध द्रव्यों की सहायता से वह मन की वृत्तियों पर नियंत्रण रखने में समर्थ होता है। गहन ध्यान में वह उस बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ चेतना और आत्मा का विलय होता है। इसके पूर्व उसके चेतन और अवचेतन मन में जो भी कूड़ा-करकट भरा है वह उसके समक्ष भय, बेहोशी और विकृत आध्यात्मिक अनुभवों, भयावह प्रेत, पिशाच या रंग-बिरंगे दृश्यों आदि के रूप में उपस्थित होता है। फलस्वरूप उसकी गति वहीं रुक जाती है। इसलिये उसे वहाँ से वापस लौटना पड़ता है, क्योंकि वह स्वयं को आवश्यक अनुशासन में ढालने में समर्थ नहीं हो सका है, वह मानसिक भय से छुटकारा नहीं पा सका है। इसलिये एक पूर्ण संन्यासी की अपेक्षा कर्म संन्यासी को कहीं अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।

पूर्ण संन्यासी भीतर से साफ-सुथरा होता है। उसके जीवन में ऊपर से थोपे गये विचार और विश्वासों के लिये कोई स्थान ही नहीं होता, क्योंकि पूर्ण संन्यासी के रूप में कुछ समय तक रहने के बाद वह उनसे छुटकारा पा जाता है।

इसके विपरीत कर्म संन्यासी को अपने विकास के स्तर के अनुसार साधना का चुनाव करने में विशेष सावधानी बरतनी होती है, और प्रयत्न भी करना पड़ता है। भले ही आप साठ वर्ष के हो जायें, जड़ बुद्धि और अविकसित हो सकते है। जबकि छः वर्ष का एक बालक भी आपसे कहीं अधिक कुशाग्र

और विकसित हो सकता है। जैसे-जैसे जीवात्मा एक के बाद एक पुनर्जन्म से गुजरती है, उसके मन, बुद्धि और आत्मा उत्तरोतर पवित्र और विकसित होते हैं। उसके मन के विक्षेप और आवरण दूर होते हैं और अंत में उसे सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभव अथवा समाधि की उपलब्धि होती है।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को संन्यास, कर्म संन्यास, कर्मयोग तथा अन्य विविध योगों के बारे में विस्तार से समझाते हैं। कर्मयोग की चर्चा के दौरान वे दो मार्गों के विषय में बताते हैं कि एक मार्ग सम्पूर्ण त्याग का मार्ग है। आप कर्म तथा उसके प्रभावों से सर्वथा मुक्त रहते हैं। दूसरा रास्ता कर्म का है, जिससे आप कर्म द्वारा अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं। इस प्रकार कर्मयोग के रास्ते आप मंजिल पर पहुँचते हैं जहाँ सांख्य योग अथवा संन्यास योग के द्वारा पहुँचा जा सकता है। परन्तु जहाँ तक एक गृहस्थ का सम्बन्ध है, उसके परस्पर सम्बन्धों को समझना जरूरी है ताकि उच्चतर अनुभव के लिये कर्मयोग उसका उपादान बन सके। इसके पश्चात् ही कर्म संन्यास की बारी आती है।

कुछ लोग कहते हैं कि कर्म का ही पूरी तरह त्याग कर देना चाहिए। यह किसी व्यक्ति के लिये कैसे संभव है? कर्मों का सम्बन्ध मात्र स्थूल शरीर से तो नहीं होता। उनका सम्बन्ध हमारे मन, इच्छाओं, वासनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं से होता है। अब यदि आप सचमुच कर्म करना बंद कर दें तो सोचने की प्रक्रिया को किस प्रकार रोकेंगे? मनुष्य के जीवन में एक भी क्षण ऐसा नहीं होता जब वह कर्म नहीं करता हो। दूसरे शब्दों में वह एक क्षण के लिये भी निष्कर्म नहीं होता। भले ही वह हिले-डुले नहीं, मौन रहे, पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह न करे, परन्तु उसका मन हर क्षण कुछ-न-कुछ सोचता रहता है।

अनैच्छिक कार्यों के सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे? जैसे, भोजन का पचना और उसके रसों का आत्मसात् होना, आदि। इसलिये यह भूल जायें कि मनुष्य कर्मों का पूरी तरह त्याग का सकता है। यह संभव ही नहीं है, क्योंकि कोई भी दर्शन इसकी वकालत नहीं करता। न तो कर्म का त्याग कर सकते हैं और न ही कर्म आपको छोड़ सकते हैं। यह एक सचाई है जिसे कोई झुठलाया नहीं जा सकता और यदि यह सचाई है तो कर्म संन्यासी का तात्पर्य अपने दायित्वों तथा कर्मों से पलायन नहीं हो सकता।

गीता के अंतिम अध्याय में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ऐसे कर्मों का त्याग बिलकुल नहीं करना चाहिये जिनका सम्बन्ध दूसरों की भलाई, दया

और आत्मशुद्धि से होता है। कर्म संन्यासी को नकारात्मक कर्मों का, जिनका सम्बन्ध निम्न वासनाओं से होता है, परित्याग करना चाहिए। पूर्ण संन्यास में व्यक्ति त्रिगुणातीत हो जाता है। ये गुण सत्त्व, रज और तम के नाम से जाने जाते हैं। इन्हें प्रकृति के तीन पक्ष भी कह सकते हैं। इनका सम्बन्ध चेतना के विकास की प्रक्रिया से होता है। संन्यासी को इनका अतिक्रमण करना होता है।

गीता में स्पष्ट रूप से लिखा है कि जो सुख में उल्लसित नहीं होता, दु:ख में परेशान नहीं होता, लाभालाभ से प्रभावित नहीं होता, जिस पर निंदा-स्तुति का प्रभाव नहीं होता, आराम अथवा कष्ट जिसे उत्तेजित नहीं करते, ऐसे व्यक्ति पूर्णरूपेण संन्यासी कहलाने के अधिकारी होते हैं। जीवन के घात-प्रतिघात उसका स्पर्श भी नहीं कर पाते, भले ही वह विद्वानों और मनीषियों के साथ रहे अथवा पशुओं के बीच रहे। भले ही वह नीच, घोर पापियों, अपराधियों, कातिलों तथा चरित्रहीन लोगों के बीच रहे, अपनी समदृष्टि के कारण वह इनमें से किसी से भी प्रभावित नहीं हो सकता।

वह द्वन्द्वों के आधार पर व्यवहार नहीं करता, हालाँकि इस रास्ते पर चलना बड़ा कठिन है। यदि आप सर्वोच्च चेतना के धनी, जीवनमुक्त गुरु के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य न पा सकें तथा यदि पूर्वजन्म के सुकर्मों की पूँजी आपके पास न हो और यदि आपको माता-पिता से आध्यात्मिक विरासत न मिली हो तो संन्यास के मार्ग पर चलना बड़ा मुश्किल होगा।

भारत में और विश्व में सभी जगह यह मान्य है कि एक सच्चा संन्यासी इस पृथ्वी पर चलता-फिरता देवता होता है। मैं यहाँ संन्यासी की चर्चा कर रहा हूँ, वह जिस किसी स्थान पर पहुँच जाये वह तीर्थ तुल्य पवित्र हो जाता है। उसके द्वारा कहे शब्द वेद की वाणी होती है। इसलिये निरापद रूप से कहा जा सकता है कि संन्यास व्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। संन्यासी समाज का सबसे बड़ा धन है। इसलिये प्रत्येक कर्म संन्यासी अथवा गृहस्थ संन्यासी को अपने जीवन में इन महान् गुणों को अपनाने का संकल्प लेना चाहिए।

कर्म संन्यास पूर्ण संन्यास का पूर्वाभ्यास है। गृहस्थ जीवन इस तैयारी का क्षेत्र है। ब्रह्मचर्य गृहस्थ जीवन की तैयारी है। ब्रह्मचर्य अवस्था में आप अध्ययन द्वारा बुद्धि और भावनाओं को विकसित करते हैं। गृहस्थ जीवन में प्रवेश के पश्चात् कर्मों द्वारा आप इच्छा, वासना, महत्त्वाकांक्षा, द्वेष, लोभ,

अहम्, अज्ञान आदि को पहचान सकते हैं। ये सबके सब जंगली घास-पात की तरह प्रकट होते हैं और आप कुछ समय बाद यह भली-भाँति जान लेते हैं कि जीवन की इन निम्न प्रवृत्तियों से किस प्रकार निपटा जा सकता है।

सहज प्रवृत्तियाँ मनुष्य का हर जन्म में पीछा करती हैं। इसलिये इनकी काट-छाँट समायोजन तथा उपयोग अच्छी तरह किया जाना चाहिए। गृहस्थ जीवन में ही हर प्रकार के ऊँच-नीच का सामना करते हुए आप यह कार्य कर सकते हैं। इससे आप जीवन को निकट से जान सकेंगे। आप इच्छाओं-वासनाओं के प्रति आँखें बंद करेंगे, उनसे अनभिज्ञ नहीं रहेंगे और जो कुछ आपके आस-पास हो रहा है उसके प्रति असावधान भी नहीं रहेंगे।

इच्छाओं का दमन हर दृष्टि से हानिकारक है। साथ-ही-साथ उनके समक्ष नतमस्तक होना भी उचित नहीं है। उनका विश्लेषण कीजिये, उन्हें समझिये और हो सके तो उन्हें दिशांतरित कीजिये। उन्हें संकल्प के रूप में परिवर्तित कीजिये। जब एक अत्यंत वासनायुक्त व्यक्ति अपनी वासनाओं को उच्च लक्ष्य की ओर मोड़ता है तो वह संकल्पवान् कहलाता है। संकल्प का अर्थ सशक्त चिंतन, रचनात्मक चिंतन होता है, वह जो भी सोचता है, सही उतरता है।

गृहस्थ के रूप में आपके जीवन का हर क्षण आपको अनुभव प्रदान करता है। आप मन की शक्ति और प्रकृति को पहचान सकते हैं और एक समय बाद वह क्षण भी आ पहुँचता है जब आप चेतना के निम्न तल में छलाँग भरते हैं। यही क्षण है जब आपको कर्म संन्यास लेने का निर्णय करना होता है।

परिशिष्ट

कर्म संन्यास योग

(गीता का पाँचवाँ अध्याय)

अनुवाद–स्वामी शिवानन्द सरस्वती, ऋषिकेश

अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण! आप कर्मों के संन्यास की और फिर निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं, इसलिये इन दोनों में एक जो निश्चित रूप से कल्याणकारक हो वह मुझसे कहिये। ॥1॥

श्रीभगवान ने कहा

हे अर्जुन! कर्मों का संन्यास, अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्त्तापन का त्याग और निष्काम कर्मयोग, दोनों ही परम कल्याण करने वाले हैं। परन्तु इन दोनों में भी कर्मों के संन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है। ॥2॥

जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है न किसी की आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार रूपी बंधन से मुक्त हो जाता है। ॥3॥

ऊपर कहे हुए संन्यास और निष्काम कर्मयोग को मूर्ख लोग अलग-अलग फलवाला कहते हैं, न कि प्रबुद्धजन, क्योंकि दोनों में से एक में भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। ॥4॥

ज्ञानयोगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग को फलरूप से एक ही देखता है, वह ही यथार्थ देखता है। ॥5॥

परन्तु, हे अर्जुन! निष्काम कर्मयोग के बिना संन्यास, अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्त्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवद्स्वरूप को मनन करने वाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। ॥6॥

जिसने शरीर को वश में किया हुआ है, ऐसा जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरण वाला एवं सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मस्वरूप परमात्मा में एकीभाव हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। ॥7॥

तत्त्व को जानने वाला सांख्ययोगी पुरुष देखता, सुनता, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ तथा श्वास लेता हुआ भी यह मानता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ। ॥8॥

ऐसा पुरुष बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता और मींचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ निस्संदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। ॥9॥

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल में कमल के पत्ते की तरह पाप से लिपायमान नहीं होता। ॥10॥

इसलिये निष्काम कर्मयोगी ममत्व बुद्धि रहित, केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं। ॥11॥

निष्काम कर्मयोगी कर्म के फल को परमेश्वर को अर्पण करके भगवत्प्राप्ति रूपी शांति को प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है। इसलिये निष्काम कर्मयोग उत्तम है। ॥12॥

अन्तःकरण जिसके वश में है, ऐसा सांख्ययोग का आचरण करने वाला पुरुष तो निस्संदेह न करता हुआ न करवाता हुआ, नौ द्वारों वाले शरीर रूपी घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है। ॥13॥

परमेश्वर भी भूत प्राणियों के न कर्त्तापन को और न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के संयोग को वास्तव में रचता है। प्रकृति ही बर्त्तती है, अर्थात् गुण ही गुणों में बरत रहे हैं। ॥14॥

सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ग्रहण करता है। किन्तु माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है। इससे सब जीव मोहित रहते हैं/हो रहे हैं। ॥15॥

परन्तु जिनका वह अन्त:करण का अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाशता है, अर्थात् उनके स्वरूप का साक्षात्कार कराता है। ॥16॥

जिनकी बुद्धि तथा मन तद्रूप हैं तथा उस सच्चिदानन्द परमात्मा में ही निरन्तर एकीभाव से स्थित हैं, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित हुए अपुनरावृत्ति, अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं। ॥17॥

ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चांडाल में भी समभाव को देखने वाले होते हैं। ॥18॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, अर्थात् वे जीते हुए ही संसार से मुक्त हैं, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है। इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित हैं। ॥19॥

जो पुरुष प्रिय को प्राप्त कर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिर बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दाघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है। ॥20॥

सांसारिक भोगों में आसक्तिरहित अन्त:करण वाला पुरुष अन्त:करण में जो भगवत्ध्यान जनित आनन्द है, उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा रूप योग में एकीभाव से स्थित हुआ अक्षत आनन्द को प्राप्त/अनुभव करता है। ॥21॥

इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले जो भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी निस्संदेह दु:ख के हेतु हैं और आदि-अंत वाले, अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये, हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। ॥22॥

जो पुरुष शरीर के नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने में समर्थ है, वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है। ॥23॥

जो पुरुष निश्चय करके अन्तरात्मा में ही सुख वाला है और आत्मा में ही आरामवाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवाला है, ऐसा वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शांत ब्रह्म को प्राप्त होता है। ॥24॥

जिनके सब पाप नाश हो गये हैं, संशय दूर हो गये हैं, संपूर्ण भूतप्राणियों के हित में जिनकी रति है और जिनका मन भगवान के श्रीचरणों में एकाग्र है, ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शांत परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ॥25॥

काम-क्रोध रहित जीते हुए चित्त वाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषों के लिये सब ओर से शांत परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है। ॥26॥

और हे अर्जुन! बाहर के विषय भोगों का चिंतन करता हुआ उन्हें बाहर ही त्याग कर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित कर तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके। ॥27॥

जिसने इन्द्रियों, मन और बुद्धि को जीत लिया है, ऐसा मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा मुक्त ही है। ॥28॥

और हे अर्जुन! मेरा भक्त मेरे को ही यज्ञ और तपों का भोगने वाला और संपूर्ण लोक के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा संपूर्ण भूत प्राणियों का सुदृढ़, अर्थात् स्वार्थ रहित प्रेमी, ऐसा तत्त्व से जानकर शांति को प्राप्त होता है। ॥29॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगोनाम
पंचमोऽध्यायः॥

याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी संवाद

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से वार्तालाप में कर्म संन्यास की चर्चा करते हुए कहा है–

पति के लिये पति प्रिय नहीं होता
पति प्रिय होता है आत्मा के लिये।
पत्नी के लिये पत्नी प्रिय नहीं होती
वह प्रिय होती है आत्मा के लिये।
पुत्र के लिये पुत्र प्रिय नहीं होता
वह प्रिय होता है आत्मा के लिये।
पशु प्रिय होते पशु के लिये नहीं
वह प्रिय होते हैं आत्मा के लिये।
पुरोहित प्रिय नहीं होता पुरोहित के लिये
वह प्रिय होता है आत्मा के लिये।
संसार प्रिय नहीं होता संसार के लिये
संसार प्रिय होता है आत्मा के लिये।
ईश्वर प्रिय नहीं होता ईश्वर के लिये
हम उसे चाहते हैं आत्मा के लिये।
वेद प्रिय नहीं होते वेद के लिये
वह प्रिय होते हैं आत्मा के लिये।
प्राणी प्रिय नहीं होते प्राणी के लिये
वह प्रिय होते हैं आत्मा के लिये।
सर्वस्य प्रिय नहीं होता सर्वस्य के लिये
वह प्रिय होता है आत्मा के लिये।

प्रिये! सब कुछ आत्मा में देखो, आत्मा से सुनो, उस पर चिन्तन करो और उसे जानो।

और जब उसे देख लो, सुन लो, उस पर चिन्तन कर लो और उसे जान लो तो सब कुछ जान लिया जाता है।

(भारद्वाज उपनिषद् 4: 1–6)





स्वामी सत्यानन्द सरस्वती का जन्म उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा ग्राम (उत्तरांचल) में सन् 1923 की मार्गशीर्ष पूर्णिमा को हुआ। उनमें बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिक जीवन के प्रति झुकाव था और विलक्षण प्रतिभाएँ परिलक्षित होती थीं। 18 वर्ष की अवस्था में उन्होंने गुरु की खोज में घर छोड़ दिया। 1943 में उन्हें ऋषिकेश में अपने गुरु स्वामी शिवानन्द के दर्शन हुए। 12 सितम्बर 1947 को गुरु ने उन्हें परमहंस संन्यास में दीक्षित किया। वे 12 वर्ष गुरु की सेवा में रहे और आध्यात्मिक जीवन के हर आयाम में दक्षता प्राप्त की। तत्पश्चात् उन्होंने परिव्राजक संन्यासी के रूप में आठ वर्षों तक सम्पूर्ण भारत, अफगानिस्तान, बर्मा, नेपाल एवं श्रीलंका का भ्रमण किया। इस अवधि का उपयोग उन्होंने यौगिक तकनीकों को प्रतिपादित एवं परिष्कृत करने में किया, ताकि मानवता को कष्टों से त्राण मिल सके।

योग की प्राचीन पद्धति को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव होने पर उन्होंने 1956 में अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल एवं 1963 में बिहार योग विद्यालय की स्थापना की। अगले 20 वर्षों तक विश्व भ्रमण करते हुए उन्होंने योग की पताका विश्व के कोने-कोने में फहरा दी और बिहार योग विद्यालय को योग की एक अग्रगण्य संस्था के रूप में ख्याति दिलायी। उन्होंने योग, तंत्र एवं आध्यात्मिक जीवन पर अस्सी से अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

'सत्यानन्द योग' एक ऐसी परम्परा बन गयी, जिसमें शास्त्रीय और अनुभवात्मक ज्ञान तथा आधुनिक दृष्टिकोण का सुन्दर समन्वय है। ग्राम्य-विकास की भावना से 1984 में उन्होंने दातव्य संस्था 'शिवानन्द मठ' की एवं योग पर वैज्ञानिक शोध की दृष्टि से 'योग शोध संस्थान' की स्थापना की। सन् 1988 में उपलब्धियों के शिखर पर पहुँचकर उन्होंने सबकुछ त्याग दिया और क्षेत्र संन्यास लेकर परमहंस संन्यासी की जीवन पद्धति अपना ली। सन् 1989 में उन्हें रिखिया आने का दैवी आदेश हुआ, यहाँ उन्होंने एकान्तवास करते हुए उच्च वैदिक साधनाएँ कीं। सन् 1991 में अपने पड़ोसियों को सुविधाएँ उपलब्ध कराने का आदेश मिलने पर उन्होंने आश्रम को उस क्षेत्र के अभावग्रस्त ग्रामीणों की सहायता करने की अनुमति दी। सन् 1995 में उन्होंने वैश्विक सुख, शान्ति एवं समृद्धि का संकल्प लेकर बारह वर्षीय राजसूय यज्ञ आरम्भ किया और सन् 2007 में 'सेवा, प्रेम और दान' को अपनी मुख्य गतिविधि बनाने का आदेश देकर रिखियापीठ की स्थापना की घोषणा की।

स्वामी सत्यानन्द 5 दिसम्बर 2009 की मध्यरात्रि में अपने शिष्यों की उपस्थिति में महासमाधि में लीन हो गये।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

कर्म संन्यास ऐसे लोगों के लिए एक आदर्श जीवन शैली है जो समाज में रहते हुए अपनी उच्च चेतना का विकास करना चाहते हैं। कर्म संन्यास का मुख्य ध्येय है, साक्षी-भाव से जीवन की सभी गतिविधियों में भाग लेना और *'नाहं कर्त्ता हरि कर्त्ता ही केवलम्'* की भावना का विकास करना। कर्म संन्यास हमारी आसक्तियों, इच्छाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं को सही दिशा देकर, आध्यात्मिक चेतना के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

जो साधक अपने पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए, आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक उत्तम मार्गदर्शिका है। इस पुस्तक में गुरु-शिष्य सम्बन्ध, पारिवारिक जीवन एवं सम्बन्ध, कर्म, आत्म-सम्मानपूर्ण जीवनशैली आदि विषयों पर चर्चा करते हुए अपने दैनिक अनुभवों के आधार पर आध्यात्मिकता के विकास की प्रक्रिया समझायी गयी है।



978-81-85787-79-4

ISBN